केवल स्मृति ग्रन्थ माला : पुष्प ४९वां

सत्य से जुड़ जाता वो जोगी

प्रवचनकार
विद्वद्वरेण्य महामनस्वी अध्यात्मयोगी
संघप्रमुख श्री चन्दन मुनिजी

संकलयित्री
साध्वी कुसुमरेखा

संपादक
डॉ० छगनलाल शास्त्री

सत्य से जुड़ जाता वो जोगी

प्रकाशन सौजन्य

पूज्यनीया माता जी माड़ी देवी सुराणा की स्मृति में
श्री गौतमचन्द सुराणा चार्टर्ड एकाउंटेट
२५७, न्यू क्लाथ मार्केट, अहमदाबाद-३८० ००२

☐ **प्रथमावतरण**

वि०सं० २०४४ पौष
दिसम्बर १९८७

☐ **मुद्रण व्यवस्था**

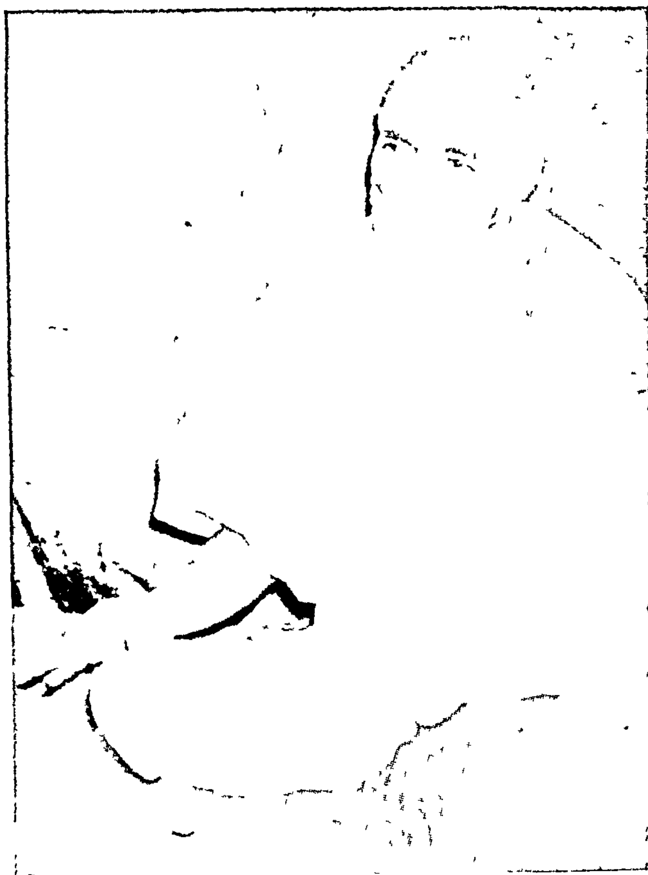
दिवाकर प्रकाशन
A, ७ अवागढ हाउस,
एम. जी. रोड,
आगरा-२ के लिए
श्रुति प्रिन्टर्स, आगरा

प्राप्ति स्थान

☐ **जैन संगम—**

☐ **श्री अमरचन्द बोरड़**
E, १. ब्लाक, बोरड़ भवन
श्रीगंगानगर (राज०)

☐ **मूल्य :** ७०
लागत मात्र [illegible] रुपया



अध्यात्मयोगी संघप्रमुख
मुनि श्री चन्दनमल जी

स्वत:

एक सुभाषित में कहा गया है—

अघटितघटितं घटयति,
सुघटितघटितानि दुर्घटी कुरुते।
विधिरेव तानि घटयति,
यानि पुमान्नैव चिन्तयति॥

यह विधि—भाग्य अघटित घटना को घटित कर देता है और सुघटित घटनाओं को दुर्घट बना देता है। जिसका व्यक्ति को कभी चिन्तन तक नहीं होता है, कभी-कभी ऐसा भी घटित हो जाता है।

जब हम सं० २०४२ के वर्षा में जयपुर में स्थित थे, एक बार सरदार शहर निवासी श्री हनुमान प्रसाद जी भोजक, जो गुरुजी के नाम से सम्बोधित किये जाते हैं, दर्शनार्थ हमारे पास आ गये। भोजक जी ज्योतिर्विद तो हैं ही, साथ-साथ साधनाशील होने के कारण कुछ अदृष्ट द्रष्टा भी है। वार्ता के प्रसंग में अचानक उन्होंने कहा—मुनिश्री जी! आपके द्वारा कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थो का निर्माण होगा, ऐसा योग बनता है। वे ग्रन्थ विशिष्ट होंगे, जनभोग्य होंगे तथा उनके द्वारा साहित्य क्षेत्र मे आप का नाम समुज्ज्वल होगा। उनका कथन हमने सुन लिया पर यह असम्भव सा प्रतीत हुआ। कारण, अन्यान्य प्रवचन-अध्यापन, वार्तालाप आदि कार्यों की व्यस्तता मे ग्रन्थ निर्माण का दुरूह कार्य कैसे सम्भव था? पर विधिरेखा बलवती होती है। जयपुर चातुर्मास के बाद हम सब चुरू आए। मुनि रूपचन्द जी तथा संघ प्रवर्तनी आदि संत-सतियों का पृथक विहार हरियाणे की ओर हुआ और हमारा विहार रतनगढ की ओर। रास्ते मे ही हमें अचानक हर्निया की पीड़ा उत्पन्न हुई। आखिर महावीर जयन्ती के तुरन्त बाद लाडनूं में ऑपरेशन हुआ। तथा अनिवार्यतया तीन महीनों का विश्राम हमे लेना पडा। कुछ आराम होने पर चिन्तन उभरा कि अधिक घूमना-फिरना तो बन्द है, इस समय का सदुपयोग कैसे हो? एक स्थान पर बैठे-बैठे भी कुछ करवाया जा सकता है।

साध्वी उषाकुमारी, कुसुमरेखा तथा प्रियदर्शना उस समय हमारे साथ थीं। उनसे हमने कहा—हम शैयाधीन हैं, लेखनादि का परिश्रम शक्य नहीं है। पर एक काम हो सकता है, हम धीमे-धीमे बोलते जायें और तुम तत्परता से उसे लिपिबद्ध कर लो तो तुम लोगों के लिए व्याख्यानादि की उपयोगी सामग्री संकलित हो जाएगी।

विनयपूर्वक साध्वीत्रय ने कहा—गुरुदेव ! ऐसा सुअवसर हमें मिले, फिर क्या चाहिए ? यह तो परम सौभाग्य की बात है। आप जिसे आज्ञा फरमायें, शिरोधार्य होगी। आखिर हमने साध्वी कुसुमरेखा को इस कार्य के लिए निर्दिष्ट किया जो गृहस्थाश्रम से बी० ए० परीक्षोत्तीर्ण थी तथा जिसकी प्रखर प्रतिभा के कारण विद्यालय में भी सुयोग्य छात्राओं में गणना थी।

अब प्रश्न था कि संकलन किस विषय से प्रारम्भ किया जाय। शुरू में कुछ कथाएँ इस क्रम से लिपिबद्ध की गयीं, इसके पश्चात् यह निर्णय किया गया कि प्रवचनों का संकलन करवाया जाए। गीतिकाओं के साथ प्रवचन की हमारी स्वतन्त्र विधा रही है। बचपन से ही हमारी गाने में रुचि थी। इसी कारण प्रायः नव-नव रागिनियों में भजन निर्माण हेतु हमारी लेखनी चली। राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती, पंजाबी, उर्दू तथा संस्कृत आदि भाषाओं को हमने माध्यम बनाया। प्रवचनों में भी उन संगीतमय पदों को गा-गाकर उनकी व्याख्या प्रस्तुत करने लगे। बस, हमारी प्रवचन शैली इसी रूप में विकास पाती गई। इन संगीतानुसारी प्रवचनों का संकलन करवाया जाय, निर्णीत हुआ। साथ ही ऐसा चिन्तन रहा कि पदों की व्याख्याओं में भी तात्त्विक दृष्टि के साथ स्वतन्त्र व्यापकता बरती जाय। जैनागमों के उद्धरणों व उदाहरणों के साथ गीता-भागवत्-उपनिषद्-पुराण-त्रिपिटक तथा सन्त कवि कबीर-मीरा-तुलसी-सूर-रहीम आदि के पदों का भी मुक्त मन से उपयोग हो।

कार्य प्रारम्भ हुआ। हम बोलते गये, उपपात में साध्वी कुसुमरेखा मनोयोगपूर्वक मेरे शब्दों को लिपिबद्ध करने लगीं। लेखनी की गति द्रुत थी अतः मुझे एक वाक्य को बार-बार बोलने का विशेष श्रम उठाना नहीं पड़ा। एक-एक बैठक में अनेकों पृष्ठ पूर्णता पाने लगे। विषय रुचिकर होने से दायक और संग्राहक दोनों में सरसता बढ़ने लगी। बड़े-बड़े निबन्ध तैयार होने लगे। उस आशुलिपि का फिर सुन्दर अक्षरों में प्रेस कॉपी की दृष्टि से

पुनर्लेखन आदि का सारा भार सकलनकर्त्री पर ही था अतः काफी समय और श्रम उसे देना पड़ा, पर उत्कृष्ट रुचि व भावना के साथ उसने यह कार्य किया, इसका मुझे गौरव है।

इस कार्य के सम्पादन में साध्वी उषाकुमारी तथा प्रियदर्शना के असाधारण सहयोग को भी गौण नहीं किया जा सकता। इन दोनों साध्वियों ने अन्यान्य दैनन्दिन कार्यों को अपने पर ओढकर साध्वी कुसुम-रेखा को खुलकर कार्य करने का अवसर प्रदान किया, जिससे इतना बड़ा लेखन-सम्पादन का काम थोड़े समय में ही सम्पन्नता पा सका। इधर चाड-वास चातुर्मास का एकान्त स्थल भी इस कार्य में विशेष सहयोगी बना। ऐसे बहुआयामी सहयोग से यह कार्य आगे बढा। अभी भी यह क्रम चालू है। तत्त्व विश्लेषक होने के कारण यह श्रम विशेषज्ञों के लिए उपयोगी होगा त्योंही प्राचीन दृष्टांत-उदाहरण-कथाओं-संस्मरणों आदि का सम्मि-श्रण होने से अल्पज्ञों के लिए भी विशेष रुचिकर होगा, ऐसी धारणा है। अस्तु, इन संगीत संपृक्त प्रवचनों का सुज्ञजन ज्यादा से ज्यादा उपयोग करे इसी में प्रदाता के श्रम की सार्थकता है।

—सघप्रमुख मुनि चन्दन

संवत् २०४४ ज्येष्ठ शुक्ला ७
नाभा (पंजाव)



प्रस्तुति

अध्यात्म यात्रा का पथ बहुत दुर्गम है। उत्तुंग शिखरों के आकर्षण में बँधा पथिक जरा-सा चूक जाये तो अनन्त काल के लिये फिर गहरी घाटियों में खो जाता है। थोड़ी-सी क्षिप्रता उसे पगडन्डियों के विकट भँवर-जाल में फँसा देती है, जहाँ से निकल पाना अशक्य नहीं तो दुःशक्य अवश्य होता है। इसलिए अन्तर्जगत के यायावर को एक ऐसे पथदर्शक की आवश्यकता होती है जो उसे ठेठ मंजिल तक पहुँचाने वाले मार्गो से परिचित करा सके। जैसे माँ शिशु की अँगुली पकड़कर उसे ऊबड़-खावड़ रास्ते पार करवाती है, उसी प्रकार अनुभवी पथदर्शक पथिक को जीवन के नाजुक मोड़ और घुमावों से पार कराता है। उसे पग-पग पर दिग्भ्रांत होने से बचाता है, और पांव फिसल जाने पर सहारा देकर सुस्थिर भी बनाता है।

उपनिषद्कारों ने एक सुन्दर श्लोक दिया है—

'गु' शब्दस्त्वन्धकारः स्यात्, 'रु' शब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकार-निरोधित्वाद्, गुरुरित्यभिधीयते ॥

गुरु इसीलिये गुरु होते है कि वे शिष्य के लिये अखण्ड ज्योति का द्वार खोल देते है। उसके अन्तर् के अणु-अणु को परम प्रकाश से नहला देते हैं। जो स्वयं अमृत कोष के निकट पहुँच चुके होते है, उनका अभीप्सित ही होता है कि अपने निकट बसने वालों को अमृत से सराबोर कर दें। जिनके अन्तस् में शाश्वत लौ जल जाये, उनका सारा प्रयत्न यह होता है कि उनके परिपार्श्व की प्रत्येक आत्मा दीपित हो उठे, आलोकित हो उठे।

सन्त जन इस प्रकार निष्कारण करुणा के सागर होते हैं। इसी महान परम्परा के नक्षत्र मण्डल में एक देदीप्यमान सितारे है अध्यात्म योगी, सरस्वती के वरद पुत्र, सघ प्रमुख मुनि श्री ! आपकी करुणापूरित

प्रेरणाओं से अनेक भव्य आत्माओं को प्रकाश और शाति प्राप्त हुई है। आपके दैनिक प्रवचनों में अनुभूतिपरक गहन तात्त्विकता के साथ-साथ एक मनोहारी आकर्षण होता है—सरस स्वर लहरी से तरगित भजनों का। भजन-आधृत प्रवचन आपकी अपनी विशिष्ट शैली है।

एक दिन प्रसगोपात्त चर्चा चली और परमाराध्य संघ प्रमुख मुनि श्री ने फरमाया कि कतिपय ऐसी कथाएँ और घटना प्रसग हैं जो हमने बुजुर्ग सन्तों से सुने थे। अब प्रवचादि में उनका विशेष उपयोग नही होता, परन्तु वे कथानक बड़े ही रोचक, सरस और मार्मिक है। तुम इस पीढ़ी वाले साधु-साध्वियों को तो उनकी जानकारी ही नही है। अगर उनका संकलन हो जाये तो "कालूगणी की उद्बोधक कथाएँ" की तरह उपयोगी सामग्री तैयार हो सकती है।

इसी आशय से दूसरे ही दिन से मैंने आपके श्रीचरणों में बैठकर कुछ कथा प्रसंगो का सकलन प्रारम्भ कर दिया। बिना किसी विशाल उद्देश्य को सामने रखे सहज भाव से कार्य प्रारम्भ हुआ। मुझे स्वयं को भी इसमें रस आने लगा। मैं आपके पास से जो कुछ लिखकर लाती, उसे वापस स्वच्छ लिपि में लिपिवद्ध कर लेती। इस प्रकार करीब एक दर्जन कथाओ का संकलन हो गया।

अचानक श्रद्धेय गुरुदेव को हर्निया की तकलीफ हुई, जिसके लिये शल्य क्रिया आवश्यक हो गई। एतदर्थ आपका करीब तीन-सवा तीन माह लाडनूँ विराजना हुआ। सफल ऑपरेशन के बाद चिकित्सकों के परामर्शानुसार आपके लिये घूमना-फिरना प्रायः बन्द था। ग्रीष्म कालीन सुदीर्घ दोपहरी का उपयोग हम वाल साध्वियों के अध्यापन-वाचन में ही होता था। उस समय यह चिन्तन सामने आया कि आपकी सगीतमय प्रवचन शैली अनूठी है। साथ ही आपश्री की यह शैली श्रोताओं में विशेष लोकप्रिय है। उन भजनों में कई एक ऐसे प्रसंग भी ग्रथित है जो सिर्फ आपके ही ध्यान में है। अगर उन प्रवचनों को उसी रूप में, जिस रूप में आप फरमाते है, लिपिबद्ध कर लिया जाय और ग्रन्थाकार में प्रस्तुत किया जाय तो व्याख्याताओं और स्वाध्याय प्रेमियों के लिए एक मूल्यवान ग्रन्थ बन सकता है।

इस परामर्श को आकार देने के लिए कथा प्रसंगों का लेखन स्थगित कर प्रवचन-संकलन का कार्य प्रारम्भ हुआ। इसमें भी विधि पूर्ववत् ही

रखी गई। मनीषी प्रवर संघ प्रमुख मुनिश्री जी फरमाते और मैं लिपि-बद्ध करती। इस क्रम में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि कभी किसी ग्रन्थ का सहारा इसमें नहीं लिया गया। पूज्य गुरुदेव की वाग्गंगा अबाध गति से प्रवहमान रहती, एक बार भी गत्यवरोध नहीं आया। सहज भाव से इस प्रकार पूरे निबन्ध, श्लोक, पद्य, घटनाक्रम और संस्मरणों सहित मुखोच्चारित हुए मानो मुखस्थ किए हुए किसी पाठ का परावर्तन हो रहा हो। इसी कारण वाक्य-विन्यास और शब्द संयोजन में सहज अकृत्रिमता आ पाई है। संक्षेप में कहूँ तो सारी सामग्री प्रवचनकार की अपनी है। जो अपनी नहीं, वह भी उनके अन्तर्तम में इतनी घुल-मिल गई है कि कहीं पृथक प्रतीत नहीं होती। इसके साथ ही इतने प्रवचनों में कभी ऐसा प्रसंग नहीं आया, कि किसी कथा प्रसंग अथवा श्लोकादि की पुनरुक्ति हुई हो, जहाँ ऐसा हुआ है, वहाँ भी वे तथ्य जान-बूझकर परमोपयोगिता की दृष्टि से पुनरुक्त हुए हैं। वैसे साहित्यिक दृष्टिकोण से देखें तो हर स्थान पर पुनरुक्ति दोष भी नहीं होता है। समयोचितता और प्रसंगोचितता उसे गुण के रूप में परिवर्तित कर देती है। वाचक मुख्य आचार्य उमास्वाति ने प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रशमरति प्रकरण में बहुत सुन्दर एवं सटीक तर्कणा प्रस्तुत की है—

विष को शान्त करने के लिए जिस प्रकार मन्त्रवादी पुनः पुनः मन्त्रों का उच्चारण करता है, उसी प्रकार राग-द्वेष-मोह-द्रोह के भीषण ज्वर की उपशान्ति हेतु करुणामूर्ति सन्त प्रवर ने पुनः पुनः अपनी पुण्य-सलिला गिरा से हमें उद्बोधित किया है।[1]

इसी प्रकार इस ग्रन्थ में आगमिक गाथाओं का जहाँ-जहाँ पुनरावर्तन हुआ है, वहाँ केवल विषय की सुस्पष्टता का ही लक्ष्य रहा है।

इस संकलन में जो गीत सम्मिलित किए गए हैं, उनमें कुछ बहुत पुराने हैं और कुछ सर्वथा नवीन। यों तो महामनस्वी संघ प्रमुख मुनिश्री

---

१. ये तीर्थंकृत्प्रणीता, भावास्तदनन्तरैश्च परिकथिताः।
तेषां बहुशोऽप्यनुकीर्तनं भवति पुष्टिकरमेव॥
यद्वद्विषघातार्थं मंत्रपदे न पुनरुक्तदोषोऽस्ति।
तद्वद्रागविषघ्नं पुनरुक्तमदुष्टमर्थपदम्॥
—प्र. प्र. १२. १३

का प्रत्येक भजन हृदयस्पर्शी एवं रससिक्त है, परन्तु प्रस्तुत सकलन में कतिपय उन्ही भजनों का प्रस्तुतीकरण हो पाया है, जिनका आप बहुलता से प्रयोग करवाते हैं।

इसमें संवत् २००१ में निर्मित भजन भी हैं तो (आशाओं का हुआ खातमा""सवत् २००१) संवत् २०४३ (मिला जीवन धन्य होने के लिए) में रचित भजन भी प्रयुक्त हुए हैं। यह इस बात का प्रतीक है कि जो अमर रचनाएँ होती है, उनकी मूल्यवत्ता कभी कम नही होती। काल का अविरल प्रवाह भी उन्हे धूमिल नही बना सकता। जो रचनाएँ जन साधारण के मनों में रच-बस जाती हैं, अधरों पर चढ जाती है, उनकी सरसता त्रिकालवर्तिनी हो जाती है। पूज्य गुरुदेव की कतिपय रचनाएँ लोकमानस में इतनी गहराई तक पैठ गई है कि उन्हें एक बार सुनने वाला श्रोता जीवन पर्यन्त विस्मृत नही कर पाता। चवालीस वर्ष पूर्व रचित गीत "आशाओं का हुआ खातमा ''" की लोकप्रियता इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है। इसका मूल कारण यह है कि इन गीतों में केवल शुष्क शब्द सयोजन नही, गीतकार का हृदय बोलता है। वास्तव में वही अमर काव्य होता है जो कवि के कथ्य को यथारूप पाठक और श्रोता के हृदय में उतार देता है।

इन गीतों में भाषा, राग-रागिनी तथा तत्त्व प्रतिपादन सम्बन्धी तारतम्य का कारण इनके रचना काल का दीर्घ अन्तराल है। कवि की प्रलम्ब काव्य यात्रा में अनेक पड़ाव आये है, अनेक घुमाव आये हैं, इनकी स्पष्ट छाप गीतों में परिलक्षित होती है। कुछ गीत उपदेशपूर्ण है तो कुछ वैराग्यपूर्ण ! कुछ प्रभु के प्रति पूर्ण समर्पण भाव से ओत-प्रोत है तो कुछ साधना-पथ का सम्पूर्ण दिग्दर्शन करवाने वाले।

आजीवन यात्रा जैन मुनि का जीवन व्रत होता है। देश-देश का परिव्रजन, अनेक वर्ग के लोगो का सम्पर्क, अनेक साधकों के साथ सम्मेलन तथा विभिन्न ग्रन्थों का परिशीलन उनकी साहित्य साधना को प्रभावित करता है। चूकि गीतकार कवि होने के साथ-साथ आध्यात्मिक भावभूमि में रमण करने वाले मुनि भी है। आपकी पद-यात्रा और काव्य-यात्रा समानान्तर चलती रही है। इसलिये भजनों पर सम-सामयिक स्थितियों का प्रभाव स्वाभाविक है। गीतों में गुजराती, पंजाबी, हरियाणवी, अग्रेजी, संस्कृत व राजस्थानी शब्दों का खुला प्रयोग इसी का परिचायक है। रचनाकाल में गीतकार जिन क्षेत्रों में विहरमान थे, उन क्षेत्रों के प्रचलित

ऽना प्रसंग भी सहज ही निबद्ध हो गये हैं जो भजनों की सरसता को नगुणित करने के साथ श्रोताओं को अन्य प्रान्तों की भाषा, व्यवहार, ति-रिवाजों आदि की अवगति देने में सहायक सिद्ध हुए हैं।

जहाँ कोई सुवस्तु प्राप्त हो, उसे सम्मानपूर्वक ग्रहण करने की तकार की परिष्कृत मनोवृत्ति ने गीतों को बहुजन भोग्य और प्रेरणा-ीत बना दिया हैं।

यह संकलन श्रद्धेय संघ प्रमुख मुनि श्री के गहन श्रम का सुफल । अन्यान्य जिम्मेवारियाँ, विविध कार्यक्रम, विहारचर्या और स्वास्थ्य म्बन्धी असुविधा के बावजूद प्रतिदिन मुझे २—२½ घंटे का समय प्रदान र मेरे ऊपर आपने असीम अनुग्रह किया है। फिर मेरी अल्पज्ञता और परिष्कृत कार्य प्रणाली ने आपके श्रम को और बढ़ाया है। आपके शुभा-ीर्वाद से ही मैं इस गुरुतर कार्य को करने का आत्म-विश्वास सजो सकी । आपके वात्सल्यपूर्ण दिशा-दर्शन से मुझे निष्ठापूर्वक कार्य करने की रणा प्राप्त हुई है। साथ ही साथ संयम साधना के लिये भी प्रसंगवश शेष प्रेरणा सूत्र मिले हैं। इस अनन्य कृपा के लिये शाब्दिक कृतज्ञता ापित करना उस महान् सम्बल का अवमूल्यन होगा।

साथ ही सम्माननीया साध्वी उषा कुमारी जी एवं विनीता प्रिय-र्शना जी का सामयिक सहयोग विशेष महत्त्वपूर्ण रहा है। साध्वी द्वय ने झे सभी अन्य जिम्मेवारियों से मुक्त रखकर समय की सुविधा तो प्रदान ी ही है, समय-समय पर मुझे मानसिक रूप से उत्साहित भी किया है। विष्य में भी आपका सुखद सहयोग काम्य रहेगा।

इस संकलन का सम्पादन डा. छगनलाल शास्त्री ने किया है। भाषा रिष्कार आदि से सम्बन्धित उनके मूल्यवान् सुझाव निश्चय ही मेरे लिये पयोगी सिद्ध होंगे।

मेरा परम रुचि का विषय होने के बावजूद श्रद्धास्पद गुरुदेव के ावों को मैं प्रवचन माला के रूप में कहाँ तक सुबद्ध करने में सफल हो ाई हूँ, इसका अंकन तो सुधी पाठक ही करेंगे।

अस्तु! ये प्रवचन जन-जन के जीवन परिष्कार में सहयोगी बने, सी शुभाशंसा के साथ—

२५ जून, १९८७ —साध्वी कुसुमरेखा

मण्डी गोविन्दगढ

सम्पादकीय

तैत्तिरीयोपनिषद् में शिक्षावल्ली के अन्तर्गत ग्यारहवे अनुवाक् में एक बडी सुन्दर पंक्ति है। कहा गया है—"स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ।" इस पक्ति द्वारा उपनिषद्कार ने मेधावी मानव को यह सकेत देने का प्रयास किया है कि वह कभी स्वाध्याय तथा प्रवचन में प्रमाद न करे। स्वाध्याय से अधीत ज्ञान परिष्कृत व परिमार्जित होता जाता है। पठन, अध्ययन के अतिरिक्त स्वाध्याय का एक और अर्थ अपने आप को पढना, जानना, समझना, अनुभूत करना भी है। ऐसा करने का आशय अपनी जीवनस्थिति, जीवनचर्या का आकलन करने से है। यह आकलन जीवन में सत्पथगामिता का संचार करता है।

इस पक्ति के अन्तर्गत प्रवचन में प्रमाद न करने का जो इगित किया गया है, उसमें निश्चय ही वड़ा रहस्य है। प्रवचन शब्द प्र उपसर्ग तथा वचन के योग से बना है। वचन का अर्थ कथन, आख्यान या वाक्-प्रयोग है। प्र उपसर्ग प्रकर्ष के अर्थ में व्यवहृत होता है। वचन में प्रकर्ष कब आता है, वह प्रकृष्ट कब बनता है, यह बहुत गहरी बात है। शाब्दिक सर्जन, आनुप्रासिक सुन्दरता वचन का यथार्थ प्रकर्ष नही है। यह तो केवल उसके वहिर्-दर्शन की सुषमा है। वचन का यथार्थ व आन्तरिक प्रकर्ष तब सधता है, जब वह अपने पीछे साधना एवं अनुभूति का सत्य लिए होता है। यही कारण है कि वे आख्यान, भाषण या विवेचन प्रवचन नही कहे जाते, जो केवल परम्परा-पोषण, व्यवहार-निर्वाह या स्ववैशिष्ट्य-प्रकाशन के लिए होते है। उन साधकों, सन्तों, मनीषियों के वचन प्रवचन कहे जाते है, जिनकी वाणी का एक-एक अक्षर तपश्चरण एव अध्यात्म के शाण पर तराशा हुआ होता है। वैसे वचन सत्य की उद्दीप्त द्युति लिये होते हैं।

उपनिषद् के ऋषि ने प्रवचन में प्रमाद न करने का जो कथन किया है, उसका तात्पर्य यह है कि वे सत्पुरुष, जिन्होंने संयम, शील एवं सत्य मूलक साधना द्वारा आत्म-समार्जन किया है, जीवन का परिष्कार किया है, यह वांछित है, वे अपनी उपलब्धियों से जन-जन को लाभान्वित करें। यह सर्वविदित है कि उत्तम पुरुषों के जीवन के दो लक्ष्य होते हैं, वे अपने आपका उत्थान करें तथा अपने अनुभूति-प्रवण ज्ञान द्वारा जन-समुदाय को उत्थान की दिशा में अग्रसर होने हेतु प्रेरित करें। यदि कोई साधना-निष्णात पुरुष केवल अपने ही कल्याण में अपने को समेट रखे तो कोई त्रुटि जैसी बात तो नहीं है, किन्तु उसकी अनुभूति-प्रसूत उपलब्धियों का लाभ जो जन-जन तक पहुँचना चाहिए था, पहुँच नहीं पाता। अतएव यह अभीप्सित है कि सन्त जन अपने प्रवचनों द्वारा सदैव जन-जन को लाभान्वित करें। सन्तों की वाणी में प्रेरणा की अजस्र शक्ति होती है। योग दर्शन के प्रणेता महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र के द्वितीय पाद में जो विभूतियों की चर्चा की है, वह उस वैशिष्ट्य का द्योतक है जो साधना द्वारा जीवन में प्रस्फुटित होता है।

निःसन्देह सन्तों के प्रवचनों में एक असाधारण प्रभाववत्ता होती है। वह अनेक-गुणित हो जाती है, यदि उसमें संगीत का समन्वय हो जाय। संगीत उत्कृष्टतम भाव सौन्दर्य को प्राकट्य देता है। "सद्यः प्रीतिकरो रागः के अनुसार संगीत श्रोता के मन में तत्काल प्रीति उत्पन्न करता है, अतएव उसका प्रभाव अक्षुण्ण होता है। संगीत की निष्पत्ति जीवन की मनोगत भाव-तरंगों तथा अवयवगत स्नायु-तरंगों की अनुकृति पर आधृत है। यही कारण है कि संगीत की स्वर-लहरी आन्तरिक स्पन्दनमय स्फूर्ति का संचार करती है। उससे तन्मयता सधती है। आचार्य भरत ने संगीत को जीवन के परम सौन्दर्यमय विहार का अनन्य साधन बतलाया। संगीत की पृष्ठभूमि नाद है। संगीत-साधकों द्वारा किया गया नाद-ब्रह्म शब्द का प्रयोग संगीत प्रसूत उस परम उच्च आध्यात्मिक उत्कर्षमयी स्थिति का द्योतक है, जहाँ सघनतम तन्मयता के परिणामस्वरूप व्यष्टि का समष्टि से तादात्म्य सध जाता है।

भारतीय संस्कृति में संगीत की गरिमा निश्चय ही अप्रतिम रही है। वाग्देवी, माँ सरस्वती के कर-कमलों में सुशोभित वीणा स्पष्ट रूप में यह अभिव्यंजना देती है कि वाक् और संगीत यदि सम्मिलित रूप में प्रस्तुत होते हैं तो एक अद्भुत सुषमामय भाव-जगत् की सृष्टि निष्पन्न

होती है। भक्ति-दर्शन के प्रणेता देवर्षि नारद भारतीय वाङ्मय में माधुर्य के भव्य प्रतीक के रूप में समादृत रहे है, जिनकी सतत सहचरी वीणा, उनके संगीत-प्रवण व्यक्तित्व की परिचायिका है। आगे चलकर भक्ति-रस की निर्गुण और सगुण दोनों धाराओं में सन्तों और भक्तों ने अपनी अनुभूतियों को गीतों, भजनों और शब्दों के रूप में प्रकट किया, जो अद्यावधि अजर-अमर हैं।

श्रमण संस्कृति में भी अन्तरात्मा, परमात्मा की उपासना, आराधना में निर्वेद-रसाप्लावित गीतों का कम महत्व नही रहा है। आनन्दघन जैसे महान् योगी के गीतिमय आध्यात्मिक पद आज भी सगाताओं और पाठको को भाव-विभोर कर देते है। बौद्ध परम्परा में भी जब सहजयान या सिद्धयान का उद्भव और विकास हुआ तो अनुभूति-प्रधान साधना के धनी बौद्ध सिद्धों ने चर्या-गीतों के रूप में अपनी अनुभूतियो को शब्दबद्ध किया।

जीवन के कण-कण के साथ सगीत जुड़ा है। कोई शास्त्रीय ज्ञान रखे या न रखे, अभ्यासी हो या न हो किन्तु वह अपनी धुन में गुनगुनाए विना नही रह सकता। खेत जोतने वाला किसान बैलों को हाँकता है, साथ ही साथ कुछ आलापता जाता है। ये संगीतालाप उसके श्रम-कणों को सुधा-कणों में वदल देते हैं। चरवाहा भी गाता है, मजदूर भी गाता है। सरोवर पर जल लाने जाती और आती पनिहारियाँ भी गाती हैं। वस्तुतः यह जगत् लयात्मक है, यहाँ कौन रह पाता है गाए विना ?

नव तेरापंथ के सघप्रमुख श्री चन्दन मुनि भारतीय संत-परम्परा के एक मनीषी साधक हैं। अध्यात्म और साधना उनकी रग-रग मे परिव्याप्त है। उनके अनुभूति के अगाध सागर की उत्ताल तरंगे जब भी छलछलाती है, सहज रूप में सगीत की स्वर-लहरियों में निखर पडती है। उनकी वाणी में प्रभावकता है। विद्या, योग, सयम और साधना के चतुष्पथ पर विहरणशील जीवन की अनुभूतियाँ सचमुच अपने आप में निराली होती है। जब भी वे वोलते है, भाव मानो साक्षात् मूर्तिमत्ता लिए उपस्थित हो जाते हैं।

विद्वद्वर श्री चन्दन मुनि एक प्रतिभाशील कवि है, कुशल गद्य लेखक है और साथ ही साथ सफल गीतकार है। अपने किसी गीत द्वारा या किसी प्राचीन सन्त के भजन द्वारा या किसी प्रगीतात्मक सस्कृत पद्य द्वारा जब

उनका प्रवचन आरम्भ होता है, तो सहसा श्रोताओं में उत्सुकता उमड़ पड़ती है, जो सहज ही तन्मयता का रूप ले लेती है, प्रवचनकार भी तन्मय श्रवणकार भी तन्मय—एक ऐसी तन्मयता थिरक उठती है, जहां बहिर्जगत लगभग विस्मृत हो जाता है। प्रस्तुत पुस्तक मुनिश्री के ऐसे ही प्रवचनों का एक संकलन है, जिसमें धर्म, सदाचार, नीति, सन्तोष, सत्य, सद्व्यवहार, शील, सौजन्य, करुणा, प्रेम, सौहार्द, मैत्री, विश्ववात्सल्य, सहयोग, सेवा जैसे अनेक विषयों का सरल, सुगम शब्दों द्वारा विवेचन, विश्लेषण है। संगीत की लयात्मक लहरों पर थिरकते भावों का निनाद श्रोताओं के कर्ण-कुहरों द्वारा उनके अन्तर्मानस को सहसा झकझोर डालता है, वे भावविभोर हो जाते हैं।

इससे पूर्व "उठो, जागो, जीवन को बदलो" के नाम से उनके प्रवचन प्रकाशित हुए, जो बहुत ही लोकप्रिय सिद्ध हुए, फलतः उनका पहला संस्करण शीघ्र ही समाप्त हो गया। दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ, जो लगभग समाप्ति पर है।

अन्त में एक तथ्य जिसे अभिव्यक्ति देना आवश्यक है, वह यह है कि इस ग्रन्थरत्न के संकलन में स्नातक परीक्षोत्तीर्ण विदुषी साध्वी श्री कुसुमरेखा ने जो अथक परिश्रम किया है, उसे कभी गौण नहीं किया जा सकता। जलधर के धारासार वर्षते हुए भी उस अमृतमय पानी को संगृहीत करना किसी कुशल कारीगर की सूझ-बूझ का ही परिणाम है। अतः इस श्रमसाध्य कार्य के लिए साध्वी श्री शतशः बधाई की पात्र हैं। भविष्य में भी अनुभूत वाणी से अनुप्राणित ऐसे संकलन यथासमय आपके माध्यम से प्राप्त होते रहेंगे—ऐसी अपेक्षा है।

यह प्रकट करते बड़ी प्रसन्नता होती है कि पहले की ज्यों पुनः मुझे उनके प्रवचनों के सम्पादन का सुअवसर प्राप्त हुआ। आशा है, जन-जन के लिए ये संगीति-सम्पृक्त प्रवचन उद्बोधप्रद सिद्ध होंगे।

विक्रमाब्द २०४४
चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, महावीर जयन्ती
कैवल्यधाम
सरदारशहर—३३१४०३

—डा. छगनलाल शास्त्री
पी-एच. डी., काव्यतीर्थ,
विद्यामहोदधि, प्राच्यविद्याचार्य,
विजिटिंग प्रोफेसर
मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास

अनुक्रमण



[स्व]र्गीय मातुश्री

श्रीमती माड़ीदेवी

सुराणा

[पावन स्मृति मे

श्रद्धा-सुमन]

श्रीमती मा[illegible] [illegible] १९१८ ईस्वी मे हुआ था। [illegible] रहा। श्रद्धालु एव आध्यात्मिक विचारो वाले [illegible] सुपुत्र श्री केवल चन्द जी के साथ [illegible] हुआ। पारिवारिक जिम्मेवारियो के [illegible] धार्मिक भावना उत्तरोत्तर विकसित एव [illegible]। सामायिक, ध्यान एव मुनिदर्शन उनकी दैनिक चर्या के अविभाज्य अग बन गये थे। उन्होने अपने ६८ वर्षीय जीवन काल में १००१ उपवास किये। लम्बी तपस्या मे अठाई एव दो वर्षी तप भी किये। वे ऋजु विचारो वाली एक सहृदया महिला थी। उनका निर्मल जीवन एक आदर्श प्रेरणास्रोत था। अपनी सभी सन्तानो को उन्होने उच्च सस्कारो से सस्कारित किया।

परम श्रद्धेय सघ प्रमुख श्री चन्दन मुनि जी द्वारा रचित सुमधुर एवं प्रेरक भजनो पर आधृत प्रवचनो का यह सकलन आध्यात्मिक आलोक प्रवाहित करने का एक सशक्त एव सुगम माध्यम सावित होगा ऐसा मेरा विश्वास है। इस ग्रन्थ के विद्वान एव श्रद्धालु पाठको की परितृप्ति ही दिवंगत आत्मा के प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

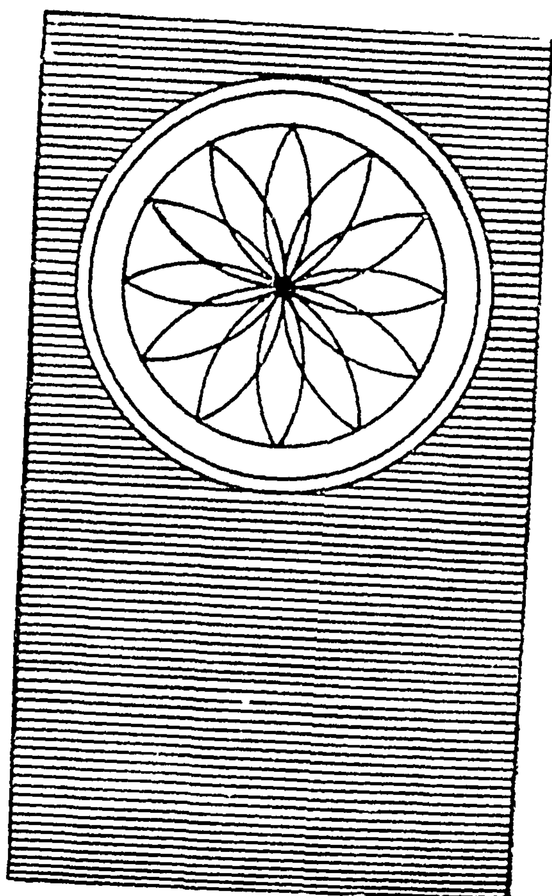
६ दिसम्बर १९८७,

अहमदाबाद

—गौतमचन्द सुराणा

जी. सी. सुराणा चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट
२५७, न्यू क्लाथ मार्केट, अहमदाबाद-३८०००२

सत्य से जुड़ जाता वो जोगी



१

सत्य से जुड जाता वो जोगी ।
लुभावनी लौकिक लीला से, मुड़ जाता वो जोगी ।।ध्रुव।।

भेदों की दुनियां अभेद पर,
दृष्टि टिकाता जोगी ।।१।।

कुछ आता है, कुछ जाता है,
समता लाता जोगी ।।२।।

कुछ गमता, कुछ अनगमता है,
मन न डुलाता जोगी ।।३।।

स्थितिवश जो कुछ भी होता है,
हर्ष मनाता जोगी ।।४।।

तेरे-मेरे के घेरे को,
तोड़ गिराता जोगी ।।५।।

कोमल कुसुम, कठोर वज्र-सा,
लखा न जाता जोगी ।।६।।

"चन्दन" अपनी ही मस्ती में,
अलख जगाता जोगी ।।७।।

तर्ज—मो सो कौन कुटिल खल कामी ।

१.
सत्य से जुड़ जाता वो जोगी

"सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी से मार तरइ" ।

—आचा० ३/३

भगवान महावीर फरमाते है—सत्य की आज्ञा में उपस्थित रहने वाला मेधावी—ज्ञानी मार को तर जाता है। ससार की—जन्म-मरण की धारा को लाघ जाता है।

तीर्थकर देव सत्य को सबसे ऊचा स्थान देते है। उनकी दृष्टि मे "सच्च खु भयवं" सत्य ही भगवान है। अष्टादश पुराणो के कर्ता महर्षि वेदव्यास कहते है—**"सर्व सत्ये प्रतिष्ठितम्"** सब कुछ सत्य में ही प्रतिष्ठित है। सत्य के कारण ही सूर्य उदित होता है, सत्य के कारण ही सागर सीमा नही लोपता, सत्य के कारण ही पृथ्वी धरित्री बनी रहती है।

सत्य और अध्यात्म-साधना का अटूट सम्बन्ध है। इसी भावना का एक गीत गुंजित हुआ है—

सत्य से जुड जाता वो जोगी।
लुभावनी लौकिक लीला से मुड़ जाता वो जोगी ॥

जोगी-योगी वही है जो सत्य से जुड़ जाता है। "योगी" शब्द 'युज्—योगे" धातु से बनता है। योग का अर्थ ही है दो वस्तुओ का जोड़-मेल। योगी वही है, जो अपने आपको सत्य के साथ सयुक्त कर लेता है। योग के इसी आशय को लेते हुए जैन जगत् के अप्रतिम प्रज्ञापुरुष, जैन योग के समुद्भावक आचार्य हरिभद्रसूरि ने बडा सुन्दर कहा है—

"मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो।"

—योगविशिका, गाथा १

अर्थात् वे समस्त परिशुद्ध-सर्वथा शुद्ध, दोष-विवर्जित धर्म-व्यापार-धार्मिक, आध्यात्मिक उपक्रम, जो आत्मा को मोक्ष से जोड़ते हैं, योग में समाविष्ट हैं, योग शब्द द्वारा वाच्य है। उसके परिणामस्वरूप वह लुभा-

वनी, मोहमयी लौकिक लीला से स्वत: मुड़ जाता है, मुह फेर लेता है।
उत्तराध्ययन सूत्र के चौथे अध्ययन में कहा गया है—

"मंदा य फासा बहु लोहणिज्जा।"

ये मन्द स्पर्श-इन्द्रियों के विषय बड़े लोभनीय है—लुभावने है। ये सहज ही मन को अपनी ओर खींच लेते है। सत्य से जुड़ने वाला इन लुभावने इन्द्रिय-विषयो से आकृष्ट नही होता। कारण, वह सत्य को पा चुका होता है। जो सत्य है, वह ध्रुव है, शाश्वत है, अखण्ड है, अनन्त है। ये स्पर्शादि विषय क्षण-भंगुर है, नाशवान् है। गीता में कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा, दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः॥ —गीता ५/२२

इन्द्रियों तथा वैषयिक पदार्थो के सस्पर्श से-संयोग से प्राप्त भोग यद्यपि विषयलुब्ध जनों को सुखमय प्रतीत होते है, किन्तु वे वास्तव में दुःख के हेतु है—दुःख उत्पन्न करते है। वे आदियुक्त तथा अन्तयुक्त है, अनित्य है, अशाश्वत है। अर्जुन! बोधयुक्त—विवेकशील पुरुष उनमें आसक्त नहीं होता।

इसीप्रकार अन्यत्र उल्लेख है—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्ण—सुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत !॥ —गीता २/१४

कुन्ती-पुत्र ! इन्द्रियों तथा वैषयिक पदार्थो के संस्पर्श से—संयोग से आविर्भूत, सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख आते हैं, चले जाते है। वे अनित्य है। उनको समभाव से सहो, उनका परित्याग करो।

सत्य क्या है ? यह प्रश्न बड़ा उलझन भरा है, दुरूह है। वस्तुतः सत्य को पाना-समझना बहुत कठिन है। एक बार हम बम्बई में थे। एक दिन वहाँ के जौहरी सुन्दरभाई रमणीकभाई एक अमेरिकन विद्वान अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज के अध्यक्ष तथा पेनसिलवानिया विश्वविद्यालय के अवकाश-प्राप्त सस्कृत प्राध्यापक डॉ. नॉर्मन ब्राउन को हमारे पास लाए। डॉ. ब्राउन संस्कृत, प्राकृत आदि प्राच्य भाषाओं के मर्मज्ञ थे तथा इण्डोलोजिकल स्टडीज के सिलसिले में बम्बई आये थे। उन्हीं दिनों हमने "संवर-सुधा" नामक गेय काव्य लिखा था। हमने उसके कुछ अंश उनको सुनाये। सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने पूछा—"मुनिश्री ! सत्य क्या है ?"

मै हैरान था। इतने बड़े मर्मज्ञ विद्वान् की जिज्ञासा थी कि सत्य क्या है ? यह प्रश्न साधारण नही, बहुत गहन, गम्भीर है। उनके हार्द को समझते हुए हमने कहा—प्रोफेसर साहब ! सत्य क्या है ? इसे शब्दो द्वारा अभिव्यक्त नही किया जा सकता। शब्द स्वय सकेत मात्र है। उनकी परिधि है, सीमा है। अलग-अलग देशो में अलग-अलग तात्पर्यार्थो से बँधे हुए है। उन शब्दों में सत्य को कैसे परिभाषित किया जा सकता है, क्योकि सत्य असीम है, अपार है। हम जो कुछ कहते है, निरूपित करते है, वह सत्य का अशमात्र होता है, परिपूर्ण या अखण्ड सत्य नही। वास्तव में, भावाभिव्यजना देश, काल आदि की परिधि के भीतर ही हो सकती है। सत्य का स्वरूपत सागोपाग निरूपण असम्भव है। इसीलिए ज्ञानियो ने अन्तत: "**स्याद अवक्तव्यम्**" कहकर इसकी व्याख्या की इतिश्री कर दी। उपनिषद्–वाङ्मय मे भी "**वाचोयत्न निवर्तन्ते**" के रूप में यही तथ्य उजागर हुआ है।

कवीर कहते है—

है कहूं तो नाहीं है, नाहीं कहूँ तो है।
है नाहीं के बीच में, जो कुछ है सो है॥

अपनी दोहावली में एक स्थान पर हमने लिखा है—

हमने जो देखा, सुना, सीखा, समझा तथ्य।
"चन्दन" मत निश्चित करो, है इतना ही सत्य॥
स्वमत-परिधि मे सत्य को, मत बांधो रे भ्रात।
"चन्दन" कैसे चुलुक में, सायर-नीर समात॥
हम न मानते, है नहीं, हमने माना, है।
लेकिन "चन्दन" सत्य तो, जो कुछ है सो है॥

तात्पर्य यह है कि सत्य की अभिव्यक्ति शब्दो द्वारा सम्भव नही है। हम कहे, अभी दिन है तो यहाँ की अपेक्षा यह सत्य है, किन्तु इसी क्षण कही रात भी है, इस अपेक्षा से यह सत्य नही है। इसी कारण प्रभु महावीर ने सत्य के निरूपण में "स्यात्" शब्द का प्रयोग किया है तथा इसी सन्दर्भ में सप्तभगी का निरूपण हुआ है। प्रोफेसर ब्राउन इस समाधान को सुनकर बहुत हँसे, परितुष्ट होते हुए उन्होने कहा—मुनिजी ! यह तो अच्छा हुआ कि मैने पहले आपसे यह प्रश्न पूछ लिया, यदि आप मुझसे यह प्रश्न पूछ लेते तो उत्तर कठिन हो जाता।

इसीलिए सत्य से जुडने वाला—मिलने वाला योगी बहुत व्यापक बन जाता है, विभु बन जाता है।

भेदो की दुनियां, अभेद पर दृष्टि टिकाता जोगी।
सत्य से जुड़ जाता वो जोगी॥

दुनिया में जहाँ देखो, वहाँ भेद ही भेद है—जाति के भेद, वर्ण के भेद, देग के भेद, वेश के भेद, प्रदेश के भेद, सम्प्रदाय के भेद। क्या पूछेंगे? शास्त्र भी भेदों से उलझे पड़े है। इन भेदों के कारण लोग अपने को सत्य और दूसरो को असत्य रूप में देखते है। पर योगी वह होता है, जो अभेद पर दृष्टि टिकाता है। प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु को अभेद दृष्टि से देखता है। व्यक्ति जितना ऊँचा होगा, उतना ही अभेद वनता जायेगा। उदाहरणार्थ—जैसे वायुयान द्वारा ज्यों-ज्यों ऊंचे उठते जाते हैं, नीचे के वृक्ष, मकान आदि सम-रूप में दृष्टिगोचर होने लगते है। कहने का आशय यह है—ज्यों-ज्यों ऊर्ध्वगमन होता जाता है, नीचे के भेद स्वयं समाप्त होते प्रतीत होते है। ऊँचाई पर जाने से अभेद-दृष्टि पनपती है। योगी अपनी साधना में इतना आगे वढता है कि—

सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न वंधई॥ —दश. ४/९

गीता में कहा गया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा, सर्वत्र समदर्शनः॥ —गीता ६/२९

योगी में ऐसी व्यापक दृष्टि का उद्भव हो जाता है कि उसे दूसरा कोई दृष्टिगोचर ही नही होता। भगवान् महावीर ने तो यहाँ तक कहा है—

पुरिसा! तुमंसि नाम सच्चेव, जं हतव्वं ति मन्नसि।
पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं, किं वहिया मित्तमिच्छसि?

मानव! वह तू ही है, जिसे तू हंतव्य—मारने योग्य समझता है, मारना चाहता है। तू ही तेरा मित्र है, तू वाहर कहाँ मित्र खोज रहा है? अभेद दृष्टि प्राप्त होने के पश्चात् वाहर न मित्र है, न शत्रु है। सव कुछ अपने में ही समाहित हो जाता है।

कुछ आता है, कुछ जाता है, समता लाता जोगी।
सत्य से जुड़ जाता वो जोगी॥

जीवन का क्रम ही ऐसा है, यहाँ कुछ आता है, कुछ जाता है। यह आवागमन का तांता निरन्तर जुड़ा रहता है। केवल आए ही आए तो

समाए कहाँ ? जाए ही जाए तो पीछे अभाव हो जाए। अज्ञानी जीव आने में मुख मानता है और जाने में दु:ख का अनुभव करता है। कही आना दु खद प्रतीत होता है और जाना सुखद लगता है। पर योगी आने में और जाने में—दोनों में समतामय भाव रखता है। हमारे थे सुख-दु ख वास्तविक नही है। लाओत्से ने एक सुन्दर कहानी लिखी है—

एक सेठ के घर में एक वहुत अच्छा, कीमती घोडा था। एक दिन वह घोड़ा अचानक "ठाण" को छोडकर जगल की ओर भाग गया। नगर के लोगों को पता चला कि सेठ का मूल्यवान अश्व खो गया है। कुछ मित्र घोड़े के मालिक के पास आए और कहने लगे—सेठ! बहुत बुरा हुआ, तुम्हारा इतना कीमती घोड़ा जंगल में गायब हो गया। घोड़े का मालिक वडा विवेकशील था। उसने मस्ती से कहा—बुरा ही हुआ है, किसको पता है ? कुछ दिनों वाद वह घोड़ा तीन जंगली घोड़ों को लेकर वापस मालिक के यहाँ लौट आया। शहर के लोगो ने जब यह सुना कि सेठ का घोड़ा साथ में तीन घोड़ो को लेकर वापस आ गया है तो वे सेठ को बधाई देने के लिए आए और कहने लगे—वहुत अच्छा हुआ कि तुम्हारा घोड़ा जगल में भाग गया। यदि वह नही भागा होता तो तीन घोड़े और कहाँ से आते ? सेठ ने अपनी ही धुन में फिर कहा—वहुत अच्छा ही हुआ है, किसको पता ? कुछ समय वाद सेठ का लड़का उन जगली घोड़ों को चाल सिखाने के लिए उन पर सवार होकर इधर-उधर घूमने लगा। वे तो उन्मत्त जंगली घोड़े थे। लगाम कव सहने वाले थे ? एक दिन प्रशिक्षण के दौरान वे तीनो घोड़े इतनी तेजी से जंगल की ओर भाग छूटे कि एक घोड़े पर सवार सेठ का वेटा धमाक से जमीन पर गिर गया और उसकी टाँग टूट गई। घोड़े भी वापस जगल में गायब हो गये। मित्र-मण्डली फिर सेठ के पास अफसोस जाहिर करने के लिए आई और कहा—बहुत बुरा हुआ, क्यों जगली घोड़े घर में आए और क्यो आपके इकलौते पुत्र की टाँग टूटे ? सेठ ने वडी समता से कहा—बहुत बुरा ही हुआ है, किसको पता ? थोड़े दिनो वाद उस देश पर किसी शत्रु देश ने आक्रमण कर दिया। राज्य की ओर से आदेश निकाला गया कि देश में जितने स्वस्थ युवक है, सब अनिवार्य रूप से सेना में भर्ती हो जाएँ। राजकर्मचारी जगह-जगह फौज की भर्ती के लिए घूमने लगे। वे उस शहर में भी आये। वहुत से नौजवान फौज में भर्ती हो गये पर वह सेठ का बेटा जिसकी टाँग टूट गई थी, भर्ती न हो सका, क्योकि वह फौज के लायक नही था। घटना-चक्र ऐसा घूमा कि उस शहर के जितने नौजवान सग्राम में गए थे, सव के सव युद्ध में काम

आए, मारे गए। इस दुःखद समाचार को सुनकर फिर शहर के लोग सेठ के पास आए और कहने लगे—सेठ! बहुत अच्छा हुआ कि तुम्हारे लड़के की टाँग टूट गई। टाँग टूटना उसके बचाव का हेतु बन गया, अन्यथा वह भी आज इस संसार में नही होता।

यह संसार का वास्तविक स्वरूप है। यहाँ हर्ष और शोक बहुत छोटे हैं। जरा-सा हेतु मिलने पर लोग हर्ष से उन्मत्त हो जाते है और जरा सी बात में गम के सागर में डूब जाते है। घर में पुत्र पैदा हुआ, खुश हो गये; अचानक उसकी मृत्यु हो गई, दु.खी हो गये। ये सारे क्षणिक सुख-दु.ख के आभास मात्र है। योगी इनसे ऊँचा उठ जाता है। आए तो हर्ष नही, जाए तो चिन्ता नही। पूज्य कालू गुरुदेव एक कथा फरमाया करते थे—

एक संन्यासी किसी गाँव के बाहर कुटिया में रहा करता था। अच्छा साधक था। निःस्पृह था। उसे किसी वस्तु की चाह-लालसा नहीं थी। एक बार जब वह अपनी कुटिया में सो रहा था, मध्य रात्रि में आवाज आई—महात्मन्! मैं आ रही हूँ। महात्मा ने पूरा ध्यान नही दिया, तो दूसरी बार फिर वही आवाज आई "मैं आ रही हूँ।" महात्मा ने पूछा—तुम कौन हो? जवाब मिला—मैं लक्ष्मी हूँ, आपके यहाँ आना चाहती हूँ। महात्मा ने कहा—मेरे यहाँ लक्ष्मी का क्या काम? किसी गृहस्थ के घर जाओ। मैं तो अकिंचन हूँ, मेरे यहाँ तुम्हारी पूछ नही होगी। फिर आवाज आई—नही, मै तो आपके यहाँ ही आऊँगी। महात्मा ने कहा—जैसी तुम्हारी मर्जी? कहा जाता है कि लक्ष्मी महात्मा की कुटिया में आ गई। सुबह महात्मा जहाँ कही हाथ डालते है, जिस किसी बर्तन को सम्हालते है, चारो तरफ अशर्फियाँ ही अशर्फियाँ नजर आने लगी। महात्मा सोचने लगा कि आखिर यह आफत मेरी कुटिया मे आ ही गई। खैर, सत्ती-सेवक आए। महात्मा ने सारी स्वर्ण-मुद्राएँ उनमें बाँट दी। अब क्या था? पूरे गाँव में बात फैल गई। महात्मा की कुटिया में बड़ी भीड़ होने लगी। प्रतिदिन जो कुछ प्राप्त होता, सन्यासी बाँट देता। सग्रह का उसे लोभ नही था। जरूरतमन्द लोग आते, कोई कहता—मुझे जमीन खरीदनी है, कोई कहता—लड़की की शादी करनी है, कोई कहता—दूकान खोलनी है। बाबा बिना भेदभाव के जो कुछ होता, दे देता। एक रात को संन्यासी फिर उसी भाँति कुटिया में सो रहा था कि आवाज आई—"जा रही हूँ" महात्मा ने पूछा—कौन? आवाज आई "लक्ष्मी"। महात्मा ने सोचा—अच्छा हुआ गई, आफत टली। दिन भर लोगों का आवागमन

होने लगा था, जिससे जप-ध्यान मे बड़ा विघ्न होता था। चलो, सहज ही पिण्ड छूटा।

दूसरे दिन से अशर्फियाँ मिलनी बन्द हो गयी, वही पहले वाली स्थिति आ गई। इधर गाँव के ठाकुर को कुछ अर्थ की आवश्यकता हुई। उसने गाँव के प्रमुख लोगो को बुलाया और कहा—धन की व्यवस्था करो, कुछ काम करवाना है। सभी ने कहा—ठाकुर साहव! धन कहाँ से लाएँ, जमाना वहुत खराव चल रहा है। आप एक काम क्यो नही करते, शहर के वाहर सन्यासी वावा खूव अशर्फियाँ वॉट रहा है, हजारो लोग ला रहे हैं। वह तो फक्कड वावा है, उसके द्वार से कोई खाली नही लौटता। हम राजकार्य के लिए भी वहाँ से धन प्राप्त कर सकते है। ठाकुर ने उसी समय अपने कामदार को धन लाने के लिए सन्यासी के पास भेजा। कामदार सन्यासी के पास पहुँचा, प्रणाम किया तथा ठाकुर साहव ने जो कहा था, सुना दिया। संन्यासी ने सहज भाव से कहा—कामदार! तुम कुछ देर से पहुँचे। जव मेरे पास था, मैने खूव वाँटा, अव है ही नही तो क्या दू? कामदार ने कहा—ऐसा कैसे हो सकता है? आप तो ऋद्धि-सिद्धि सम्पन्न है। आपके भण्डार मे कमी नही आ सकती। महात्मा ने कहा—जो ऋद्धि-सिद्धि आई थी, वह वापस लौट गई। अव मेरे पास सिर्फ राम का नाम है। कामदार खाली हाथ ठाकुर के पास लौटा और सारी वात वतलाते हुए कहा—लगता है, वावा की नीयत में कुछ फर्क आ गया है, नही तो कल तक तो वह लोगों को खुले हाथ बॉट रहा था, आज कहता है, मेरे पास कुछ नही है। वस, "रावले तो वावले" होते ही है। ठाकुर की त्यौरियाँ चढ गयी, हमने माँगा और इन्कार करता है। जाओ, उसे यहाँ पकडकर ले आओ। यमदूतो की तरह राजपुरुष सन्यासी के पास पहुँचे, उसे पकड लाए, ठाकुर साहव के सामने हाजिर किया। ठाकुर ने कडककर पूछा—क्यो वावा! कुछ देने को है या नही? सही-सही वोलो, वर्ना हम अभी तुम्हे इसका मजा चखाते है। महात्मा ने सयत स्वर में कहा—यदि होता तो जरूर दे देता, अब है ही नही तो कहाँ से दू? ठाकुर उत्तेजित होकर वोला—यह ऐसे नही मानेगा। इसे नीम के वृक्ष के साथ उल्टा लटका दो और इसकी अच्छी तरह पिटाई शुरू करो। वैसा ही किया गया। सन्यासी को उल्टा लटका दिया गया और वाँस की छडियों से पिटाई होने लगी। महात्मा बडा समतायोगी था, आत्म-ज्ञानी था। ज्यों-ज्यो मार पडने लगी, वह खिलखिलाकर हंसने लगा। अपने आप से कहने

लगा—तूने बड़ी वाहवाही लूटी तो आज मार का स्वाद भी चख। सन्त वही होता है, जो सुख में, दुःख में, अनुकूलता में, प्रतिकूलता में सम रहता है। ठाकुर समझ गया कि संन्यासी झूठ नही बोल रहा है। उसे नीचे उतरवाया, पूछा कि महाराज ! वास्तविकता क्या है ? सन्त ने कहा—

कुछ आता है, कुछ जाता है, समता लाता जोगी।
सत्य से जुड जाता वो जोगी॥

कुछ गमता, कुछ अनगमता है, मन न डुलाता जोगी।
सत्य से जुड़ जाता वो जोगी॥

स्थितिवश जो कुछ भी होता है, हर्ष मनाता जोगी।
सत्य से जुड़ जाता वो जोगी॥

जीवन संग्राम में कुछ "गमता" यानी प्रिय या मनोज्ञ घटित होता है और कुछ "अनगमता"—अप्रिय या अमनोज्ञ होता है। योगी वह है जो इन दोनों स्थितियों में मन को आन्दोलित नहीं बनाता। प्रियता अप्रियता से जुड़ी हुई है। जिस प्रकार प्रत्येक दीवार के दो पार्श्व होते है, वैसे ही प्रत्येक कार्य के प्रियता और अप्रियता दो पहलू है, जो साथ ही साथ सटे हैं।

एक छोटा सा प्रसग है। दो बचपन के दोस्त बहुत वर्षो बाद एकाएक कही मिले। दोनों में वार्तालाप चलने लगा।

पहला मित्र—भाई ! हम बहुत लम्बे समय बाद मिले है, इस बीच मेरी शादी हो चुकी है।

दूसरा—यह तो बड़ी खुशी की बात है, तुम चतुर्भुज बन गए।

पहला—परन्तु जो स्त्री मिली है, वह बड़ी कर्कशा, कटुभाषिणी और कलहकारिणी है।

दूसरा—यह तो बहुत चिन्ता की बात है।

पहला—पर वह बड़े धनी बाप की बेटी है, बहुत माल साथ लाई है।

दूसरा—तब तो तुम भाग्यशाली हो, अनायास मालामाल हो गये।

पहला—मालामाल क्या खाक हो गया, वह बड़ी कंजूस है, उसने सारी सम्पत्ति अपने नियन्त्रण में ले रखी है।

दूसरा—तब तो सारा मामला ही गड़बड़ा गया।

पहला—हाँ, उसने एक सुन्दर बिल्डिंग अवश्य बनवा ली।

दूसरा—चलो, कोठी वाले तो बन ही गये।

पहला--हाँ, आफत भी साथ ही आ गई, उस कोठी में आग लग गई।

दूसरा—तब तो बडा नुकसान हुआ होगा?

पहला—नही, हमने उसकी बीमा करवा रखी थी।

ससारी आदमी की प्रियता और अप्रियता की यह स्थिति है। उसके हर्ष और शोक दोनों क्षणिक है। इष्टोपदेश में कहा गया है—

वासनामात्रमेवैतत्, सुखं दुःखं च देहिनाम्।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि॥

प्राणियों के सुख और दु ख वास्तव में वासनामात्र है, काल्पनिक है, क्षणिक है। सामान्यत. जो भोग मनोज्ञ लगते है, वे ही आपत्तिकाल में, सकटकाल में रोग जैसे दु.खप्रद प्रतीत होते है। आदमी को खीर, घेवर, लड्डू आदि मिष्टान्न वड़े ही प्रिय लगते है। उन्हे देखते ही मन प्रसन्न हो जाता है। यदि १०५ डिग्री बुखार हो जाए तो वही भोजन विष जैसा लगने लगता है। उन मिष्टान्नों को देखते ही उबकाई होने लगती है। इसलिए प्रिय-अप्रिय वस्तुत क्या है—यह जानता हुआ योगी दोनो स्थितियो में अविचल रहता है, कूटस्थ रहता है।

स्थितिवश जो कुछ भी होता है, जो परिस्थितियाँ उत्पन्न होती है, जो घटनाएँ घटित होती है, योगी सबका स्वागत करता है। उसके लिए तो सहज भाव से जो कुछ हुआ सो अच्छा। यह परमयोग की झलक है, जहाँ हर स्थिति का समादर होता है।

एक राजा था। वह अध्यात्म दृष्टि से बिल्कुल शून्य था। वह केवल बाह्य वातावरण को ही महत्व देता था। राजा का मन्त्री बड़ा तत्वज्ञ और आत्माभिमुख था। एक बार राजा शस्त्रो की धार की तीक्ष्णता की परीक्षा कर रहा था। धार परखने में कुछ ऐसी असावधानी हुई कि उसकी अगुली कटकर दूर जा गिरी। रक्त की धार वह निकली। राजा असह्य वेदना से कराह उठा। इतने में मन्त्री आ गया। राजा ने कहा—महामन्त्री! देखो आज कैसा मनहूस दिन है कि मेरी अंगुली कट गई। मै भीषण वेदना का अनुभव कर रहा हूँ। मन्त्री ने गम्भीर स्वर मे कहा—राजन्! जो कुछ हुआ, अच्छा ही हुआ है। राजा के क्रोध का

ने संसार को बाँट रखा है। अगर तेरे-मेरे का भाव समाप्त हो जाए तो संसार समाप्त होते देर नही लगती। एक प्रसिद्ध श्लोक है—

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्यु र्न ममेति च शाश्वतम्॥

दुःख का मूल है "मम इति"—यह मेरा है। जहाँ न मम—मेरा कुछ भी नही, यह भावना स्थिर हो जाती है, वहाँ व्यक्ति परम समाधि को प्राप्त हो जाता है। बड़ी अद्भुत बात है कि "मम" इन दो अक्षरो में बन्धन और "न मम" इन तीन अक्षरों में मोक्ष है। ममकार ही बन्धन का कारण है और इससे छूटना ही मुक्ति है। पर यह घेरा टूटता नही। जो बन्धन तोड़ने के लिए निकलते है, वे भी इसमें फँस जाते है। और नही तो मत—सम्प्रदाय का घेरा भी उन्हें घेर लेता है। जो राग-द्वेष की मुक्ति के लिए निकले है, वे ही राग-द्वेष में ग्रस्त हो जाते है। योगी वही है, जो इस घेरे से निकल जाता है। बाह्य बन्धनों से, रूढ़ मान्यताओं से मुक्त हो जाता है। दोहा-द्विशती में हमने लिखा है—

चारदीवारी में पड़ा क्या करता है दौड़।
"चन्दन" चल मैदान में, दे सब बन्धन तोड़॥

गीत आगे बढ़ता है—

कोमल कुसुम कठोर वज्र-सा, लखा न जाता जोगी।
सत्य से जुड़ जाता वो जोगी॥

योगी फूल जैसा कोमल और वज्र जैसा कठोर होता है। सामान्य दृष्टि से यह नही जाना जा सकता कि जो कुसुम सा कोमल होता है, वह वज्रवत् कठोर कैसे बन सकता है? इसे यों समझना चाहिए—जहाँ अपनी मान-मर्यादा का, नियम-धर्म का, सत्य का, व्रत का प्रश्न हो, वहाँ वह वज्र की तरह कठोर बन जाता है, पर उसका हृदय परम कारुणिक होता है, जिसमें प्रेम की सरिता छलछलाती रहती है। महाकवि भवभूति ने कहा है—

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि, कोहि विज्ञातुमर्हति॥

लोकोत्तर पुरुषों के चित्त को कौन जान सकता है? वे वज्र से भी अधिक कठोर तथा फूल से भी अधिक मृदु—सुकोमल होते है। वस्तुतः ऐसे पुरुष लौकिक नही, लोकोत्तर होते हैं। उन लोकोत्तर पुरुषो का चरित्र अद्भुत एवं अलौकिक ही होता है।

गीत का अन्तिम पद्य है—

"चन्दन" अपनी ही मस्ती मे, अलख जगाता जोगी।
सत्य से जुड जाता वो जोगी ॥

योगी अपनी मस्ती में ही अलख जगाता रहता है। योगी की मस्ती निराली ही होती है। जैना.,मों में एक शव्द आता है—

'अलमत्थु त्ति वत्तव्वं सिया'—अलमस्तु इति वक्तव्यं स्यात्।

योग की ऊँचाई पर पहुँचने पर "अलमस्तु" की स्थिति प्राप्त होती है। अलम् अस्तु का अर्थ है—वस, वहुत हो गया। योगी के मन मे कोई इच्छा नही रहती—चाह नही रहती, इसलिए लोक-भाषा में योगी को अलमस्त कहा जाता है।

सस्कृत में अग्नि का नाम अनल है। इसका निर्युक्ति-परक अर्थ होता है—"न अलम्-अनलम्" अग्नि कभी "वस" नही कहती, कभी तृप्त नही होती। उसमें जितना ईधन डालो, वह खाती ही जाती है। किन्तु योगी तो अलम् का पक्षधर है। वह परम तृप्ति का अनुभव करता है, इसलिए वह शाहो का शाह कहलाता है।

स्वामी रामतीर्थ अपने को राम वादशाह कहते थे। किसी ने पूछा —आप अपने को वादशाह कहते है, आपके पास कौन-सी सम्पत्ति है? कौन-सी जायदाद है? पास में कुछ भी न होने पर आप वादशाह कैसे हुए? क्या यह धोखा नही है? स्वामी रामतीर्थ ने कहा—जिनकी चाह समाप्त हो गई, इच्छाएँ मिट गयी, वे शाहों के शाह होते है। कहा है—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनवा वेपरवाह।
जिनको कुछ ना चाहिए, वे शाहन के शाह ॥

यह मस्ती ऊपर से थोपी नही जाती, लाई नही जाती, यह तो भीतर से स्वतः उद्भूत एव स्फुरित होती है। इसका रसास्वादन जिसे हो जाता है, उसके लिए फिर सारे स्वाद नगण्य हो जाते है, समाप्त हो जाते है। पजावी में एक कहावत है—

वोह रस छड्डे तो ओह रस पावा।
ओह रस पावा तो वोह रस नहीं भावा ॥

अथात् विषयानन्द छूटे—विषय का रस छूटे, तव आत्मानन्द का अनुभव होता है। आत्मानन्द का अनुभव होने पर विषयानन्द नही भाता, अच्छा नही लगता। उसमें रुचि पैदा नही होती। वही वास्तविक मस्ती का साधन वनता है।

०—०

२

ॐ अर्हं-अर्हं गाए जा ।
अर्हं-अर्हं गा-गाकर इस मन को विमल बनाए जा ।।ध्रुव।।

अर्हं-अर्हं रटन लगाते, भव-भव के बन्धन कट जाते ।
अन्दर के और बाहर के क्लेशों को दूर हटाए जा ।।१।।

आदि 'अकार' यहाँ है आया, 'ह' अन्त्याक्षर रूप सुहाया ।
'र' का मध्य प्रयोग हुआ, यों व्यापकता फैलाए जा ।।२।।

'अर्ह' पूजा का सूचन करता, 'अर्हं' विशिष्ट योग्यता धरता ।
सिद्धि-गमन के योग्य स्वयं बन, अन्तर ध्यान लगाए जा ।।३।।

है आत्मा में अनहद शक्ति, करता जप उसकी अभिव्यक्ति ।
जो तन्मयता आई तो फिर, प्रभु की प्रभुता पाए जा ।।४।।

एक को मुख्य बनाना होगा, पर को सिर्फ निभाना होगा ।
करके लक्ष्य सुनिश्चित फिर, निःसंशय कदम बढ़ाए जा ।।५।।

व्यर्थ विकल्प सताते रहते, मानस-पट पर आते रहते ।
सौ रोगों की एक दवा जप, प्रतिपल जागृति लाए जा ।।६।।

जब श्वासों में यह जुड़ जाता, तब अजपा जप है कहलाता ।
चलते-फिरते, खाते-सोते, 'चन्दन' ज्योति जलाए जा ।।७।।

तर्ज—मन मार लिया तो डरना क्या

२.

ॐ अर्हं—अर्हं गाए जा।

अर्हमित्यक्षरं ब्रह्म, वाचकं परमेष्ठिनः।
सिद्धचक्रस्य सद्बीजं, सर्वतः प्रणिदध्महे ॥

—ऋषिमण्डलस्तोत्र ३

अर्हं बड़ा चामत्कारिक मन्त्र है। उसे अक्षर-ब्रह्म कहा गया है। जो कभी क्षर नही होता, क्षययुक्त नही होता, मिटता नही, उसे अक्षर कहा जाता है—"न क्षरतीति अक्षरम्"। अर्हं परमेष्ठी का वाचक है। परमेष्ठिन् शब्द में अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—इन पाँचों का समावेश हो जाता है। इन पाँचो को जैन-दर्शन में परमेश्वर रूप में स्वीकार किया गया है। जैन परम्परा में सिद्धचक्र यन्त्र का बहुत महत्व है। उसकी विधिवत् पूजा, आराधना होती है। "अर्हं" को उसके बीज मन्त्र के रूप में स्वीकार किया गया है। इसीलिए इसे **"सिद्धचक्रस्य सद्बीजम्"**—विशेषण से विभूषित किया गया है। ऋषि कहते है **"सर्वतः प्रणिदध्महे"**—हम सर्वतोभावेन इसका प्रणिधान यानी जप आदि के द्वारा आराधना करते है। यहाँ एक गहरी बात है—क्रिया में उत्तम पुरुष के बहुवचन के वर्तमान का प्रयोग इसलिए किया गया है कि हम निरन्तर सर्वांगीण दृष्टि से इसका ध्यान करते रहे है, करते है। इसी अर्हं की व्याख्या के लिये एक विशेष गीत की रचना की गई है—

ॐ अर्हं-अर्हं गाएजा।
अर्हं-अर्हं गा-गाकर इस मन को विमल बनाएजा ॥ ध्रुव ॥
अर्हं-अर्हं रटन लगाते, भव-भव के बन्धन कट जाते।
अन्दर के और बाहर के क्लेशो को दूर हटाए जा ॥ १ ॥
ॐ अर्हं-अर्हं गाएजा ॥

अर्हं-अर्हं में लयलीन होने से मन निर्मल बनता है। मन को निर्मल बनाना ही साधक का उत्कृष्ट लक्ष्य है। जप वास्तव में अन्तःशुद्धि का कार्य करता है। वचन और काया की शुद्धि अन्यान्य साधनो के द्वारा भी हो सकती है, किन्तु मन को शुद्ध बनाने के लिए, मन का मैल धोने के

लिए जप को ही उत्तम साधन माना गया है। प्राचीन आचार्यों ने बडा सुन्दर लिखा है—

अभेददर्शनं ज्ञानं, ध्यानं निर्विषयं मनः।
स्नानंमनोमलत्यागः, शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।।

इस श्लोक के चार चरणों में चार व्याख्याएँ दी गई है। ज्ञान की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या है—"**ज्ञायते परिच्छिद्यते वस्तु येन तद् ज्ञानम्**" जिसके द्वारा वस्तु जानी जातो है, अन्य वस्तुओं के साथ उसका पार्थक्य किया जाता है, उसे ज्ञान कहते है। लेकिन यहाँ ज्ञान को सूक्ष्म व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया गया है। आचार्य कहते है—"**अभेददर्शनं ज्ञानम्**" ज्ञान वास्तव में वह है, जो अभेद दर्शन कराता है। जहाँ स्व-पर का भेद मिट जाता है, तू-मै का विभाजन समाप्त हो जाता है, वही सच्चा ज्ञान है। जव तक दृष्टि में भेद विद्यमान है, तव तक ज्ञान केवल पुस्तकीय ज्ञान है। वह सम्यक्ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार कहा गया—'**ध्यान निर्विषयं मनः**" मन का निर्विषय हो जाना ध्यान है। केवल आँखे मूदकर, आसन लगाकर वैठना ध्यान नही है, जब तक मन विषयों से उपरत न हो जाए। यदि मन सर्वथा निर्विषयी है तो चाहे कही किसी स्थिति में वैठे हों, ध्यान सधता जाता है।

आचार्य आगे लिखते है "**स्नानं मनोमलत्यागः**' जिसके द्वारा मन के मल का विसर्जन हो, वह स्नान है। ऊपरी मैल को धोना केवल वाह्य स्नान है। किन्तु अन्त.शुद्धि वास्तविक स्नान है। चौथा चरण है—"**शौचमिन्द्रियनिग्रहः**" इन्द्रियों का निग्रह ही शौच है। यदि आप शुचि-पवित्र रहना चाहते है तो इन्द्रिय-सयम करना होगा। इन्द्रियों के असयम से ही हम अपवित्र बनते है। इसीलिए यह उक्ति प्रसिद्ध है—"**ब्रह्मचारी सदा शुचिः**"। ब्रह्मचारी निरन्तर पवित्र बना रहता है। वह कभी अपवित्र नही होता। अतः मनोमल की शुद्धि के लिए जप उत्कृष्ट साधन है।

गीत में लिया गया है कि "अर्ह-अर्ह" की रट लगाने से भव-भवान्तरों के बन्धन कट जाते है। रट लगाने का अर्थ है एक ही स्थान पर आघात करना, चोट मारना और जहाँ चोट लगातार पड़ती है, वहाँ विद्युत पैदा हो जाती है। गोस्वामी जी कहते है—

राम-राम रटते रहो, जब लग घट में प्रान।
कबहु दीनदयाल के, भनक परेगी कान ।।

तुम राम-राम रटते जाओ, कभी न कभी तो प्रभु के कानों में आवाज पहुँच ही जाएगी। भव-भव के वन्धनों को काटने का यह असा-धारण उपाय है।

जप की एक विशेषता और है—"अन्दर के और बाहर के क्लेशों को दूर हटाएजा।" दो प्रकार के क्लेश है—अन्दर के क्लेश काम, क्रोध, मोह आदि है तथा बाहर के क्लेश रोग, शोक, व्याधि, प्रतिकूलता आदि है। संसारी जीव इन दोनों प्रकार के क्लेशो से निरन्तर उत्पीडित बने रहते हैं। इस अर्हं जप के द्वारा वे सब प्रकार के क्लेशों को दूर हटा सकते है। यहाँ एक रहस्य और है। जीभ जप के साधन के रूप में प्रयुक्त होती है। रचना की दृष्टि से उसका कुछ भाग बाहर है और कुछ भाग कण्ठ के भीतर चला गया है। सन्त जन कहते है—

रामनाम मणिदीप धरु, जीभ देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहिरो, जो चाहसि उजियार॥

जिस प्रकार कमरे की देहली में रखा दीपक अन्दर के कमरे को तथा बाहर के आगन को समान रूप से प्रकाशित करता है, उसी प्रकार इस जीभ को देहली मानकर इससे प्रभु-नाम का जप करे तो दोनो ओर प्रकाश होगा। अन्तर्-बाह्य दोनो प्रकार के सक्लेशो से छुटकारा होगा। यहाँ "मणिदीप" का प्रयोग भी विशिष्ट अर्थ में हुआ है। तेलादि से जलने वाले दीप हवा के झोके से बुझ जाते है, तेल समाप्त होने पर बुझ जाते हैं पर जो स्वत प्रकाशित रत्न होते है, उनको बुझने का कोई खतरा नही। समग्र उपद्रवो के बावजूद वे प्रकाश देते रहते है। यह प्रभु-नाममय मणिदीप हमें अखण्ड प्रकाश देता है। यह अर्हं का जप भी एक प्रकार का मणिदीप ही है। अब हम यह चिन्तन करेगे कि इस अर्हं शब्द की निष्पत्ति कैसे हुई तथा वस्तुत यह शक्ति क्या है ?

आदि अकार यहां है आया, है अन्त्याक्षर रूप सुहाया।
"र" का मध्य प्रयोग हुआ, यों व्यापकता फैलाएजा॥
ॐ अर्हं-अर्हं गाएजा॥

अर्हं के आदि में अकार का प्रयोग हुआ है और अन्त में "ह" आया है। "र" इन दोनों के मध्य ऊर्ध्वगामी बना है।

अकार अपने आप में बड़ा प्रभावापन्न अक्षर माना गया है। गीता मे योगेश्वर कृष्ण ने तो यहाँ तक कह दिया कि—

"अक्षराणामकारोऽस्मि" —गीता १०/३३

हे अर्जुन ! अक्षरो मे मैं अकार हूँ।

अर्हं की व्याख्या करते हुए प्राचीन आचार्य कहते है—

अकारः प्रथमं तत्व, सर्वभूताभयप्रदम् ।
कण्ठदेशं समाश्रित्य, वर्तते सर्वदेहिनाम् ।।
सर्वात्मकं सर्वगतं, सर्वव्यापि सनातनम् ।
सर्वसत्त्वाश्रित दिव्यं, चिंतित-पापनाशनम् ।।
सर्वेषामपि वर्णानां, स्वराणां च धुरिस्थितम् ।
व्यंजनेषु च सर्वेषु, ककारादिषु संस्थितम् ।।

अकार प्रथम तत्त्व है । सब भूतों को अभय प्रदान करने वाला है । यह सभी देहधारियों के कण्ठदेश को आश्रित कर विद्यमान है । व्याकरण-कार भी कहते है "**अकुहविसर्गा कण्ठयाः**' अकार का उच्चारण स्थान कण्ठ है । यह सर्वात्म, सर्वगत, सर्वव्यापि सनातन तत्त्व माना गया है । यह समस्त सत्त्वों पर, सद्‌गुणों पर आश्रित, दिव्य, सुचिन्तित तथा पाप-नाशक है । सभी वर्णो में, स्वरों में यह अग्रसर है—प्रथम स्थान पर है । 'क्' आदि सभी व्यंजनों में सर्वप्रथम यही प्राण रूप में वर्तमान रहता है । तन्त्र-मन्त्रादि प्रयोगों में, समग्र विद्याओं में इसका विशिष्ट स्थान है ।

अर्ह का मध्याक्षर "र्" अग्नि-बीज है । वैदिक वाङ्मय में उल्लेख है—"**रं बीजं वह्नि ध्यायेत्**" । "रकार" को अग्नि-तत्त्व का प्रतीक माना गया है । मन्त्र-वेत्ता आचार्य कहते हैं—

दीप्तपावकसंकाशं, सर्वेषां शिरसि स्थितम् ।
विधिना मंत्रिणा ध्यात, त्रिवर्गफलदं स्मृतम् ।।
यस्य देवाभिधानस्य, मध्ये ह्येतद् व्यवस्थितम् ।
पुण्यं पवित्रं मांगल्यं, पूज्योऽसौ तत्वदर्शिभिः ।।

"र" कार अग्नि के समान दीप्त तथा सब अक्षरों के सिर पर स्थित है । जो विधिवत् इसका ध्यान करता है, त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ, काम रूप फल प्राप्त कर लेता है । जिस देवता के नाम में, यह मध्य में स्थित हो जाता है, तत्त्वदर्शियो का कथन है, यह पूजनीय "रकार" तदनुरूप पुण्य, पवित्र, मागलिक सिद्ध होता है । इसीलिए राम, हरि, हर, वीर, पार्श्व आदि शक्ति सम्पन्न नामो में "र" का अस्तित्व विद्यमान है ।

अन्त में प्रयुक्त "ह" वर्ण आकाश तत्त्व का सूचक है । आचार्य कहते है—

सर्वेषामपि भूतानां, नित्यं यो हृदि संस्थितः ।
पर्यन्ते सर्ववर्णानां, सकलो निष्कलस्तथा ।।
हकारो हि महाप्राणः, लोकशास्त्रेषु पूजितः ।
विधिना मंत्रिणा ध्यातः, सर्वकार्यप्रसाधकः ।।

वेयाकरणो की दृष्टि में हकार को महाप्राण के रूप में स्वीकार किया गया है। यह सभी भूतो के हृदय मे स्थित है तथा सभी वर्णो में सकल होता हुआ निष्कल रूप में व्यवस्थित है। यदि कोई साधक इसका विधिपूर्वक ध्यान करता है तो यह सर्वसिद्धि प्रदान करने वाला है।

"अर्ह" में वर्णो का अद्भुत सयोजन हुआ है। आदि में अकार और अन्त में हकार का समायोजन अपने आप मे अनूठा है। आपने ध्यान दिया होगा, ट्रेन मे सबसे आगे इजन लगा होता है। चालक वही मे सारी गति नियन्त्रित करता है। किन्तु अन्त में जो गार्ड का डिब्बा लगा होता है, उसका भी गति-नियन्त्रण में महत्त्वपूर्ण स्थान है। दोनो का दायित्व लगभग समान होता है। यहाँ अन्त में हकार की स्थिति गार्ड-परिरक्षक जैसी है। ह के ऊपर लगा चन्द्र बिन्दु (ँ) भी अनुपम शक्तिस्रोत है। मन्त्राक्षरों में प्रायः चन्द्र-विन्दु की योजना की जाती है, जो अलौकिक नाद उत्पन्न करता हुआ वीजाक्षरो को शक्ति प्रदान करता है। इसलिए कहा गया है—

त्रीण्यक्षराणि विन्दुश्च, यस्य देवस्य नाम वै।
स सर्वज्ञः समाख्यातः, अर्हं तदितिपडितैः॥

अर्ह की एक दूसरी व्याख्या और की गई है, जिसके अनुसार इसमें अकार से विष्णु, रकार से व्रह्मा तथा हकार से हर का समावेश है। लिखा है—

अकारेणोच्यते विष्णुः, रेफे व्रह्माव्यवस्थितः।
हकारेण हर प्रोक्तः, तदन्ते परमं पदम्॥

यह अर्ह शब्द की निर्युक्ति है। वास्तव में यह वहुत प्रभावशाली बीजाक्षर है। कलिकालसर्वज्ञ आ० हेमचन्द्र द्वारा रचित "सिद्धहेमशब्दानुशासन" व्याकरण का तो पहला सूत्र ही अर्ह है।

एक अन्य दृष्टिकोण से भी अर्हशब्द का सयोजन विशेष महत्वपूर्ण है। गीत में आगे लिखा गया है—

अर्हं पूजा का सूचन करता, अर्हं विशिष्ट योग्यता धरता।
सिद्धिगमन के योग्य स्वयं वन, अन्तर्ध्यान लगाएजा॥
ॐ अर्हं-अर्हं गाएजा॥

संस्कृत में अर्ह धातु पूजा के अर्थ में है। कहने का आशय है—पूजनीय—पूजायोग्य अर्हं का उपासक नरेन्द्रों, देवेन्द्रो द्वारा पूजनीय वन जाता है। एक दूसरा अर्थ है—अर्ह—योग्य होना—ज्ञान-दर्शन में योग्य वन

जाना, सक्षम हो जाना। जैसे ज्ञानार्ह, दर्शनार्ह इत्यादि। अरिहन्त अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त चारित्र तथा अनन्तबल—इन चार अनन्ताओं के योग्य बन गये है। सारी सीमाएँ लाँघकर वे असीम-अपार गये है। साधक का ध्यान जब सर्वथा अन्तर्मुखी बन जाता है तो सिद्धिगमन की अर्हता प्राप्त कर लेता है, तद्योग्य बन जाता है। ध्य की गहराई में उतरे बिना विशिष्ट योग्यता प्राप्त नही हो सकती। शब्द अपनी योग्यता उभारने का सूचक है। योग्य पात्र में उत्तम व स्वतः समाविष्ट होना चाहेगी। आगे लिखा गया—

है आत्मा में अनहद शक्ति, करता जप उसकी अभिव्यक्ति।
जो तन्मयता आई तो फिर, प्रभु की प्रभुता पाएजा॥
ॐ अर्ह-अर्ह गाएजा॥

आत्मा अनन्त शक्ति का स्रोत है, निधान है, पर वह शक्ति सि कैसे हो? अभिव्यक्त कैसे हो? उसके लिए जप चाबी के समान है। ताला सैकड़ों प्रयत्नों से भी नही खुल पाता, सही चाबी लगने से वह तुर खुल जाता है। इसी प्रकार जप में तन्मयता आ जाए तो प्रभु की प्रभु सहजतया स्वायत्त हो सकती है। कोई व्यक्ति किसी बच्चे को गोद ले है। गोद आने वाला बालक अनायास उसकी सम्पत्ति का अधिकारी जाता है। गोद लेने वाला सोचता है, यह मेरा पुत्र है तथा गोद आने वा सोचता है, यह मेरा पिता है। जब दोनों एक-रूप बन जाते है तब सम्प का स्वामित्व प्राप्त होता है। दूध में मिला पानी दूध के भाव बिकता है दोनों की मूल्यवत्ता में भारी अन्तर होने के बावजूद दोनों के एक-रूप ह के कारण पानी भी दूध की दृष्टि से देखा जाता है। जब भी दूध पर अ आती है, पानी अपने आपको स्वाहा करने के लिए तैयार रहता है। उस यह बलिदान देखकर दूध भी उसके दहन को सहन नही कर सकता, इ लिए वह उफान खाकर स्वयं आग में कूदने को तैयार हो जाता है। दूध का मालिक उस पर पानी के छींटे डालता है। अपने अद्वितीय सा को पाकर दूध फौरन शान्त होकर बैठ जाता है। इसका नाम है तन्मयता।

इसलिए यह सर्वथा यथार्थ है, "जो तन्मयता आई तो फिर, की प्रभुता पाए जा।" तन्मयता आते ही ध्याता, ध्येय और ध्यान—ती न रहकर एक हो जाते है। मैं जप कर रहा हूँ, यह भाव समाप्त हो जा है। किसका जप किया जा रहा है, यह चिन्तन भी नहीं ठहर पाता। ध्य

की सूक्ष्म क्रिया का भी भान नही रहता। उसे तन्मयता कहते है। ऐसी तन्मयता कैसे सिद्ध हो सकती है?

एक को मुख्य बनाना होगा, पर को सिर्फ निभाना होगा।
करके लक्ष्य सुनिश्चित फिर, निःसंशय कदम बढाएजा।
ॐ अर्हं-अर्हं गाएजा॥

जीवन के दो पक्ष है--एक मुख्य तथा दूसरा गौण। मुख्य कार्य वह है, जो किसी भी स्थिति में छोडा न जा सके। कितनी ही व्यस्तता हो, वह कार्य तो होगा ही। गौण कार्य वह है, जिसे किए, न किए भी चल सकता है। हुआ तो भला, न हुआ तो भला, कोई चिन्ता का विषय नही होता। गौण कार्य हरदम गौण ही बना रहता है। साधक के लिए मुख्य और गौण कार्यों का विभाजन आवश्यक है। सोचना यह है कि जीवन में व्यवहार मुख्य है या अध्यात्म। यदि अध्यात्म मुख्य है तो व्यवहार गौण होगा। यदि व्यवहार मुख्य है तो अध्यात्म प्रथम स्थानीय न रहकर द्वितीय स्थानीय हो जायेगा। बहुत सारे लोग यों तो नियमित रूप से धार्मिक नित्य नियम करते है, पर घर में शादी-विवाह या जन्म-मरण का प्रसग आ जाए, घर में मेहमान आ जाएँ या स्वय को कही बाहर जाना पड़ जाए तो नित्य-नियम छूट जाते है। यदि वह मुख्य कार्य है तो छूटना नही चाहिए। आकस्मिक व्यस्तता मे भी गौण नही होना चाहिए। भगवान् महावीर के शब्दो में **"एगराइं न हायये"** एक रात्रि भी नही छूटनी चाहिए। कितने ही कार्य हों, मूल कार्य की उपेक्षा नही होनी चाहिए।

"शतं विहाय भोक्तव्यम्"

सौ कार्य छोडकर पहले भोजन करना चाहिए। लोकोक्ति भी है— "पहले पेट पूजा, फिर काम दूजा"। यदि आपके भोजन का समय चूक जाता है तो दो-चार घण्टे बाद ही सही, भोजन अवश्य करते है। यह नही कि आज देर हो गई तो जाने दे, कल खा लेगे। वास्तव मे जो मुख्य कार्य होता है, वही ओजस्वी, तेजस्वी बनता है। गौण कार्य महत्ता नही पा सकता। सिह की तरह एकदम तत्परता से किया हुआ कार्य ही सुकार्य बनता है।

साधक को अपना लक्ष्य सुस्थिर कर तत्परता से उसके पीछे लग जाना चाहिए। लक्ष्य निश्चित होने पर कदम आगे बढ़ते देर नहीं लगती। यदि कदम आगे बढते जाएँ तो मजिल पाते देर नही लगती। जप के विषय में भी यही बात है। अपने इष्ट में पूरी श्रद्धा, निष्ठा एव तत्परता के साथ

यदि हम लग जाएँ, अन्य सारे कार्य गौण कर दें, तब जप में तन्मयता आती है, वह सजीव तथा तेजस्वी बनता है। लोग कहते है, हम जप में ही सारा समय लगा दें तो हमारा जीवन अस्त-व्यस्त हो जाए, हम पर लौकिक दृष्टि से भी बडी जिम्मेवारियाँ है। वास्तव में ऐसा सोचना दुर्बलता है। अध्यात्मयोगी का व्यवहार कभी अपनी दिशा से विपरीत नही जाता। वल्कि वह स्वत. सुन्दर, सुन्दरतर रूप में सम्पादित होता जाता है। हम अनेक ऐसे दृष्टान्त सुनते है, जहाँ अदृष्ट शक्ति द्वारा भक्तों के कार्य सुसम्पन्न हुए है। नरसी भक्त का मायरा इसी तन्मयता का उदाहरण है। सबसे वड़ी बात यह है कि जहाँ मनुष्य का अह समाप्त हो जाता है, मैं कर्ता हूँ, यह भाव मिट जाता है, वहाँ ऐसी अदृष्ट शक्तियाँ कार्य करती हैं। पूज्यपाद स्वामी ने अध्यात्म और व्यवहार का साथ-साथ किस प्रकार निर्वाह किया जा सकता है, इसका समाधान देते हुए कहा है—

युंजीत मनसाऽऽत्मानं, वाक्कायाभ्यां वियोजयेत्।
मनसा व्यवहारं तु, त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥४८॥
आत्मज्ञानात्परं कार्यं, न बुद्धौ धारयेच्चिरम्।
कुर्यादर्थवशात्किंचिद्, वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

—समाधिशतक ४८, ५०

मन को परमात्मा के साथ संलग्न रखे, व्यवहार का निर्वाह-वाणी और काया के द्वारा करे, किन्तु "**अतत्परः**' तत्परता से नही, उनमें तन्मय बनकर नही, केवल व्यावहारिकता से उनका निर्वाह करे। तत्परता तो परमात्मा के साथ रहनी चाहिए। जैन-दर्शन में तीन योग माने गए है—मानसिक, वाचिक एव कायिक। व्यावहारिक कार्यो के लिए वाणी और काय का सयोजन काफी है। किसी ने कोई वात पूछी, उसका उत्तर देना अपेक्षित होता है, शरीर से कुछ क्रियायें करनी ही पडती है, पर मन प्रभु की स्मृति में लीन रहे, उसके जप में लगा रहे। शकराचार्य कहते है—

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत् प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥

बुधजन—ज्ञानी पुरुष ब्रह्माभ्यास की एक पद्धति वतलाते है—मन से उसी का चिन्तन, वाणी से उसी का कथन, जहाँ किसी अन्य के साथ कोई वात चलती हो तो उसी की चर्चा, एकान्त में कही वैठे हों तो उसी एक में तत्परता-तन्मयता—यह ब्रह्माभ्यास है। शरीर चाहे कही रहे, मन उसके साथ जुड़ा रहना चाहिए। रामचरित का एक वहुत सुन्दर प्रसंग है—

भक्त हनुमान को महासती सीता की खबर लेने के लिए लका भेजा गया। हनुमान ने महासती सीता को प्रभु राम का सन्देश दिया एवं उनका सन्देश लेकर वे वापस लौटे। उस समय भगवान् राम ने हनुमान से पूछा—

एहो हनु ! तुम जानत हो कहो जानकि है कितकी छिती मांही।
हे प्रभु ! लंक कलंक विना उस रावण के तरु की परछाहीं ।।
जीवित है ? कहिवेहिकुं राम सो, क्यो न मुई हम तौ बिछुराई ?
प्रान वसे पद - पंकज मे; जम आवत है, जिय पावत नाहीं ।।

हनुमान ! जानकी किस स्थिति में है ? हनुमान ने कहा—प्रभु ! उस लंका की अशोक वाटिका के अशोक वृक्ष की छाया में माता सीता सकुशल है। राम ने अत्यन्त आश्चर्य से पूछा—सीता सकुशल है ? हमसे बिछुड़कर भी जीवित है ? यह कैसे सम्भव हुआ ? हनुमान ने बडा मार्मिक उत्तर दिया कि माँ सीता केवल देह से वहाँ है, उनके प्राण तो आपके चरणो में वसे है। यमदूत आते है पर प्राण न पाकर वापस लौट जाते है, क्योंकि शरीर तो वे ले जाते नही, प्राण उन्हे वहाँ मिलते नही।

जो इस प्रकार प्रभु में लीन हो जाते है, उनकी जप-क्रिया और साधना तेजस्विनी वनती है। सतत जप का वहुत वड़ा लाभ है—

व्यर्थ विकल्प सताते रहते, मानस-पट पर आते रहते ।
सौ रोगों की एक दवा जप, प्रतिपल जागृति लाएजा ।।
ॐ अर्हं-अर्हं गाएजा ।।

दिमाग एक ऐसी चक्की है, जो हर समय चलती रहती है। उसे तो पीसने के लिए कुछ न कुछ चाहिए ही। चक्की में अगर अनाज न डाला जाए और उसका चलना चालू रहे तो उसके पाट परस्पर घिसने शुरू हो जायेंगे। इस दिमाग को यदि खाली छोड दिया जाय तो इसमें—निरर्थक सकल्प-विकल्प उठते रहते है। वे साधक को सताते रहते है। कहावत है—"खाली दिमाग शैतान का घर होता है।" यदि इस दिमाग की चक्की में नाम-स्मरण का—जप के अभ्यास का तद्रूप अनाज न डाला जाए तो इसकी शक्ति व्यर्थ विकल्पों में समाप्त हो जाती है। यदि दिमाग जप में लगा रहे तो व्यर्थ चिन्तन के लिए कोई अवकाश ही नही रहता। इसलिए जव भी दिमाग खाली हो, अर्ह-अर्ह का रटन प्रारम्भ कर दे। खाना खाने वैठे है, भोजन सामने नही आया, पाँच मिनट का समय है, जप में संलग्न हो जाइये। रात को विस्तर पर लेटे है, नीद नही आ रही

है, अर्ह-अर्ह का उपांशु-जप शुरू कर दीजिए। ट्रेन में वैठे है, पाँच-सात घण्टे का सफर है, खाली समय में जप शुरू कर दीजिए। आप देखेगे कि साधना का एक नया आयाम खुल गया है। हर घड़ी, हर पल साधनामय वन गया है। यह सतत नामस्मरण सौ रोगों की एक दवा है। इससे एक नही, अनेक लाभ प्राप्त होते है। हमारा बारह आने समय व्यर्थ की वातों में वीतता है। जिन बातों का जीवन में कोई महत्त्व नहीं है, जिनके बिना किये भी चल सकता है, ऐसी बातों में निरर्थक समय न गंवाकर उस समय का जप में उपयोग करे तो अनायास ही वड़ी कमाई हो जायेगी। लोग कहते हैं, जप करने के लिए समय नही मिलता, कव जप करें। भाई समय वहुत है, यदि आपको उसका सही उपयोग करना आ जाए। शर्त एक ही है,आप प्रतिपल जागरित रहिए, फिर कभी समय की कमी नही रहेगी। एक कवि ने कहा—

एक सांस खाली मत खोय रे! खलक बीच,
कीचड़ कलंक अंग धोय ले तो धोय ले।
उर अंधियारी पाप पुञ्ज सों भरी है देह
ज्ञान की चिराग चित्त जोय ले तो जोय ले।
मानखा जनम ऐसो फिर ना मिलेगो मूढ!
परम प्रभु से प्यारो होय ले तो होय ले।
छिन भंग देह तामें जनम सुधारिवो है,
बीज के झबूके मोती पोय ले तो पोय ले॥

वस्तुतः वात यह है, एक सांस को भी खाली नही खोना है। कोई आकाश में चमकने वाली विजली के प्रकाश में मोती पिरोना चाहे, यह वहुत कठिन है। मोती पिरोने वाले को विद्युत के क्षणिक प्रकाश का उपयोग कैसे करना है, इसके लिए उसे पूरी तैयारी रखनी होगी। एक हाथ में मोती और दूसरे में धागे का सिरा लिए तैयार रहना होगा। प्रकाश की झलक पड़ी और मोती पिरोया, बस, ऐसी तत्परता जव जप में होगी, तभी कुछ विशिष्ट उपलब्धि हो सकती है। "सौ रोगों की एक दवा जप" इसका एक वाह्य अर्थ भी आचार्य निरूपित करते है—

अर्हं — जपात्क्षयमरोचकमग्निमांद्यं-
कुष्टोदरामकसनश्वसनानि हन्ति।
प्राप्नोतिचाऽप्रतिमवाक्महतीं महद्भ्यः
पूजां परत्र च गतिं पुरुषोत्तमाप्ताम्॥

वे कहते है, अर्हं के जप से अनेक शारीरिक रोगो का उपशमन होता है। जप की ध्वनि शरीर-यन्त्र पर जो प्रभाव डालती है, उससे क्षय, अरोचक—भोजन में रुचि न होना, भूख नही लगना, अग्निमाद्य-अग्नि-मन्दता खाया-पीया हजम न होना, कुष्ट-कोढ, उदराम—पेट की आव आदि सम्बन्धी बीमारियाँ, कसन-खाँसी, श्वसन-श्वास आदि रोगो का नाश होता है। साधक की वाणी अप्रतिम वन जाती है, वचन का अनुपम, अचिन्त्य प्रभाव पडता है। **"महद्भ्यः पूजाम्"** महान पुरुषो के द्वारा उसे पूजा-सम्मान प्राप्त होता है। अर्थात् जनसाधारण की तो बात ही नही, गणमान्य और चिन्तनशील व्यक्ति भी उसे आदर देते है। सबसे महत्त्वपूर्ण एक बात कही गई है, **"परत्र गति पुरुषोत्तमाप्ताम्"**—आगामी जन्म में उसे उत्तम पुरुषो के सदृश उच्च गति प्राप्त होती है।

इस प्रकार जप बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के लाभ प्रदान करता है। पूर्व पद में जो सतत अभ्यास का दिग्दर्शन कराया गया, वह आगे चलकर किस भाँति अजपाजप बन जाता है, उसके लिए लिखा गया है।

जब श्वासों मे यह जुड़ जाता, तब अजपाजप है कहलाता।
चलते, फिरते, खाते, सोते, "चन्दन" ज्योति जलाएजा ॥
ॐ अर्हं-अर्हं गाएजा ॥

जब हम जप में एकाकार हो जाते है तो वह श्वासो के साथ ध्वनि-रूप में उठना शुरू हो जाता है। तब वह जप न कहलाकर अजपा-जप कहलाता है। बिना जपे ही जप चलता रहता है। कबीर ने एक जगह कहा है—

कबीर मन मिरतक भया, दुर्बल भया शरीर।
पीछे पीछे हरि फिरै, कहत कबीर-कबीर ॥

मन मृत हो चुका है—मर चुका है, शरीर निर्बल हो गया है, लोग मुझसे पूछते है—कबीर! तुम भगवान् का जप करते हो? मै कहता हूँ, जप नही करता। भगवान् मेरे पीछे-पीछे घूमते है, कबीर-कबीर पुकारते है। इसका नाम है अजपाजप।

अर्हं श्वासोच्छ्वास के साथ बहुत सुन्दर रूप में जुड जाता है। जैसे अर्र्र्र्र् इसको लम्बाते ही श्वास पूरक के रूप में भीतर चला जाता है। हम्म्म्म्म् प्लुत बोलते ही श्वास सहज रेचक के रूप में निकल जाता है। इस प्रकार यह श्वास के साथ एकाकार हो जाने की स्थिति है। उपनिषद

में उसे "अजपानां गायत्री" कहा गया है। उसमें "सोऽहं-हंसो" की ध्वनि अपनाई गई है। उसी प्रकार अर्ह भी श्वासों के साथ एकलय में सम्बद्ध हो जाता है। फिर तो चलते-फिरते, उठते-बैठते अनवरत ज्योति जलती ही रहती है। वह कृतक न होकर अकृतक वन जाती है। यह एक ऐसी स्थिति है, जो अनुभवगम्य है। जिन्होंने अनुभव किया है, वे ही इसे समझ सकते हैं। केवल शब्दों द्वारा कहने मात्र से वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसके लिए तो जप का सतत अभ्यास होना चाहिए। अर्ह का ध्यान धारणा के साथ किया जाता है। उसकी विधि वतलाते हुए आचार्य कहते हैं—

कनककमलगर्भे कर्णिकायां निषण्णं,
विगततमसमर्हं सान्द्रचन्द्रांशुगौरम्।
गगनमनुसरन्तं संचरन्तं हरित्सु,
स्मर जिनपतिकल्पं मन्त्रराजं यतीन्द्र!

यतिवर्य! स्वर्णमयी कमल-कर्णिका में संस्थित, विगततमस्—अन्धकार रहित, ज्योतिर्मय पूर्ण चन्द्रमा की किरणों के समान गौर-श्वेत वर्ण, आकाश के अनुसरण में अभिरत, दिशाओं में संचरणशील, जिनपति-कल्प—प्रभुवर जिनेन्द्र के सदृश मंत्रराज अर्ह का तू स्मरण कर।

तात्पर्य यह है कि अभ्यासावस्था में हम एक कनक-कमल की कर्णिका में चन्द्रमा के समान उज्ज्वल अर्ह का ध्यान करे, जो (अर्ह) सारी दिशाओं को आलोकित और पूरे गगन-मण्डल को उद्योतित कर रहा हो। आगे आचार्य लिखते है—

इति सर्वत्रगं ध्यायन्नर्हमित्येकमानसः।
स्वप्नेऽपि तन्मयोयोगी, किंचिदन्यन्न पश्यति॥

इस प्रकार एकाग्रचेता योगी सर्वव्यापी अर्ह का ध्यान करता हुआ इतना तन्मय वन जाता है कि उसे स्वप्न में भी दूसरी वस्तु का दर्शन नहीं होता। केवल अर्ह में ही उसका ध्यान जुड़ा रहता है। इस प्रकार अर्ह अपने आप में अलौकिक, अद्भुत, सर्वदुःखापहारी सिद्ध वीजमन्त्र है। इसीलिए कहा गया है—

ॐ अर्ह-अर्ह गाएजा॥

—o—

२

वाना वदलने से कुछ भी न वदला,
दृष्टि जो वदली तो, सव कुछ वदला ।।ध्रुव।।

वेश को वदलता कोई, देश को बदलता ।
त्यागता है सव कुछ, वनकर भिक्षुक निकलता ।
वृत्तियाँ न वदली तो, हो कुछ भी न बदला ।
दृष्टि जो वदली तो, सव कुछ वदला ।।१।।

वाहिर की दुनियाँ यकदम छोड़ी है जाती ।
ऊपर की रिश्तेदारी तोड़ी है जाती ।
मनवा न बदला तो, हो कुछ भी न बदला ।
दृष्टि जो वदली तो, सब कुछ बदला ।।२।।

सीढियाँ है वे ही चाहे चढिए उतरिए ।
क्या है वदलना, केवल मुह को वदलिए ।
गति जो न वदली तो, हो कुछ भी न बदला ।
दृष्टि जो वदली तो, सव कुछ वदला ।।३।।

ओरे अज्ञानी ! काहे तन को सताता ?
नाविक की भूल नौका पर क्यों बल खाता ?
दिशा जो न वदली तो, हो....कुछ भी न वदला ।
दृष्टि जो वदली तो, सब कुछ बदला ।।४।।

छूटता है हेय 'चन्दन' छोड़ना न पडता ।
गिरता स्वयमेव त्याज्य, त्यागना न पडता ।
जीवन न वदला तो, हो .. कुछ भी न वदला ।
दृष्टि जो वदली तो, सव कुछ वदला ।।५।।

तर्ज—यशोमति मैया से वोले नन्द लाला

३.

बाना बदलने से कुछ भी न बदला,
दृष्टि जो बदली तो, सब कुछ बदला।

शास्त्रकार कहते हैं—

वेसो वि अप्पमाणो, असंजमपएसु वट्टमाणस्स।
किं परियत्तियवेसं, विसं न मारेइ खज्जंतं॥
पासंडीलिंगाणि व, गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तुं वदंति मूढा, लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति॥

—स० सु० ३५६/३५८

संयममार्ग में वेश प्रमाण नही है, क्योंकि वह असंयमी जनों में भी पाया जाता है। क्या परिवर्तित वेशयुक्त व्यक्ति को खाया हुआ विष नही मारता ?

लोक में साधुओं तथा गृहस्थों के तरह-तरह के लिंग-वेश प्रचलित है, जिन्हें धारण कर मूढजन ऐसा कहते है कि अमुक लिंग (चिह्न) मोक्ष का कारण है।

वास्तव में संयम-यात्रा में वेश का विशेष महत्त्व नहीं है। हमने एक गीत लिखा है—

बाना बदलने से कुछ भी न बदला,
दृष्टि जो बदली तो, सब कुछ बदला॥ध्रुव॥
वेश को बदलता कोई, देश को बदलता,
त्यागता है सब कुछ, बनकर भिक्षुक निकलता।
वृत्तियाँ न बदलीं तो हो ...कुछ भी न बदला॥

भारतीय संस्कृति में अन्तः परिवर्तन के लिए बाह्य परिवर्तन को भी स्वीकार किया गया है। इसलिए संन्यास ग्रहण करने वाला, मुनि बनने

वाला पहले अपना वेश परिवर्तित करता है। इसके पीछे कुछ रहस्य भी है। भगवान् महावीर ने कहा है—

पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं।

जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिगपओयणं॥— उत्तरा. २३/३२

मै साधु हूँ—सन्यासी हूँ, आम जनता को यह प्रत्यय करवाने के लिए, पहचान के लिए विविध प्रकार से वेश, नामादि का परिवर्तन किया जाता है। इसी प्रकार सयम-यात्रा के निर्वाह के लिए तथा ग्रहणार्थ—"मै साधु हूँ" अपने को ऐसा वोध रहने के लिए लोक में लिग का—वेश का अपना प्रयोजन है। किन्तु इन सव के बावजूद दृष्टि का बदलाव, अन्तर्-भावना का परिवर्तन, परिष्करण नितान्त आवश्यक है। यदि दृष्टि नही वदली तो कुछ नही वदला, ऐसा मानना चाहिए। कहावत है "जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि।" अपनी दृष्टि के अनुसार ही हम सृष्टि की कल्पना करते है।

वेश को वदलते है, साथ ही साथ कुछ लोग देश को भी बदल लेते है। अपना परिचित क्षेत्र छोडकर अन्यत्र चले जाते है। सव कुछ त्याग कर भिक्षुक वनकर निकल पडते है, पर यदि वृत्तियाँ नही बदली तो कुछ भी नही वदला। पातंजलयोगदर्शन का सूत्र है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। —योगसूत्र १ २

चित्तवृत्तियो के निरोध का नाम योग है।

ये वृत्तियाँ पाँच प्रकार की मानी गई है—

"वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।" —योगसूत्र १ ५

अत सही रूप में जिसकी वृत्ति वदल गई, वही योगी कहलाता है।

बाहर की दुनिया एकदम छोड़ी है जाती।
ऊपर की रिश्तेदारी तोड़ी है जाती।
मनवा न बदला तो, हो कुछ भी न वदला।
दृष्टि जो बदली तो, सव कुछ वदला॥

वाहर का संसार भय, आवेग, मानसिक, शारीरिक दु खादि कारणों से छोडा जा सकता है, ऊपर की रिश्तेदारी-पारिवारिक सम्बन्ध भी तोड़े जा सकते है, लेकिन यदि मन नही बदला तो कुछ भी नही छूटा। मन में वह संसार ज्यो का त्यो वसा रहता है, तव तक ऊपर का छोडना कोई महत्व नही रखता। राजस्थानी में एक दोहा है—

मन मैला, तन ऊजला, बगुले का सा भेख।
इससे तो कागा भला, अन्दर बाहर एक॥

एक व्यक्ति स्वभाव से बहुत क्रोधी था। बात-बात पर वह आग-बबूला हो उठता। लोगों ने उसका नाम ही ज्वालाप्रसाद रख छोड़ा। उसको एक बार ऐसी सनक सवार हुई कि मै साधु बनूगा। संसार को त्यागकर फकीरी का जीवन बिताऊँगा। अपने चिन्तन के अनुरूप उसने साधु का वेश बना लिया और लोगों को बताया कि मै अब घर में नही रहूँगा। साधु बनकर जा रहा हूँ।

वेश के परिवर्तन में लगता ही क्या है? उसने वेश के साथ अपना नाम भी बदल लिया। वह अपने पिछले इतिहास को झुठलाने पर तुला हुआ था इसलिए नाम रखा शीतलनाथ। पहले का ज्वालाप्रसाद अब शीतलनाथ बन गया।

उसे संन्यास लिए कई वर्ष व्यतीत हो गए। एक बार वह घूमता-फिरता अपने गाँव आया। लोगों को पता चला कि जो भाई ज्वालाप्रसाद था, वह स्वामी शीतलनाथ के रूप में अपने गाँव में आया है। सहज ही उसके पिछले स्वभाव आदि की चर्चा चल पड़ी। एक व्यक्ति ने, जो उससे इतना परिचित नही था, यह चर्चा सुनी तो उसके मन में विचार आया कि देखें, सन्त बनने से उस व्यक्ति के स्वभाव में कितना परिवर्तन आया है? संन्यास का क्या असर है? वृत्तियों में कुछ परिवर्तन, परिष्कार आया है या नहीं, इस बात के परीक्षण के लिए वह उस साधु के पास आया। भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और पास बैठ गया। अनजान की ज्यों उसने धीरे से पूछा—महात्माजी! आपका नाम क्या है? बड़े गर्व और रौब से महात्मा बोले—मेरा नाम शीतलनाथ है। दो-चार मिनट के बाद फिर उसने नम्रता से पूछा—स्वामीजी! मेरी स्मरण-शक्ति कुछ कमजोर है, मै भूल गया कि आपने क्या नाम बतलाया था। एक बार फिर बतलाने की कृपा कीजिए। इतना सुनते ही महात्मा जी कुछ तमककर बोले—बेसमझ! इतनी देर में भूल गया? मेरा नाम शीतलनाथ है। कुछ मिनट निकले। भक्त ने सिर खुजलाते हुए कहा—हाय! मैं तो फिर भूल गया। महात्माजी! आप श्रीमान् का नाम क्या है? एक बार फिर बतलाने का कष्ट करे। इतना सुनते ही महात्माजी का पारा चढ़ गया। हाथ में जो पोथा लिये बैठे थे, उसे उठाकर पटका और बोले—तूने दिमाग में गोबर भर रखा है, दो बार नाम बतला दिया, तुझे याद नही हुआ। बेअक्ल कहीं का? अब ध्यान से सुन ले, मेरा नाम शीतलनाथ है। भक्त ने नम्रता से कहा—बड़ी कृपा की, अब याद रखूगा। थोड़ी ही देर हुई, भक्त ने कहा—अफसोस! आपका नाम तो मैं फिर भूल गया। एक बार और

बोलने की मेहरबानी करे। इतना सुनते ही महात्मा ने पास पडा सोटा उठाया, भक्त को पीटने के लिए तैयार हो गए, बोले—मूर्ख कही का ! उल्लू ! बिना मतलब दिमाग चाटने आ गया। एक नाम तुझे याद नही रहता। आदमी है या पशु है ?

भक्त ने बड़े मधुर स्वर में चुटकी ली—

देश-वेश कूं छोड़कर, नाम धरायो शीतल।
बाहर सोनो सोलमो, अन्दर कोरो पीतल ॥

इसी घटना प्रसग को लेकर एक कवि ने साखी गढ दी—

पहली बोल्यो पाधरो, दूजै घुड़को कीधो।
तीजै पोथो पटक ने, चौथे सोटो लीधो ॥

इसलिए ऊपर के त्याग से कुछ भी कार्य सिद्ध नही होता। वास्तव में मन को ही बदलना आवश्यक है।

सीढ़ियाँ हैं वे ही चाहे चढ़िए-उतरिए।
क्या है बदलना केवल मुंह को बदलिए।
गति जो न बदली तो, हो ······ कुछ भी न बदला ॥
दृष्टि जो बदली · ···· · · · ॥

किसी मकान में ऊपर जाने और नीचे जाने की सीढियाँ दो नही होती। वे ही सीढियाँ ऊपर चढने के काम आती है, वे ही नीचे उतरने के काम आती है। बस केवल चलने की दिशा बदलनी पड़ती है। यदि ऊपर चढते समय मुँह उत्तर की ओर है तो नीचे उतरते समय दक्षिण की ओर हो जाता है। केवल गति की दिशा बदलते ही सब कुछ बदल जाता है। अगर दिशा नही बदलती तो कुछ भी नही बदलता।

जब हम तेरापथ सघ में थे, तो लुधियाना चातुर्मास के बाद आचार्यजी के साथ अमृतसर की तरफ जा रहे थे। काफी रास्ता पार हो चुका था। अमृतसर कुछ किलोमीटर ही रहा था। एक गाँव से सुबह हमने विहार किया। काफी सन्त साथ थे। सब अपने-अपने ग्रुपो (समूहो) में चल रहे थे। मुनि लालचन्दजी हमारे अनन्य सहयोगी थे। वे चाय-पानी आदि के लिए रुक गये और हम सब आगे बढ़े। लुधियाना-अमृतसर रोड उस गाँव से एक किलोमीटर दूर थी। हमने रास्ता पार कर सडक पकडी और अमृतसर की ओर चल पड़े। हमें वहाँ से आठ-नौ किलोमीटर जाकर एक गाँव में ठहरना था। इधर मुनि लालचन्दजी आदि जो सन्त पीछे रहे गए थे, उन्होने विहार किया। सयोगवश मुनि लालचन्दजी अकेले पीछे

रह गए तथा अन्य सन्त तेज चलकर आगे हो गए। ज्यों ही मुनि लालचन्द जी सड़क पर पहुंचे, दिग्भ्रान्ति ऐसी हुई कि वे वापस लुधियाना की ओर चल पड़े। सडक तो ठीक थी लेकिन वे गलत दिशा में घूम गए। वे अपनी ही धुन में आगे बढ़ रहे थे। सड़क के किनारे लगे किलोमीटर के पत्थर दिशा-संकेत दे रहे थे, पर उन्होंने ध्यान नही दिया और आगे बढ़ते गए। चार-पाँच किलोमीटर चलने के बाद उनके मन में विचार भी आया कि आज क्या बात है, रास्ते में कोई सन्त चलते दिखाई नहीं दिये। फिर स्वयं ही समाधान कर लिया कि शायद आज मैने देर कर दी है या मार्ग में धीमी चाल से चला हूँ। लगता है, सारे सन्त-सतियाँ आगे निकल गए। इस प्रकार सात-आठ किलोमीटर मार्ग उन्होंने तय कर लिया, फिर पता नहीं उन्हें क्या सूझा कि सामने से आते एक राहगीर से पूछा—भाई! अमुक गाँव कितनी दूर और है। उसने कहा—महाराज जी! वह तो पीछे छोड़ आए। अब तो आप लुधियाना की तरफ बढ़ रहे है। वह गाँव तो अमृतसर के पास है, यहाँ कहाँ आएगा? आप कैसे पूछ रहे है? अब उनकी समझ में आया कि वे उलटे रास्ते आ गए है? वहाँ से वे वापस मुड़े तथा अमृतसर की ओर चले।

उधर हम सब लोग अपनी मजिल के मध्यवर्ती गाँव में पहुँचकर मुनि लालचन्दजी की प्रतीक्षा कर रहे थे कि वे अभी तक क्यों नही आये रास्ता भूलने का तो प्रश्न ही नहीं था, क्योंकि विस्तीर्ण "नेशनल हाइवे" सड़क थी। सबको यही सन्देह हुआ कि कही रास्ते में बीमार न हो गए हों अथवा कोई दुर्घटना न हो गई हो, क्योंकि उस सडक पर वाहनों का भारी आवागमन था। बारह बजे, एक बजा, दो बजने को आये। बड़ी चिन्ता की बात हो गई। हमने किसी मोटर साइकिल वाले भाई को रास्ते में पता लगाने की प्रेरणा की। वह तुरन्त रवाना हुआ तथा थोड़ी देर में आकर बताया कि मुनि लालचन्दजी ३-४ किलोमीटर दूर है, आ रहे है। वे लगभग ८ किलोमीटर उधर चले गए थे, वापस वहाँ से मुडकर मूलस्थान पर आए तथा वहाँ से ८-९ किलोमीटर का यह रास्ता तय किया। इस प्रकार करीब २६-२७ किलोमीटर का विहार हो गया। वे ३ बजे के आसपास गाँव में पहुंचे। उस भाई के सूचना देने पर सन्त पानी लेकर सामने गए।

जब वे पहुँचे तो सब सन्त पूछने लगे कि आज आप कहाँ रह गए थे? कहाँ चक्कर खा लिया? मुनि लालचन्दजी ने बड़े भोलेपन से कहा

—भूल तो मेरी कुछ भी नही हुई। मै सड़क पर भी आ गया था, पर मुह अमृतसर की ओर न कर लुधियाना की ओर कर लिया, इसलिए चक्कर पड गया। सारे सन्त हँस पड़े। और फिर भूल क्या होती है? यही तो भयकर भूल है। यदि दिशा उल्टी पकड ली तो सही गन्तव्य तक कैसे पहुँचेगे ?

कहने का तात्पर्य यह है कि दिशा बदलते ही मजिल बदल जाती है, ध्येय वदल जाता है, लक्ष्य वदल जाता है। इसलिए दिशा का वदलाव ही महत्वपूर्ण वात है। आने-जाने की सडक दो नही होती, राहगीर को वापस लौटने के लिए दिशा-परिवर्तन ही करना पड़ता है। साधक की वाहर भ्रमणशील दृष्टि भीतर की ओर मुड़ जाए, यही सही परिवर्तन है, यथार्थ संन्यास है। देश-वेश आदि का त्याग वहुत छोटा एव अकिंचित्कर है। जव तक अन्तर्वृत्तियाँ परिष्कृत नही होती, तब तक वेश परिवर्तन की उपयोगिता नही है। "समणसुत्त" में कहा गया है—

भावो हि पढमलिगं, ण दव्वलिगं च जाण परमत्थं।
भावो कारणभूदो, गुणदोसाणं जिणा विंति ॥
भावविसुद्धिणिमित्तं, वाहिरगथस्स कीरए चाओ।
वाहिरचाओ विहलो, अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥

—स० सु० ३६०, ३६१

वास्तव में भाव ही मुख्य लिग है। द्रव्य-लिग परमार्थ नही है। क्योकि भाव को ही जिनदेव गुण-दोषो का कारण कहते है। भावो की विशुद्धि के लिए ही वाह्य परिग्रह का त्याग किया जाता है। जिसके भीतर परिग्रह की वासना है, उसका वाह्य त्याग निष्फल है। इसलिए हमने आगे लिखा—

ओ रे अज्ञानी ! काहे तन को सताता,
नाविक की भूल नौका पर क्यो बल खाता।
दिशा जो न बदली तो हो ··· ॥
दृष्टि जो वदली ॥

अरे अज्ञानी ! तन को क्यों सता रहा है? क्यो उत्पीडित कर रहा है? तन को सुखाने से क्या सधेगा? जिसे त्यागना है, यदि उसे नही त्यागा गया तो तेरा सारा प्रयास विफल सिद्ध होगा। तन को सन्त्रस्त वनाने से, मारने से क्या होगा? मारना तो वासना को है। कवीर साहब तीखा व्यग्य करते है—

बांबी कूटे बापड़ा, सॉप न मार्‌यो जाय ।
बांबी तो खावे नही, सॉप जगत नै खाय ॥

"चन्द-चरित" के रचयिता यति मोहनविजयजी लिखते है—

बाहिर क्रिया-कलाप थी, निर्मल न थयो कोय ।
ज्यों विषधर कंचुकि तजे, निज निर्विष नही होय ॥

केंचुल के त्याग से सर्प निर्विष नही होता। विष तो उसकी डाढ़ में है। इसी भाँति अन्तर्विवेक के बिना अन्न, जल, वस्त्र आदि का त्याग साधना में विशेष सहायक नही बनता। हमारे देश में अनेक साधना पद्धतियाँ प्रचलित है। तदन्तर्गत तन को सताने की भी विभिन्न सम्प्रदायों में विविध विधियाँ प्रयोज्य हैं। कई संन्यासी नखों को बहुत लम्बा बढ़ा लेते है, कुछ संन्यासी जटाधारी, कुछ एक कनफटे योगी, कुछ पैर पर खड़े होकर ध्यान करने वाले तपस्वी, कुछ लेटकर नींद न लेने वाले मुनि, कुछ महीनों तक तन को भूखा मारने वाले सन्त आदि तन को सताने वाले विविध रूपो में दृष्टिगोचर होते है। पर अन्तर्दृष्टि के सम्यक् हुए बिना, वृत्तियों की शुद्धि के बिना उन्हें बाल-तपस्वी ही कहा जाता है। वह तप अज्ञान का ही परिणाम माना जाता है। पूज्य कालूगणी इस विषय पर एक कवित्त फरमाया करते थे—

नख बिन कटा देखे, शीश भारी जटा देखे,
योगी कनफटा देखे, छार लाये तन में।
मुनि अनबोल देखे, जाति विध छोल देखे,
करत किल्लोल देखे, वनखण्डी वन में ॥
वीर और शूर देखे, केते गुणपूर देखे,
माया में अरूर देखे, भूल गए धन में।
जीवन के दुखी देखे, आदि अन्त सुखी देखे,
पर ऐसे नहीं देखे, जाके कामना न मन में ॥

इसलिए शरीर को सताना तप का लक्षण नही है। गीता में बड़ा सूक्ष्म विवेचन है—

विषया विनिवर्त्तन्ते, निराहारस्य देहिन ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य, परं द्रष्टवा निवर्तते ॥ .. गीता २/५९

निराहार व्यक्ति के विषय निवर्तित हो जाते है, क्षीण हो जाते है। यानी जब मनुष्य लम्बी भूख निकालता है, तब उसकी आँख, नाक, कान,

जननेन्द्रिय आदि की वासनाएँ क्षीण हो गई है, ऐसा लगता है, किन्तु गीताकार कहते है, केवल ऊपर के विषय क्षीण होते है, उनका आभ्यन्तर रस, सूक्ष्म वासना क्षीण नही होती। जव ऊपर पुन भोजन लिया जाता है तो फौरन वे इन्द्रिय-विषय प्रवल हो उठते है। वही रस आविर्भूत हो जाता है। इसलिए आगे कहा गया—"**रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वानिवर्तते**" इस देहधारी का रस भी—भौगिक रस भी परमात्माभिमुखी भावना के साकार हो जाने से निर्वतित हो जाता है, मिट जाता है।

इसलिए भगवान् महावीर ने छह वाह्य तपों के साथ छह आभ्यान्तर तपों को भी जोडा है। वाह्यतप के साथ आभ्यन्तर तप के सयोजन से तप सार्थक होता है। इसीलिए कहा गया—

ओ रे अज्ञानी, काहे तन को सताता,
नाविक की भूल, नौका पर क्यो बल खाता।

यह शरीर तो नौका है। इसके सहारे हम भवसमुद्र से पार जा सकते है। नाविक है हमारा जीवात्मा। यदि उसका शोधन नही होता तो शरीर को सत्रस्त करने से क्या लाभ है? नौका तो चलाये चलती है। यदि नाविक सही है तो नौका भी सही रास्ते जाएगी, डूवने से बच जाएगी। यह समझने की वात है कि वास्तव में भूल नाविक की है या नौका की है।

मुगेर के पास एक गाँव में कुछ नाविक चोरी का सामान एक नौका में डालकर, चलने को उद्यत हुए। रात्रि का समय था। सामान जमाकर रवाना हो गए। पूरे जोश के साथ डाँड चलाकर नाव खेने लगे। वे जल्दी से जल्दी मुगेर की सीमा से वाहर हो जाना चाहते थे। पूरी रात वीत गई। सुवह का हलका-हलका उजाला होने लगा। नाविकों ने देखा, वे तट के पास ही है तथा लोगों का कुछ-कुछ आवागमन शुरू हो गया है। उन्हे आस-पास के घाट, वृक्ष आदि जाने पहचाने लगे, यह क्या वात हुई? फिर जव उन्होंने ध्यान से इधर-उधर देखा, गौर किया तो पता चला वे तो वही के वही है, जहाँ से रवाना हुए थे। वास्तव में नाव जिस खूटे से बंधी थी, वे उसे वहाँ से खोलना ही भूल गए थे और हडवडी में डाड खेने लगे थे। रात के गहरे अधेरे में वे जान नही पाये कि नाव आगे वढ रही है या वही वंधी है?

यह नाविक की भूल है, नौका का इसमें क्या कुसूर है ? भूल की जिम्मेवारी नाविक की है। जब तक नाविक बेभान है, तब तक पार होना कठिन है। किसी कवि ने कहा है—

सब मेहनत खाली गई, नौका हुई न पार।
मै के खूटे बंध रही, जीवन की पतवार॥

इसलिए कहा गया—"नाविक की भूल, नौका पर क्यों बल खाता ? कई बार हम शब्द-जाल में पड़कर भी मूल अर्थ से दूर चले जाते है, भ्रान्ति में पड़ जाते है। अक्सर लोग कहते हैं कि जैन परम्परा में तो शरीर को कष्ट देना ही धर्म माना गया है और उसकी पुष्टि के लिए वे दशवैकालिकसूत्र के उस गाथांश को उद्धृत करते है जिसमें "**देहे दुक्खं महा-फलं**" का उल्लेख है। इसका अर्थ किया जाता है कि देह को दुःख देने से महान् फल की प्राप्ति होती है। वास्तव में इस पंक्ति का यह तात्पर्य नही है। इससे पूर्व की तीन पंक्तियाँ है—

खुहं पिवासं दुसेज्जं, सीउण्हं अरई भयं।
अहियासे अव्वहिओ, देहे दुक्खं महाफलं॥ —दश. ८/२७

अर्थात् क्षुधा, पिपासा, दुःशय्या, शीत, उष्ण आदि जो परीषह-कष्ट उत्पन्न होते हैं, मुनि अव्यथित रूप में उनका अध्यास करें, उनको समभाव से सहे। क्योंकि देह में उत्पन्न हुए दुःख, क्लेश आदि यदि समता के साथ सहे जाएं तो महाफल की प्राप्ति होती है। यह महाफल देह को दुःख देने से प्राप्त नही होता वरन् उत्पन्न दुःख को समता से सहने से प्राप्त होता है। इसका प्रमाण हमें भगवती सूत्र में स्पष्टतया मिलता है, जिसे श्री जयाचार्य विरचित आराधना की आठवी गीतिका में इस प्रकार प्रति-पादित किया गया है—

जिम तप्त तवे जल बिन्दू विललावै रे।
तिम दुःख समचिते सह्यां अघ-क्षय थावे रे॥ ८॥
सूक्यो तृण पूलो जिम अग्नि विषेंहो रे।
शीघ्र भसम हुवै तिम कर्म दहेहो रे॥ ७॥—आराधना ८/७.८

संतप्त तवे पर गिरी हुई पानी की बूंदे तुरन्त नष्ट हो जाती है, विलीन हो जाती हैं, इसी प्रकार वेदना उत्पन्न होने पर समता से सहने वाले मुनि के महानिर्जरा होती है। जिस प्रकार सूखा घास अग्नि के संयोग से तत्काल प्रज्वलित हो उठता है, वैसे ही भीषण वेदना में भी समता रखने वाला महामुनि पूर्वकृत कर्मो को भस्म कर डालता है।

तात्पर्य यह है कि देह के साथ उत्पन्न होने वाले सामयिक कष्टो या अनुकूलता-प्रतिकूलता को जो साधक सहज भाव से आत्मसात् कर लेता है, वही वास्तव में साधना की गहराई में उतर पाता है। साधक के लिए सौकुमार्य का त्याग आवश्यक बतलाया गया है। इसके पीछे भाव यह है कि साधक आरामतलब न बन जाए, लोक-भाषा में "सुखशीलिया" न बन जाए। इसीलिए कहा गया—"**आयावयाही चय सोउमल्लं।**"

शिष्य ! तू आतापन ले तथा सुकुमारता को छोड़।

आचार्य देवनन्दी कहते है—

अदुःख-भावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्मात् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥

सुख ही सुख में समृद्ध हुआ, प्राप्त हुआ ज्ञान दुःखों के—प्रतिकूलताओं के आने पर क्षीण हो जाता है, इसलिए योगी दु.खो के साथ अपनी आत्मा को यथाशक्य भावित बनाए।

वास्तव में साधना-काल में समता का स्थान सर्वोपरि है तथा वह महान् फल प्रदान करने वाली है। गीता में कहा गया है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः, स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ —गीता २/५६

मुनि किसे कहा जाता है, इसे स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि जो दु.खों में अनुद्विग्न बना रहता है, उद्वेग नही पाता, व्यथित नही होता सुखों की जिसे स्पृहा-अभिलाषा नही होती, जो राग, भय और क्रोध से ऊपर उठ चुकता है वही स्थितप्रज्ञ वास्तव में मुनि कहलाता है। इसीलिए कहा गया—

ओ रे ! अज्ञानी काहे तन को सताता
नाविक की भूल नौका पर क्यों बल खाता
दिशा जो न बदली तो हो ·· कुछ भी न बदला।

इसलिए जीवन की दिशा को बदलना आवश्यक है। चिन्तनधारा में परिवर्तन लाना वाछनीय है। यदि चित्त-वृत्तियों में समता एव सहजता का समावेश नही हुआ तो कुछ भी न बदला। अन्तिम पद्य है—

छूटता है हेय "चन्दन" छोड़ना न पड़ता।
गिरता स्वयमेव त्याज्य त्यागना न पड़ता॥

जीवन न बदला तो हो ····कुछ भी न बदला ।
दृष्टि जो बदली································ · ॥

हम गहराई से देखे तो हेय-उपादेय का ज्ञान होने पर हेय स्वतः छूट जाता है, उसे छोड़ना नही पड़ता। छोड़ना कृत्रिम है, छूटने में स्वाभाविकता है, सहजता है। छूट गया तो छूट गया, हमें याद नही रहता कि कब छूटा ? क्यों छूटा ?

जब उसकी हेयता समझ में आ गई तो फिर उसे छोड़ने में प्रयत्न नहीं करना पड़ता। मैं अक्सर बुजुर्ग भाइयों से पूछता हूँ कि आपने गिल्ली-डण्डा खेलने का त्याग कब किया ? या काँच की गोलियों से खेलना कब छोड़ा या जिन पतंगों के पीछे बालकों की टोली जी-जान लगाये दौड़ती है, उनका त्याग आपने कब किया ? उत्तर स्पष्ट है कि जब यह समझ में आ गया कि ये बच्चों के खेल हैं, तो ये स्वतः छूट गये। जब तक मन में यह समझ नहीं आती, तब तक त्याग नहीं होता और समझ आने के बाद त्याग करना नहीं पड़ता। हेय समझ लेने पर उस ओर दृष्टि ही नही जाती। फिर कहा गया—

गिरता स्वयमेव त्याज्य त्यागना न पड़ता।

जो त्याज्य है, वह स्वत. छूट जाता है, उसे छोड़ना नही पड़ता।

एक सेठ एक संन्यासी के पास पहुँचा। प्रणाम-नमस्कार कर वह पास बैठा तथा महात्मा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहने लगा कि आपने बड़ा त्याग किया है, आप महान् साधक है। मुस्कराते हुए महात्मा ने कहा—सेठ ! हमारा त्याग कहाँ, त्याग तो तुम्हारा बड़ा है। सेठ ने कहा—महाराज ! हम लोगों में कहाँ त्याग है ? महात्मा बोला—हवेली से कूड़ा-कचरा निकालकर बाहर फेकना बड़ा त्याग है अथवा कूड़े-कचरे के लिए हवेली को त्यागना बड़ा त्याग है ? सेठ ने कहा—महाराज ! यह आप क्या पूछ रहे है ? त्याग तो हवेली का बडा है, कूड़े-कचरे का क्या त्याग ? वह तो त्याज्य ही है। महात्मा ने कहा—इन सासारिक भोगों को हमने कूड़े-कचरे के समान माना है, इसलिए हमारे त्याग का क्या महत्व है ? पर कूड़े-कर्कट के सदृश सासारिक भोगो के लिए ही तुमने तो आत्मा रूपी हवेली तक का त्याग कर रखा है, कभी उस पर दृष्टिपात नही करते। क्या यह महान् त्याग नही है ? सेठ की आँखे खुल गयी।

तात्पर्य यह है कि त्याज्य को त्यागना नही पडता, वह तो समझ आते ही स्वतः पृथक हो जायेगा, जीवन शुद्ध हो जाएगा, परिवर्तित हो जाएगा। यदि यह नहीं होता तो इसका अर्थ है कि हमने त्याज्य को वस्तुतः समझा ही नहीं है। इसीलिए कहा गया है कि वेश बदलने से नहीं, दृष्टि बदलने से कल्याण सम्भव है।

वास्तव में दृष्टि का, वृत्तियों का, मन का, जीवन का, गति का और दिशाओं का बदलना ही सच्चा बदलना है। इन सब के बदलाव से ही साधना बलवती एव फलप्रदा बनती है, जीवन-पथ आलोकित होता है।

—o—

४

जिसको तू खोज रहा वन्दे,
वह मालिक तेरे अन्दर है ।
वाहर के मन्दिर कृत्रिम हैं,
सच्चा मन्दिर तो अन्दर है ।।ध्रुव।।
ले पत्र-पुष्प-जल-धूप-दीप,
तू किसकी पूजा करता है ।
सचमुच जिसकी पूजा होती,
वह दिव्य देव तो अन्दर है ।।१।।
धोने को अपना पाप मैल,
क्यों तीर्थों बीच भटकता है ?
जिसमें सब पाप मैल धुलता,
वह विमल तीर्थ तो अन्दर है ।।२।।
ग्रन्थों पंथों का गौरव तू,
चिल्ला-चिल्ला कर गाता है ।
जिससे झट ग्रन्थि-भेद होता,
वह अलख ग्रन्थ तो अन्दर है ।।३।।
बिना लक्ष्य की दौड़-धूप,
कुछ भी परिणाम न लायेगी ।
वह वाहर कैसे मिल सकती,
जो चीज आपके अन्दर है ।।४।।
वाहर के झंझट छोड़, जोड़,
'चन्दन' अपने से अपने को ।
जिसको है वन्दन वार-वार,
वह चिदानन्द तो अन्दर है ।।५।।

तर्ज—इक दिल के टुकड़े हजार हुए

४.

जिसको तू खोज रहा बन्दे ! वह मालिक तेरे अन्दर है ।

इष्टोपदेश में कहा गया है—

परः परस्ततो दुःखमात्मेवात्मा ततः सुखम् ।
अतएव महात्मानस्तन्निमित्तं कृतोद्यमाः ॥ ४४ ॥

पर, पर ही है । अतः वह दुःख का ही कारण बनता है । आत्मा आत्मा है, स्व है इसलिए वह सुख का हेतु है । अतएव महात्मा लोग उस आत्मा के लिए ही—आत्मा की स्वरूप-स्थिति को पाने के लिए ही प्रयत्न करते है ।

आत्मा स्व है । जो स्व है, सदा अपने पास है । उसकी खोज क्या ? उसका अनुसंधान क्या ? इसी भावना को लेकर लिखा गया एक गीत यहाँ प्रस्तुत है—

जिसको तू खोज रहा वन्दे ! वह मालिक तेरे अन्दर है ।
वाहर के मंदिर कृत्रिम है, सच्चा मंदिर तो अन्दर है ॥

वन्दे ! तू जिसकी खोज कर रहा है, वह स्वामी—प्रभु तेरे भीतर विराजित है । तू उस मालिक की खोज में मदिर, मस्जिद, मठ और गुरुद्वारों की परिक्रमा कर रहा है, किन्तु तुम्हें इस वस्तुस्थिति का आकलन करना है, ये सव कृत्रिम है, मनुष्य निर्मित है । शाश्वत मदिर तो स्वयं तेरे भीतर है ।

अज्ञानी प्राणी अनादि काल से ही यह भूल करता जा रहा है, वह वाहर प्रभु को खोजता है । खोजते-खोजते हार जाता है पर खोज सफल नही हो पाती, क्योंकि इन अशाश्वत पदार्थो में शाश्वत प्रभु को पाना कैसे सम्भव है ?

ले पत्र-पुष्प-जल-धूप-दीप, तू किसकी पूजा करता है ।
सचमुच जिसकी पूजा होती, वह दिव्य देव तो अन्दर है ॥
जिसको तू खोज रहा .... ॥

मनुष्य उस परम-प्रभु की पूजा के लिए पत्र, पुष्प, जल, अक्षत, धूप, दीप, नैवेद्य आदि सामग्री एकत्र करता है, विधिवत् पूजन कर उसे प्रसन्न करना चाहता है, पर वह दिव्य देव तो वास्तव में अपने घट में ही अवस्थित है। भक्त रैदास निर्गुण परमात्मा की उपासना करते हुए इन बाह्य साधनों की अपवित्रता व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं—

राम मै पूजा कहा चढ़ाऊँ ?
फल अरु फूल अनूप न पाऊँ।
थनहर दूध जो बछरु जुठारि,
पुहुप भंवर, जल मीन बिगारि।
मलयगिरि बेधियो भुयंगा,
विष अमृत दोअ एक संगा।
मन ही पूजा, मन ही धूप,
मन ही सेवूं सहज स्वरूप।
पूजा अर्चा न जानूं तेरी,
कहै "रैदास' कवन गति मेरी ?

प्रभो ! यदि मैं फलों-फूलों से आपकी पूजा करने की बात सोचू तो वे फल-फूल पंखियों द्वारा उच्छिष्ट हैं, फूलों का रस जब-तब भौंरे जूठते रहते हैं। यदि दूध से पूजा करूँ तो वह बछड़े का जूठा किया हुआ है, पानी को मछली गन्दा करती रहती हैं तथा चन्दन साँपों द्वारा अपवित्र किया हुआ है। चन्दन के वृक्ष पर लिपटे साँप उसमें डंक मारते रहते हैं, जिससे उसमें अमृत और विष साथ मिले हैं। अन्य कोई शुद्ध सामग्री न पाने के कारण प्रभो ! मै तो मन के भावों से ही आपकी पूजा करता हूँ। मन ही मन्दिर है, मन ही पूजा है और मन ही धूप है।

यदि हम गहराई में जाकर देखें तो स्थितियाँ बड़ी विचित्र हैं। जो चँवर भगवान् के मुखारविन्द पर वीजे जाते है, वे वास्तव में गाय के पूँछ के वाल होते है, जो गाय के मांसपिण्ड सहित होते है। पूजा में विशेष रूप से स्थान पाने वाला शंख भी हड्डी का ही एक रूप है। ढोल ऊँट या भैंसे के चर्म से तैयार किए जाते है। इसलिए सन्त रैदास इन वाह्य साधनों की उपेक्षा करते है, कहते है—मन ही पूजा है, मन ही धूप-अगरवत्ती है। मन से ही मैं आपके ज्योतिर्मय स्वरूप की पूजा-अर्चना करता हूँ।

वहिर्दृष्टियुक्त लोग इन्ही चीजों में उलझे रहते है। वे इन्ही साधनों से प्रभु को प्रसन्न करना चाहते हैं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक छोटी सी बंगला कविता में वहुत तीखा व्यंग्य कसा है।

एक शहर में भगवान् की रथयात्रा निकल रही है। चाँदी के सुन्दर-सुसज्जित रथ पर भगवान् की प्रतिमा को प्रतिष्ठित किया गया है। हजारों की भीड रथ के पीछे-पीछे चल रही है। सैकडों लोग रथ के आगे झुकते है, भूमि पर मस्तक रखकर प्रणाम करते है और श्रद्धाभाव के साथ चल पड़ते है। कीर्तन-मण्डली उत्साह से कीर्तन करती हुई साथ चल रही है। कहते है, रथ के मन में कुछ अहकार हो गया। कहा गया—

"रथो भावे आमि देव।'

रथ सोचता है, वास्तव में मै ही देव हूँ, सैकड़ो-हजारो लोग मेरे सामने माथा टेक रहे है। यह सारी पूजा मेरी ही हो रही है। और इधर—

"पथो भावे आमि देव"

जिस पथ पर वह रथ-यात्रा चल रही है, वह सोचता है कि देव तो मैं ही हूँ। मेरे ही ऊपर लोग माथा टेक रहे है, मेरी धूलि मस्तक पर चढा रहे है।

रथ में प्रतिष्ठित मूर्ति में भाव उभरता है—

"मूर्ति-भावे आमि देव"

मूर्ति सोचती है कि रथ तो मेरा वाहन है, पथ केवल पथ ही है, देव तो वास्तव में मै ही हूँ। ये लोग मेरी ही पूजा कर रहे है। मेरे ही दर्शनों के लिए हजारों की भीड़ एकत्रित हुई है।

अन्त में विश्वकवि कहते है—"हाँसे अन्तर्यामी।"

अन्तर्यामी रथ, पथ और प्रतिमा के चिन्तन पर मुस्करा रहे है। इनके अज्ञान पर हँस रहे है। पूजा इन सब की कहाँ है? पूजा तो बस परम प्रभु अन्तर्यामी की है। पूरा पद है—

रथो भावे आमि देव, पथो भावे आमि देव,
मूर्ति भावे आमि देव, हाँसे अन्तर्यामी।

हम गहराई से देखे तो वास्तव में पूजा तो उस अन्तर्यामी की ही होती है और वह बाहर नही, हमारे मन-मन्दिर में ही विराजमान है।

धोने को अपना पाप मैल, क्यों तीर्थों बीच भटकता है।
जिसमें सब पाप मैल धुलता, वह विमल तीर्थ तो अन्दर है॥
जिसको तू खोज रहा बन्दे! ······ · ·· ···· · ॥

मनुष्य अपने आपको बड़ा बुद्धिमान समझता है। जीवन-भर का पाप वह तीर्थों में जाकर धोना चाहता है, एक बार गंगा-यमुना में गोता लगाया और शुद्ध हो गया, पावन हो गया। जन्म-जन्मान्तर के पाप-पुज एक वार के स्नान मात्र से धो डालना चाहता है। लेकिन ज्ञानी कहते है, जिस तीर्थ में सारे पाप धुलते है, वह विमल तीर्थ तो स्वय तुम्हारे भीतर है। वह तीर्थ वाहर कहीं नहीं है। यह विषय वड़ा विवादास्पद रहा है कि तीर्थ-स्नान से, यात्रा से, दर्शन से आत्मा पर लगे पापकर्म छूट जाते है। यदि जल-स्नान से आत्म-शुद्धि होती, भवसागर से पार होने की सम्भावना होती तो सवसे पहले जलचर जीवों का उद्धार होता, क्योंकि वे जीवन-भर जल में ही गोता लगाते रहते है। यदि स्नान मात्र से शुद्धि होती तो वड़े-वड़े ऋषि-मुनि हजारों वर्षों तक तप साधना क्यों करते? और यह क्यों कहा जाता कि **"अवश्यमेव भोक्तव्यं कृत कर्मशुभाशुभम्"** जो कुछ शुभाशुभ कर्म किये गये है, उनका फल अवश्य भोगना पड़ता है। लिखा है—

यथा धेनुसहस्रेषु, वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतंकर्म, कर्त्तारमनुगच्छति॥

हजारों गौओं के समूह में भी वछड़ा तुरन्त अपनी माँ को पहचान लेता है और उसके पीछे हो जाता है। इसी प्रकार अपने पूर्वकृत कर्म कर्त्ता के पीछे चलते है, उसका अनुमगन करते है। प्राचीन साहित्य में एक सुन्दर रूपक आता है—

एक वार देवताओं की सभा हुई। सारे छोटे-वड़े देव सम्मिलित हुए। इन्द्र स्वयं सभा की अध्यक्षता कर रहे थे। परस्पर परिचर्चा चलने लगी। किसी देव ने परिषद के मध्य खड़े होकर गंगा को सम्वोधित करते हुए कहा—पापहारिणी गंगे! तू वड़ी पापिनी है। सारे संसार का पाप तेरे अन्दर आता है। किसी ने कोई पाप किया और तेरे जल में गोता लगा लिया, वह तो शुद्ध हो गया पर सारा पाप तेरे में समा गया। इस प्रकार हजारों-हजारों व्यक्ति प्रतिदिन तेरे अन्दर पाप धोते है। वे तो पवित्र हो जाते हैं पर तेरी शुद्धि कैसे होगी? तू तो भारी पाप-मल से मलिन वन चुकी है। गंगा मन ही मन वड़ी हैरान थी। इस देव ने तो भरी सभा में मेरी प्रतिष्ठा पर वड़ी चोट की। सुरसरिता ने विनम्र भाव से कहा—देव! आपका कथन तो ठीक है। मै सवका पाप धोती हूँ, पर मेरे में वह पाप एकत्रित कहाँ होता है? मैं तो उस पाप को प्रवाह के साथ समुद्र में छोड़ आती हूँ। स्वयं तो मैं शुद्ध की शुद्ध वनी रहती हूँ।

सारे देवता खिलखिला उठे। गंगा ने ठीक कहा है। सारे पापों का आश्रय तो सागर ही है। इसमें केवल गगा का ही नही, यमुना, सरस्वती, कृष्णा, कावेरी, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, गोदावरी, गोमती—आदि सभी नदियों में एकत्रित पाप आकर गिरता है। इसलिए समुद्र ! तुम वास्तव में बड़े पापी हो। समुद्र भी सहसा असमजस में पड़ गया। फिर कुछ सोचकर उसने उत्तर दिया—ठीक है, सारी नदियों का पाप मेरे में आता है पर मै उस पाप को अपने पास कहाँ रखता हूँ ? मै तो मेघ के बहाने उस सारे पाप को ऊपर प्रक्षिप्त कर देता हूँ, उडा देता हूँ। इसीलिए मेघो का वर्ण श्याम होता है, सब देखते ही है।

बन्धुओ ! इस प्रकार वह पाप पर्जन्यो-मेघो के अधिष्ठाता देवराज इन्द्र के पास पहुँच जाता है। सभी देवों ने एक स्वर से कहा—यह बात बिल्कुल सही है। देवराज ! सारे पापो के अधिपति आप ही है। इन्द्र हैरान थे। सभा के अध्यक्ष पर दुनिया-भर के पापों की जिम्मेवारी आ पड़ी। सारे किये, अनकिये अपराध उनके सिर मढ़ दिए गये। कुछ चितन के बाद इन्द्र ने कहा—आपका आरोप बिल्कुल ठीक है। पाप मेरे पास आता अवश्य है, पर मै पानी बरसाने के बहाने जिसका पाप होता है, उसी के ऊपर गिरा देता हूँ। इसीलिए कही अतिवृष्टि, कही अनावृष्टि, कही तूफान, कही बाढ आदि के रूप में उन पापियों का पाप उन पर ही जा गिरता है।

तात्पर्य यह है कि किये हुए कर्म प्रत्येक पाणी को भोगने ही पड़ते है।

फिर, तीर्थ-यात्रा के पीछे मूल भावना क्या है ? उसकी इतनी विशेषता क्यों मानी गई है ? इस पर गहरा चिन्तन करने से प्रतीत होता है कि एक तो तीर्थ-यात्रा के बहाने व्यक्ति घर के झझटो से मुक्त हो जाता है, कुछ दिन के लिए जजाल से निकल जाता है। तीर्थ-भूमियो में तपश्चर्या करने वाले सन्त-महात्माओं के दर्शन प्राप्त हो जाते है, उनकी सत्सगति का लाभ मिल जाता है। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षियो के निरन्तर निवास से उन तीर्थ-भूमियों के परमाणु, वहाँ का वायुमण्डल भी पावन बन जाता है, प्रेरक बन जाता है। वहाँ जाने वाले के मनोभावों पर भी उस पवित्रता का यत्किंचित् प्रभाव पडता ही है।

प्रभु महावीर ने तो साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका—इन चारों को तीर्थ के रूप में निरूपित किया है। इनको तीर्थ-चतुष्टय कहा गया है तथा

इनको साधना में स्थापित करने के कारण ही प्रभु को तीर्थकर कहा गया है। "तीर्थ" का शाब्दिक अर्थ होता है—पानी में उतरने का घाट। "तीर्थं घट्टावतारेम्बु"—तीर्थ और घाट वह स्थान है, जहाँ से बड़ी आसानी से पानी भरने वाले पानी भर सकते है, स्नान करने वाले स्नान कर सकते हैं, गौ, अश्व आदि पशु सुविधा से पानी पी सकते है। आध्यात्मिक दृष्टि से तीर्थ की परिभापा करते हुए कहा गया है—

"तीर्यते संसारसमुद्रो येन तत् तीर्थम्।"

जिसके द्वारा संसार-सागर तैरा जा सके, उसे तीर्थ कहते है। इसीलिए साधनानिष्ठ साधु-साध्वियाँ, श्रावक-श्राविकाएँ तीर्थ रूप कहे गए हैं। कही-कही आगम-प्रवचन को भी तीर्थ कहा गया है। वहाँ भी यही आशय उजागर होता है कि महापुरुषों के प्रवचनों द्वारा आत्मा भवसागर से पार होती है। उत्तराध्ययन सूत्र में हरिकेशवल मुनि एवं सोमदेव ब्राह्मण का सवाद आता है। वहाँ उपस्थापित तीर्थ विषयक गाथाएँ बड़ी माननीय है—

धम्मे हरए वम्भे संतितित्थे, अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जंहिसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो, सुसीइभूओ पजहामि दोसं॥
एयं सिणाणं कुसलेहि दिट्ठं, महासिणाण इसिणं पसत्थं।
जंहिसि ण्हाया विमला विसुद्धा, महारिसी उत्तम ठाणपत्ता॥

—उत्तरा. १२/४६, ४७

सनातन धर्म में भी इसी भावना का एक श्लोक मिलता है—

परदारेष्वनासक्तः, परद्रव्यपराङ्मुखः।
गंगाप्याह कदागत्य, मामयं पावयिष्यति॥

—स्कन्दपुराण, काशीखंड, अ. ६

जो पुरुप पर-स्त्री और पर-द्रव्य से विमुख है, गंगा भी उसकी प्रतीक्षा करती है कि कव वह महामना आकर मुझे पावन वनाएगा। महाभारत में एक सुन्दर प्रसग आता है—

दोनों पक्षों की अठारह अक्षौहिणी सेना के विनष्ट हो जाने पर पांडवों का मन ग्लानि से भरा था। तुच्छ राज्य सम्पदा के लिए गांगेय भीष्म जैसे वुजुर्ग, द्रोणाचार्य-कृपाचार्य जैसे गुरुजन तथा दुर्योधनादि भाइयों का भीपण संहार उन्हें रात-दिन वेचैन कर रहा था। इस भीपण पाप से छुटकारा पाने के लिए पांडवों ने तीर्थयात्रा करने की सोची। दूसरा कोई उपाय दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। सनातन धर्म में मुख्य

रूप से अड़सठ तीर्थ माने गए है, जिनमे उत्तर-दक्षिण आदि सभी दिशाओं के तीर्थ शामिल है। पांडवों ने श्रीकृष्ण के सामने यह भावना रखी कि हम अपने प्रियजनों की मृत्यु से अवसादग्रस्त है, अत. सभी तीर्थों की यात्रा करना चाहते है। योगेश्वर कृष्ण तो पांडवों के इस विचार से परिचित थे ही। उन्होंने उनको रोका नही वल्कि एक युक्ति द्वारा उन्हें ज्ञान देने का निश्चय किया। वासुदेव ने कहा—वहुत अच्छी बात है पर एक काम साथ में हमारा भी करना होगा। पाडवों ने उत्साह से कहा—आप फरमाइए, क्या काम है ? हम सहर्ष उसे पूरा करने का यत्न करेंगे। श्रीकृष्ण ने एक तुम्वी उन्हें सौपते हुए कहा—जिस तीर्थ मे तुम स्नान करो, मेरी इस तुम्वी को भी स्नान कराना तथा आते समय त्रिवेणी संगम के जल से भर लाना। श्रीकृष्ण की आज्ञा शिरोधार्य कर पॉचों पांडव तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पडे। प्रत्येक तीर्थ मे यथावत् स्नानादि क्रियाओं के साथ दान-पुण्य किया। जहॉ स्वय स्नान करते, वही उस तुम्बी को भी स्नान करवाते, गोता लगवाते। निर्विघ्नतया एक के वाद एक तीर्थ की यात्रा करते हुए वे अन्त मे प्रयागराज पहुँचे। सगम मे स्नान किया, उस तुम्वी को भी नहलाया तथा उसे शुद्ध गगोदक से भर लिया। वासुदेव को उनकी आज्ञा के क्रियान्वयन से अवगत कराने वे सबसे पहले द्वारिका पहुँचे और वह तुम्वी श्रीकृष्ण के चरणो में रख दी। वासुदेव ने बड़े प्रेम से कुशल-क्षेम पूछा। यात्रा के सस्मरण सुने। फिर तुम्बी के जल को अंजलि में लेकर उसका आचमन किया तथा तुम्वी का एक टुकड़ा तोड़कर मुह में रखा। मुह अत्यन्त कड़ुआ हो गया। मुस्कराते हुए वासुदेव ने पूछा—पाण्डु-पुत्रो ! यह क्या, तुम्बी कड़वी कैसे ? सब तीर्थों में स्नान कराने पर भी इसका कड़वापन नही गया ? इसी भावना का एक पद कवीर ने लिखा है—

ए रे तुंवड़ी कड़वी रे भाई ! सब तीरथ फिर आई।
गंगा भी न्हाई, गोमती भी न्हाई, अजु न गई कड़वाई।
जिया ! मांजता क्यों न मना रे, जामें अन्तर मैल घना रे।
कटुक मन प्रेम छिना रे, काया मांजत कौन गुना रे ॥

श्रीकृष्ण ने कहा—लगता है, तुम इसे गोते लगवाना भूल गए, वरना यह कडवी नही रहती। पाडवों ने कहा—भगवन् ! आप भी कैसा परिहास करते है ? यह कटुता-कडुआपन तो तुम्बी के अणु-अणु में व्याप्त है। वह केवल जल-स्नान से कैसे नष्ट हो सकता है ? श्रीकृष्ण ने तब तत्व-विश्लेपण करते हुए कहा—जब तुम्बी में रही कटुता जल से नष्ट

नहीं होती तो तुम्हारे भीतर रही, मन के अणु-अणु में व्याप्त दुर्वासना जल-स्नान से कैसे नष्ट हो सकती है ! यह तर्क सुनकर पांडव हतप्रभ रह गए। क्या उत्तर दें, समझ नहीं पाए ? तब सर्वाग्रणी युधिष्ठिर को सम्बोधित कर श्रीकृष्ण ने नदी के रूपक से आत्मा का विश्लेषण करते हुए कहा—

आत्मा नदी संयमतोयपूर्णा,
सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः ।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा ॥ —हितोपदेश ५/८६

आत्मा नदी है। वह संयम रूप जल से परिपूर्ण है। सत्य के वेग से वह युक्त है। शील-सदाचार उसके तट है। वह दया की लहरों से तरगित है। उस आध्यात्मिक नदी में अभिषेक करो—स्नान करो, केवल जल से अन्तरात्मा की शुद्धि नही होती।

पांडवों ने तत्व का यथार्थ रूप समझा और वे आन्तरिक शुद्धि की दिशा में प्रयत्नशील हो गए। तीर्थयात्रा के अत्यन्त प्रेमी भी इस तत्व की वास्तविकता स्वीकार करते है, उसे आदर देते है। स्कन्दपुराण के काशी-खण्ड में कहा गया है—

चित्तं शमादिभिः शुद्धं, वदनं सत्यभाषणैः ।
ब्रह्मचर्यादिभिः काय., शुद्धो गंगा विनाऽप्यसौ ॥

जिसका चित्त शम, दम आदि से, मुख सत्यभाषण से तथा शरीर ब्रह्मचर्य से शुद्ध है, वह गंगा स्नान के विना भी पवित्र है। उसी स्थान पर आगे कहा गया है—

चित्तं कामादिभिः क्लिष्टमलीकवचनैर्मुखम् ।
जीवहिंसादिभिः कायो, गंगा तस्य पराङ्मुखी ॥

जिसका चित्त कामादि विषयों से, मुख असत्य वचन से तथा शरीर जीव-हिंसादि पापों से क्लिष्ट है—अपरिशुद्ध है, उस व्यक्ति से गंगा पराङ्-मुख—विमुख रहती है। पूज्य कालूगणी किशनबावनी का एक कवित्त फरमाया करते थे—

छार ही में ख्वार खर, न्हात जात जलचर,
धरत जटा को बड़, बरत पतंग है।
ध्यान बक धरत, रटत राम-राम शुक,
गाडर मुंडावे पशु, अवश निहंग है ॥

सहे तरु ताप, घर करके ना रहे सांप,
'किसन' दुराप आप अनभो अभग है।
रंग वहिरंग सबे मोक्ष को न अंग पर,
यह मन चंग तो कठौत ही में गंग है॥

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि "मन चगा तो कठौती मे गगा" यह उक्ति सर्वथा संगत है, सार्थक है। पजाव का प्रसिद्ध औलिया बुल्लेशाह कहता है—

मक्का जाकर इट्टां पूजे, गंगा जा के पानी।
बुल्लेशाह ऐसी करनी कर चल्लो, मिट जाए आवण जाणी॥
नहाते धोते जो रव मिले, पहले मिले डड्डां-मच्छियाँ।
बुल्लेशाह रब्ब उन्हांनु मिलदा, जिन्हांदो किस्मत अच्छिआं॥

गीत का अगला पद्य है—

ग्रन्थो पंथों का गौरव तू, चिल्ला-चिल्लाकर गाता है।
जिससे झट ग्रन्थि-भेद होता, वह अलख ग्रन्थ तो अन्दर है।
जिसको तू खोज रहा ....॥

हमारे देश मे कुछ ऐसी ही परम्परा है कि ग्रन्थो और पन्थो के गुणगान यहाँ वहुत गाए जाते है। सनातनी वैष्णव कहते है कि हमारी गीता सवसे ऊँची है। कहा भी है—**"गीता सुगीता कर्त्तव्या, किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।"**

कुछ लोग कहते है, भागवत भक्ति का अद्भुत भण्डार है। उसकी साप्ताहिक कथा से सारे पाप धुल जाते है। जैन लोग कहते है, हमारा आचारांग और उत्तराध्ययन अद्भुत ग्रन्थ है। जैनो में भी दिगम्बर जैन समयसार, प्रवचनसार आदि के गुण वताते है। इसी प्रकार ईसाइयो में वाइविल, मुसलमानो में कुरानशरीफ, सिखो मे गुरु ग्रन्थसाहव, जपुजी आदि ग्रन्थ वहुत पूजनीय माने जाते है। इन्हे सिर पर रखकर उनकी शोभायात्रा निकाली जाती है, देवो की तरह पूजा होती है।

एक गम्भीर प्रश्न है, ग्रन्थ वहुत ऊँचे है, उनके उपदेश बड़े मार्मिक एव तात्विक है, पर उनका हमारे ऊपर असर कितना है? यहाँ प्रश्न ग्रन्थों का नही, ग्रन्थि-भेद का है। सन्त कहते है, जिसके द्वारा ग्रन्थि-भेद हो जाए, वह ग्रन्थ अलख और अद्भुत है। वह तो तेरे अन्दर ही विद्यमान है। वह ग्रन्थि-भेद केवल ग्रन्थो के पारायण से नही, अन्तर्-विवेक के जागरण से ही सम्भव है।

संवत् २००१-२ में हमारा पंजाव जाना हुआ। उस समय वहाँ तेरापंथी और स्थानकवासी विचार-धाराओं का भारी टकराव चलता था। प्रवल विरोध का वातावरण था। हम समाना गए। जैनियो का कोई स्थान नही मिला, हम आर्य-समाज भवन में ठहरे। रात्रिकालीन प्रवचन में अच्छी उपस्थिति होने लगी। आर्य-समाज भवन के जो अध्यक्ष थे, वे वड़े अच्छे विचारशील वुजुर्ग व्यक्ति थे, प्रवचन में आगे-आगे वैठते तथा वहुत रुचि से श्रवण करते। एक दिन वार्तालाप के प्रसंग में उन्होने कहा—मुनिश्री ! उपदेशक तो वहुत आते हैं पर स्वयं के आचरण के विना उनके उपदेशो का प्रभाव नही पड़ता। गीता, भागवत आदि के उद्धरण सुनाए तो जाते है, पर उनको जीवन में उतारना वड़ा कठिन है। एक वार हमारे यहाँ एक आर्य समाज के प्रचारक महाशय आए। रात के समय उनका भाषण रखा गया, अच्छी जन-मेदिनी एकत्रित हुई। उनके भापण का विपय था तम्वाकू। अनेक उद्धरणों-दृष्टांतों से उन्होंने तम्वाखू पीने का खण्डन किया। वैज्ञानिक तर्कों से भी उसे खतरनाक सिद्ध किया। प्रवचन समाप्त हुआ। महाशयजी उठकर अन्दर वाले कमरे में गए। जेव से वीड़ी का वण्डल और दियासलाई निकाली। वह वीड़ी सुलगा ही रहे थे कि अचानक मैं अन्दर चला गया। उनके हाथ में बीड़ी देखकर मुझे वड़ा गुस्सा आया। अभी यह उपदेशक तम्वाखू न पीने का धारा-प्रवाह उपदेश दे रहा था, अव स्वयं धूम्रपान कर रहा है। मैंने क्रोधावेश में जोर से उसके मुह पर एक थप्पड़ मार दिया। वीड़ी उसके हाथ से नीचे गिर गई। मैंने पूछा—यह क्या करते हो ? तुम्हें शर्म नही आती, औरों को उपदेश वाँटते हो और स्वयं धूम्रपान करते हो। वह बुरी तरह झेंप गया। सकपका कर वोला—क्या करूँ वीड़ी मुझसे छोड़ी नही जाती। मैंने कहा—फिर तुमको उपदेशक किसने वना दिया ? तुमको उपदेश करने का अधिकार नही है, निकल जाओ आर्य-समाज भवन से !

ग्रन्थि-भेद के विना ग्रन्थो की यह हालत होती है। कुछ लोग नित्य रामचरितमानस का पाठ करते है, नियमित रूप से "सुन्दरकाण्ड" आदि का पाठ करते हैं। यदि रामचरितमानस की "सियाराममय सव जग जानी. करहु प्रणाम जोरि जुग पानि" जैसी एक चौपाई भी जीवन में उतर जाए तो उसकी दिशा ही वदल जाए। पर ऐसा कहाँ होता है ? सिद्धान्त जीवन में नही, केवल कथन में रह गए है। वस्तुत. ग्रन्थो के गौरव से जीवन गौरवान्वित नही हो सकता। महावीर ने वहुत गहरी वात कही है—"सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइ पासओ" सभी भूतो को

प्राणियों को जो आत्मभूत—आत्मवत् देखता है, उसके पाप का बन्ध नहीं होता। पर कितने जैन ऐसे मिलेगे, जिन्होने इस शब्द को जीवन में उतारा हो। यदि सभी भूत आत्मभूत बन जाएँ तो श्वेताम्बर-दिगम्बर का विवाद कहाँ ठहर सकता है ? मान्यता-भेद के कारण पारस्परिक वैमनस्य कैसे रह सकता है ? एक-दूसरे को मिथ्यात्वी की सज्ञा से कैसे अभिहित किया जा सकता है ? इसलिए कहा है कि ग्रन्थों के गौरव-गीत गाने से कभी हमारा कल्याण सम्भव नही है।

इसी प्रकार पथों के भी भारी विवाद है। सनातनी कहते है, हमारा धर्म तो सनातन है, शाश्वत है क्योंकि सनातन शब्द शाश्वतता का प्रतीक है। अन्य सारे धर्म-पंथ इसकी शाखाएँ-उपशाखाएँ है। इधर जैन कहते है कि जैन धर्म तो अनादि-अनन्त है। न कभी इसका प्रारम्भ हुआ, न कभी अन्त होगा। यह तो इन्द्रिय-विजेताओ का पथ है। इन्द्रियों को, अपनी आत्मा को जीतने वाले का नाम जिन है। वह किसी व्यक्ति-विशेष का नाम नहीं, एक विशिष्ट उद्‌बुद्ध, परम शक्ति संभृत स्थिति का द्योतक है। जो जिन को अपना आराध्य माने, उसे जैन कहा जाता है। उसका प्रारम्भ कैसे हो सकता है वह तो शाश्वत, ध्रुव और सत्य है।

हमारी ऐसी विचित्र मन.स्थिति है कि सभी धर्म-सम्प्रदायो के लोग अपने पंथ को अनादि-अनन्त सिद्ध करने की चेष्टा करते है। यह कोई नहीं सोचता कि विना हमारा जीवन वदले केवल पंथ की महत्ता से हमारी महत्ता कैसे वढ़ेगी ? जव हम तेरापंथ में थे, एक नारा वहाँ विशेष रूप से प्रयुक्त होता था—"आलोकित नभ धरा दिगन्त, हे प्रभो ! यह तेरापथ।" कभी-कभी हमारे मन में आता कि नभ, धरा, दिगन्त तो आलोकित हो उठे पर हमारा—नारे लगाने वालों का हृदय आलोकित हुआ या नही ? कही दीपक तले अँधेरा तो नही है ? कई लोग नारा लगाते है "नैतिकता की पुन प्रतिष्ठा, हम लोगों को करनी है।" हम पूछना चाहते है कि कव करनी है ? इतने वर्षो से नारो से आकाश गुजाए जा रहे है, क्या नैतिकता की प्रतिष्ठा का समय अभी आया नही है ? इसीलिए कहा गया —"ग्रन्थों पन्थो का गौरव तू चिल्ला-चिल्लाकर गाता है।" अगर ग्रन्थि-भेद हो जाए तो सारे ग्रन्थ, पथ ऐक्य की विराट्ता में समाहित हो जायँ। "शिवमाहिम्न स्तोत्र" में लिखा गया है—

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेकोगम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

ग्रन्थि-भेद होने पर सारे सिद्धान्त अभेद में परिणत हो जाते हैं। जैनागमों में "ग्रन्थि-भेद" शब्द का प्रयोग अत्यन्त महत्व लिए हुए है। ग्रन्थि-भेद के विना सम्यक्त्व की प्राप्ति असम्भव मानी गई है। अनन्तानुवन्धी क्रोध-मान-माया, लोभ, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व तथा मिश्रमोहनीय— इन सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम को ग्रन्थि-भेद कहा जाता है। इनके आंशिक या सम्पूर्ण अपगम से वह सधता है। उपनिषदों में भी यही शब्द व्यवहृत हुआ है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्यकर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

अतः ग्रन्थों से भी ग्रंथि-भेद महत्वपूर्ण है। गीत आगे वढ़ता है—

विना लक्ष्य की दौड़ धूप कुछ भी परिणाम न लाएगी।
वह वाहर कैसे मिल सकती जो चीज आपके अन्दर है।
जिसको तू खोज रहा···· ···· ···· ···· ॥

कितनी ही दौड़-धूप की जाय, पर जब तक लक्ष्य निर्धारित नहीं होगा, तव तक वह निरर्थक सिद्ध होगी। जा तो रहे हैं पर जाना कहाँ है? दौड़ तो रहे है पर पहुँचना कहाँ है? हर क्रिया से पूर्व लक्ष्य निर्धारित होना परमावश्यक है। जो वस्तु अपने भीतर है, उसे वाहर खोजना नासमझी ही होगी। शक्ति हमारे अन्दर है, शान्ति हमारे अन्दर है, वाहर उसकी चाहे कितनी ही खोज हो, कैसे सार्थक हो सकती है। कहावत है—"काख मे छोरा, गली में ढिंढोरा।" एक स्त्री गली में रो रही थी कि मेरा वच्चा खो गया, पता नही कहाँ रहा? काफी देर वाद एक समझदार व्यक्ति ने पूछ लिया—वहन! तुम्हारे कितने वच्चे है? स्त्री ने कहा— कितने कहाँ? एक ही था। उस व्यक्ति ने पूछा—वहिन! यह गोद मे किसका वच्चा है? तुरन्त स्त्री सम्भलकर वोली—हाय! वड़ी भूल हो गई, वच्चा तो मेरे पास ही है।

फुसकी मियाँ गधे पर वैठे दौड़े जा रहे थे और जोर-जोर से कह रहे थे, मेरा गधा खो गया है, किसी भाई ने देखा हो तो वताओ। किसी ने अस्पष्ट आवाज सुनकर फुसकी मियाँ से पूछा—मियाँ! क्या खो गया? क्यों दौड़-धूप कर रहे हैं? मियाँ ने कहा—मेरा गधा खो गया है। पूछने वाले ने फिर पूछ लिया कि जिस गधे पर वैठे हो, वह किसका है? मियाँ चौंके! अफसोस यह तो मुझे ध्यान ही नही रहा। यह स्थिति है अज्ञानियों की।

एक बुढ़िया की सूई झौपड़े में गिर गई। अन्दर अधेरा था। बाहर सड़क पर वत्ती जल रही थी। बुढिया वाहर जाकर झौपड़ी के आगे ढूढने लगी। लोगों ने पूछा—माई! क्या खो गया, क्या खोज रही हो? बूढ़ी ने कहा—बेटा! सूई गिर गई। कहाँ गिरी है?—किसी ने पूछा। बुढिया ने कहा—गिरी तो अन्दर की तरफ थी, पर अन्दर अँधेरा है। लोग हँसने लगे। अँधेरा है तो क्या हुआ? जो वस्तु अन्दर खोई है, वह बाहर कैसे मिलेगी? उसे अन्दर ही खोजो। बुढिया ने कहा—अन्दर तो प्रकाश नही है। लोगों ने कहा—वहाँ प्रकाश करना होगा, तभी तुम्हारी खोज सार्थक होगी। इसी स्थिति को लेकर कबीर साहब ने कई पद लिखे है। एक भजन है—

नाभि कमल बिच है कस्तूरी; किस विध भरम मिटे मन का रे।
बिन सतगुरु ऐसे दुःख पावे, जैसे मृग फिरे वन का रे॥
पीले रे प्याला, हो मतवाला, प्याला प्रेम प्रभु रस का रे।
भीतर था तब भक्ति कबूली, बाहर निकल के भूल गया रे।
काम-क्रोध का लग्या बायरा, विषय-कषाय में अन्ध भया रे॥
पीले रे अवधू!

एक अन्य स्थान पर लिखा गया है—

कस्तूरी कुण्डल बसे, मृग ढूंढ़े वन मांहि।
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनियाँ बूझत नाँहि॥
पीतम को पाती लिखूं, जो कहुं होय विदेश।
तन मे, मन मे, नयन में, ताको का संदेश॥

गीत का अन्तिम पद है—

वाहर के झंझट छोड़, जोड़ "चन्दन" अपने से अपने को।
जिसको है वन्दन बार-बार, वह चिदानन्द तो अन्दर है।
जिसको तू खोज रहा ....॥

इसलिए ज्ञानी कहते है, इन वाहरी झझटो को छोड़कर स्वयं को स्वय से जोडो। जिसको हम बार-बार वन्दन करते है, नमन करते है, वह चिदानन्द तो अन्दर है। इन वाहर के झंझटों में हमने अनन्तानन्त काल यों ही गवा दिया। भारी क्रिया-काण्डों में लगे रहे, पर यथेष्ट परिणाम नही आया। क्योंकि जो वस्तु वाहर है ही नही, वह हमें बाहर कैसे प्राप्त हो सकती है।

आश्चर्य है, हम अपनी ओर झाँकने का प्रयत्न ही नहीं करते। महावीर वाणी में एक पद का बार-बार प्रयोग हुआ है—**"संपिक्खए अप्पगमप्पएणं"**—अर्थात् **"आत्मना आत्मानं संप्रेक्षेत"**—आत्मा द्वारा आत्मा का संप्रेक्षण—सम्यक्प्रेक्षण—दर्शन करना चाहिए। ऐसा ही प्रयोग गीता में भी हुआ है। सोचना है, क्या आत्मा दो हैं ? एक का साधन के रूप में और दूसरी का साध्य के रूप में प्रयोग होता है ? स्व के द्वारा स्व को पाने का तात्पर्य क्या है ? जो वस्तु स्वयं है, अपने रूप में ही है, उसे पाना क्या ? प्राप्ति तो उसकी होती है, जो उपलब्ध नहीं है। असल में हम स्व से बिछुड़े हुए है, अलग पड़े है। जीवात्मा के रूप में संसार-सागर में गोते लगा रहे हैं। आत्मा का जो चिदानन्द-स्वरूप है, वह ध्रुव है, शाश्वत है, अपरिवर्तनीय है। उसमे अवस्थित होने के लिए, अपने भीतर प्रतिष्ठित होने के लिए हमे स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है। इसलिए **"आत्मना आत्मानम्"** का प्रयोग यथार्थ है। एक छोटा सा रूपक है—

शुभ्र चन्द्रमा की चाँदनी आकाश में छिटक रही थी। पूरी पृथ्वी पर मानो चाँदनी की चादर बिछी थी। ऐसा रम्य दृश्य दृष्टिगोचर हो रहा था। एक वर्ष के नन्हें-मुन्ने को लिए माँ छत पर बैठी थी। घुटनों के बल रेंगता हुआ नन्हा-मुन्ना खेल में मस्त था। शिशु ज्यों-ज्यों आगे बढ रहा था, त्यों-त्यों उसकी छाया आगे खिसक रही थी। शिशु उस छाया को पकड़ने की कोशिश कर रहा था। बाल्यावस्था में सहज ही हर वस्तु को पकड़ने की चाह होती ही है। बच्चा बार-बार छाया को पकड़ने की चेष्टा करता रहा, पर वह पकड़ में आई ही नहीं तो बच्चा रो पड़ा। कहावत है—**"बालानां रोदनं बलम्।"** बच्चा जब निराश हो जाए तो रुदन ही उसका बल होता है। बच्चे की रोने की आवाज सुनकर माँ ने ध्यान दिया, देखा—बच्चा छाया को पकड़ने मे असफल होकर रो रहा है। माँ ने उठकर बच्चे के हाथ से उसके अपने बाल पकड़वा दिए। बच्चे को लगा कि उसने उस छाया को पकड़ लिया है। सही रूप में देखा जाय तो कुछ भी नही पकड़ा गया, अपने द्वारा अपनी पकड़ ही वहाँ साकार हुई है। बस, यही स्थिति है स्व से स्व को पकड़ने की। इसलिए कहा गया कि—

बाहर के झंझट छोड़ जोड़, "चन्दन" अपने से अपने को।

यदि हम अपने से जुड़ गए तो सारे झंझट ही समाप्त हो जायेंगे।

—o—

५

जब परमात्मा में ध्यान लगा, दुनियां का ध्यान रहे न रहे।
जब हृदय प्रेम से ओत-प्रोत, पर की पहचान रहे न रहे ।।ध्रुव।।

इन भेदों की दीवारों ने, घर के हिस्से कर डाले है।
तेरे मेरे के झगड़ों ने, अभिमान भुजंगम पाले हैं।
जब दिल दरवाजे खोल दिए, दुविधा दरबान रहे न रहे ।।१।।

मैं राग करूँ किस प्राणी से, फिर किस प्राणी से द्वेष करूँ।
अपना कह किससे स्नेह करूँ, पर कहकर किससे क्लेश करूँ।
जब बिन्दु सिन्धु से अलग नही, चचल तूफान रहे न रहे ।।२।।

एकत्व-अमृत जब हाजिर है, क्यों भेद-गरल का पान करूँ ?
सबको गुरुता का दान मिले, क्यों लघुता से मुख म्लान करूँ।
'चन्दन' दिल से दिल मिल जाए, वाणी-व्यवधान रहे न रहे ।।३।।

—०—

तर्ज—मेरे मधुवन में आम लगा

५.

जब परमात्मा में ध्यान लगा

समणसुत्तं में कहा गया है—

जीवा हवंति तिविहा, बहिरप्पा तह य अन्तरप्पा य ।
परमप्पा वि य दुविहा, अरहन्ता तह य सिद्धा य ॥
अक्खाणि बहिरप्पा, अन्तरप्पा तु अप्प-संकप्पो ।
कम्मकलंक विमुक्को, परमप्पा भण्णए देवो ॥
ससरीरा अरिहंता, केवल-णाणेण मुणिय-सयलत्था ।
णाणसरीरा सिद्धा, सव्वुत्तम-सुक्ख-संपत्ता ॥

—आत्मसूत्र २, ३, ४ (१७८, १७९, १८०)

अन्तर्विकास की दृष्टि से आत्मा के तीन भेद किए गए है—१. बहिरात्मा, २ अन्तरात्मा और ३. परमात्मा ।

शरीर, इन्द्रिय आदि को जो आत्मा मानता है, यह बहिरात्मदृष्टि है। वह शरीर और चेतना का भेद नही समझता । जो सर्वथा देहाध्यासी है, वह शरीर के दुःख में दुःख और शरीर के सुख में ही सुख मानता है। शरीर के संयोग से जो माता-पिता, स्त्री आदि के सम्बन्ध हैं, उनमें ही वह रचा-पचा रहता है । जिसको भेदविज्ञान नहीं है, जिसका विवेक जाग्रत नहीं होता है, वह बहिरात्म-भाव युक्त व्यक्ति है । प्रायः संसारी जीव इसी बहिर्भाव में भटकते रहते है ।

जो शरीर में रहता हुआ शरीर और चेतना को भिन्न अनुभव करता है, वह अन्तरात्मा कहा जाता है। श्रीमद्राजचन्द्र ने कहा—"जेम असि ने म्याय" जैसे तलवार म्यान में रहती है और म्यान कभी तलवार नही हो सकती, वैसे ही चेतना के शरीर में रहते हुए भी शरीर और चेतना एक नही है, दोनों पृथक्-पृथक् हैं। एकाधिकरणता के बावजूद परस्पर नितान्त भिन्न हैं। आपने बहुत बार अनुभव किया होगा कि नारियल को हिलाने पर उसके भीतर का गोटा अलग हिलता हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि वह टोपसी से लगभग सटा हुआ है, पर वस्तुतः वह

उससे भिन्न है। जिसे शरीर और चेतना के विषय में यह पार्थक्य अनुभूत हो जाता है, वह अन्तरात्मा कहलाता है।

जो इन स्थितियों से ऊँचा उठकर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, वह परमात्मभाव को प्राप्त कर लेता है। अरिहन्त और सिद्ध दोनों परमात्मा की कोटि में आते है। अरिहन्त सशरीरी होते है, अतः वे साकार परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित है।

वास्तव में **"कम्म-कलंक-विमुक्को, परमप्पा भण्णए देवो'** कर्म-कलक से विमुक्त, आठों कर्मो से छूटकर जो सिद्ध रूप में प्रतिष्ठित हो चुके है, वे परमात्मा है। यह आत्मा की परम-शुद्ध, सर्वोच्च अवस्था है। कुछ लोग जो दर्शन से अनभिज्ञ है, कह देते है कि जैन धर्म परमात्मा को नही मानता। यह यथार्थ नही है। सनातन धर्म मे नर से नारायण वनने की जो प्रक्रिया है, वही जैन धर्म में आत्मा से परमात्मा वनने की है। हमारी साधना का, संयम का चरम लक्ष्य इसी परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति है। हमने एक गीतिका में लिखा है—

जब परमात्मा में ध्यान लगा, दुनियां का ध्यान रहे न रहे।
जब हृदय प्रेम से ओत-प्रोत, पर की पहचान रहे न रहे॥

जव परमात्मा में लौ लग गई, फिर दुनिया का ध्यान रहते हुए भी न रहने के समान हो जाता है। क्योंकि एक साथ दोनों में एक जैसा ध्यान नही रह सकता। हृदय जव शुद्ध प्रेम से आपूर्ण हो जाता है, तो अपने-पराये की पहचान मिट जाती है। पराया कौन है? कभी सोचा भी नही जा सकता। एक सुभाषित में कहा गया है—

अयं निजः परोवेति, गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु, वसुधैव कुटुम्वकम्॥

यह मेरा है, यह पराया है—यह उनका चिन्तन है, जो तुच्छ-बुद्धि हैं। व्यापक दृष्टिकोणयुक्त पुरुषो के लिए तो सारा संसार ही कुटुम्ब के समान है। वहाँ कोई भिन्न रह नही जाता।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में सात्त्विक ज्ञान का विवेचन करते हुए कहा गया है—

सर्वभूतेषु येनैकं, भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु, तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥ १८/२०

जो सभी भूतों में, प्राणियों में एक अव्यय भाव देखता है, समानता देखता है, जिसे विभक्त में भी अविभक्त प्रतीत होता है, वह ज्ञान सात्त्विक कहा जाता है।

विभक्त होते हुए भी अविभक्त प्रतीत तभी हो सकता है, जब हमारी दृष्टि पूर्ण व्यापक बन जाती है, विभु बन जाती है। यह अद्भुत दृष्टि है, जहाँ कोई भिन्न, पर या पृथक दिखायी ही नहीं पड़ता। सभी जगह सभी प्राणियों में आत्मभाव का साक्षात्कार होता है।

जहाँ सब प्राणियों में आत्मभाव स्थापित हो जाता है, वहीं शुद्ध प्रेम की उत्पत्ति होती है। "प्रेम" शब्द अपने आप में अनूठा है। प्रेम का महत्त्व बतलाते हुए कबीर ने कहा है—

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पण्डित हुआ न कोय।
ढाई अक्षर "प्रेम" का, पढ़े सो पण्डित होय॥

भगवान् महावीर ने स्थानांग सूत्र के प्रथम स्थान में प्रथम सूत्र दिया है—**"एगे आया"** आत्मा एक है। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार सहसा यह बड़ा चौंकाने वाला सूत्र है। जैन धर्म जब अनेक आत्माओं का अस्तित्व स्वीकार करता है तो एक आत्मा कैसे हो सकती है? कहाँ सिद्ध आत्मा और कहाँ संसारी आत्मा दोनों का समन्वय कैसे हो सकता है?

महावीर विलक्षण थे और उनका निरूपण भी विलक्षण है। संग्रह-नय की दृष्टि से देखें तो सारे भेद समाप्त हो जाते हैं। असंख्यात प्रदेशी द्रव्य आत्मा की अपेक्षा से सभी आत्माएँ एक समान हैं। वहां ऊपर के उपाधि भेद रह नहीं जाते। हमने अध्यात्म चौबीसी में प्रभु की स्तवना करते हुए लिखा है—

ऋषभजिन! तुझ-मुझ एक स्वरूप।
ओ! शिव नगरी रा भूप॥
द्रव्यात्मा में भेद नहीं है, भावात्मा में भेद।
मूल एक फल-फूल भेद में, ओ सबको है खेद॥१॥
सिद्धासिद्ध तणे भेदे नहीं, सजातीयता जाय।
सीझ्यो वा अणसीझ्यो दाणो, धान्य करी लेखाय॥२॥
पंखीड़ा दोन्यूं कहिवावै, काग हुवो वा हंस।
भिन्नांशां ने भिन्न करो तो आखिर पंखी वंश॥३॥

पर्यायां री दृष्टि हटै तो वुन्न-मुन्न एक समास ।
न रहै दुविधा "चन्दन" केवल सहजानन्द विलास[1] ॥४॥

आप सिद्ध है और मैं असिद्ध हूँ, फिर भी हमारी चेतना की सजा-तीयता कैसे मिट सकती है ? संस्कृत भाषा मे "सिद्ध" शब्द का अर्थ है—"सीधा हुआ" जैसे—"सिद्धमन्नम्" "सीझा हुआ अन्य" । दाना चाहे सीझा हो या अनसीझा हो, है तो वह धान्य ही । यद्यपि कौए और हंस में बड़ा अन्तर है, किन्तु पक्षि-धार्मिता का जहाँ प्रश्न है, वहाँ दोनों एक ही श्रेणी में आते है । केवल कुछ एक अंश—गुण, धर्म, वर्ण आदि भिन्न-भिन्न होने से पक्षि-भाव कैसे जा सकता है ? इसलिए ज्ञानियो का कथन है कि हम पर्याय पर—वहिर्गत, अन्तर्गत विविध रूपो पर ध्यान केन्द्रित न करें । द्रव्य पर दृष्टि टिकाएँ । फिर कोई दुविधा नही रहेगी, सहजानन्द की अनुभूति होगी । इसलिए कहा गया—

इन भेदो की दीवारों ने घर के हिस्से कर डाले हैं ।
तेरे मेरे के झगड़ों ने अभिमान भुजंगम पाले हैं ।
जब दिल दरवाजे खोल दिए दुविधा दरबान रहे न रहे ॥
जब परमात्मा मे ध्यान लगा दुनियां का ध्यान रहे न रहे ।
जब हृदय प्रेम से ओत-प्रोत पर की पहचान रहे न रहे ॥

भेदों की दीवारे हमें विभक्त कर देती हैं । सनातन और जैन का भेद, जैनों में भी दिगम्वर तथा श्वेताम्वर का भेद, श्वेताम्बरो में फिर स्थानकवासी और मूर्तिपूजक आदि ये भेदों की दीवारे इतनी ऊँची बन गई कि हम एक दूसरे को देख नही पाते, समझ ही नही सकते । धर्म तो आकाश के समान व्यापक है । भला, दीवारों के भेद से आकाश में भेद कैसे आ सकता है । किन्तु हमने घटाकाश, पटाकाश के रूप में आकाश को भी विभाजित कर लिया है । वह भेद का आवरण बड़ा ही दुःखद है ।

किसी गाँव का एक जाट एक बड़े शहर में आया । वहाँ उसने देखा कोई दो भाई अलग हो रहे थे । घर की सारी चीजो का बँटवारा किया जा रहा था । पच लोग विद्यमान थे । चौधरी ने सोचा—अलग होने में भी कोई विशेषता है, कोई सुख है, तभी तो ये शहर के पढे-लिखे लोग ऐसा कर रहे है । मुझे भी अलग होना चाहिए । घर में पति-पत्नी दो ही थे,

---

१ तर्ज—मांड़

अलग हों तो किससे हों। जाट का बुद्धि से कोई लेन-देन नहीं था। उसने घर आकर जाटनी से कहा—अपन अब अलग होंगे। जाटनी चकित रह गई, बोली—क्यों? जाट ने कहा—आज मैंने शहर में देखा, दो भाई आपस में अलग हो रहे थे। जाटनी थोड़ी समझदार थी। उसने कहा—चौधरी! तुम्हारी अक्ल गाँव गई है क्या? भाई-भाई अलग होते है, बाप-बेटे अलग होते हैं, सेठ से गुमाश्ता भी अलग होता है, यह तो संसार की रीति है पर औरत और मर्द कैसे अलग हो सकते है? विवाह के अवसर पर तुमने जीवनभर साथ निभाने की प्रतिज्ञा की थी। पर बुद्धिहीन जाट कब मानने वाला था। हारकर जाटनी ने अलग होने की स्वीकृति दे दी। फिर समस्या खड़ी हो गई। झौपडा था एक, अलग-अलग कैसे हों? बीचो बीच एक टाटी लगा दी गई, विभाजन हो गया। जाट-जाटनी के दो हिस्से हो गए।

एक थी घर में भैंस। उसका विभाजन कैसे किया जाय। बुद्धिमान जाट ने कहा—दिन-दिन तो भैंस मैं रख लूगा, रात को तुम सम्भाल लिया करो। मुस्कराकर जाटनी ने हाँ भर ली। दोनों अलग-अलग हो गए। जाट भैंस को पानी पिलाकर लाया। दिन भर सार-सम्भाल की। शाम होते ही जाटनी ने भैंस कब्जे मे करली। दूध निकाल लिया। सुबह जल्दी उठकर भैंस को "बाँटा" दिया और सूर्योदय से पहले-पहले उसे दुहकर जाट को सौप दिया। बेचारा चौधरी उसे चराने के लिए जगल में ले गया। वह तो हैरान हो गया। बड़ी भूल हो गई पर अब क्या हो? दूध-दही और छाछ के तो दर्शन ही दुर्लभ हो गए। जाटनी साथ थी तो दोनों समय सुखपूर्वक भोजन उपलब्ध हो जाता था। अब खाना कौन पकाए? दो-तीन दिन में ही चौधरी की नाक में दम हो गया। आखिर चौधरी को झौपड़ी के बीचोबीच लगी टाटी पर गुस्सा गया। इसी ने सारा काम खराब किया है, इसी ने हमारा विभाजन कर दिया है। लाठी लेकर तुरन्त उसने टाटी को तोड़ डाला। सारा झौपड़ा एक हो गया।

वस्तुतः यह भेद का पर्दा ही सारी मुसीबतों का कारण है। यह तेरे-मेरे का अन्तर ही झगड़े की जड़ है। इन भेदों के झगड़ों में अभिमान का विषधर पलता है। जब दिल के दरवाजे परमात्म-दर्शन के लिए खोल ही लिए, फिर दुविधा के दरबान को बिठाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। फिर चाहे कोई भी आए, सभी का स्वागत है। यहाँ "प्रवेश निषिद्ध" का सूचना-पट्ट नही लगा होता। यह तो प्रेम का दरवाजा है।

यहाँ किसी के लिए न घृणा है, न द्वेष। कहा जाता है कि तीर्थंकरों के समवसरण में सिह और बकरी साथ-साथ प्रवेश पाते है। प्रभु की अहिसा की इतनी पराकाष्ठा होती है, करुणा का स्रोत इस प्रकार बह उठता है, कि वहाँ सारे भेद अभेद मे परिणित हो जाते है, घृणा का अस्तित्व ही नही रहता। सर्वत्र प्रेम ही प्रेम दृष्टिगोचर होता है। महर्षि पतजलि ने लिखा है—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।

—पातंजल योग सूत्र २·३५

अहिंसा की जहाँ सम्पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है, सर्वथा परिपालन सध जाता है, वहाँ वैरभाव, विरोधी दृष्टिकोण समाप्त समाप्त हो जाता है। यह अहिसा की सफल, यथावत् आराधना की कसौटी है।

मैं राग करूँ किस प्राणी से, फिर किस प्राणी से द्वेष करूँ?
अपना कह किससे स्नेह करूँ "पर" कहकर किससे कलेश करूँ?
जब बिन्दु सिन्धु से अलग नहीं, चचल तूफान रहे न रहे।
जब परमात्मा मे ध्यान लगा .... ॥

जिसके जीवन में एकत्व भावना साकार हो जाए, रग-रग में जम जाए, वह फिर किसके साथ राग करे और किसके साथ द्वेष करे? अपना कौन है, जिसके साथ स्नेह करे और पराया कौन है, जिसके साथ क्लेश करे? जब बिन्दु और सिन्धु एक ही है, पृथक-पृथक है ही नही, तो फिर तूफान आए तो क्या, न आए तो क्या।

जब तक भेद की रेखा है, तब तक राग द्वेष का अस्तित्व बना रहता है। अपने-पराये का भेद जहाँ है, वहाँ संकुचित सीमाएँ बन जाती है। गहराई से देखा जाय तो बिन्दु और सिन्धु अलग कहाँ है? आज का विज्ञान मानता है कि जो जलकणों का शोषण होता है, आर्द्रता शुष्कता मे परिणत होती है, वह आर्द्रता कहाँ गई? वे बिन्दु किसमें परिणत हुए? सिन्धु में। जो भी चिनगारी विलीन हुई, वह सूर्य में समाहित हो गई। लहर, कल्लोल, बुदबुद सारी की सारी अवस्थाएँ क्षणिक है। आखिर है तो पानी का पानी। अध्यात्म पथ के पथिक श्री विनयचन्दजी ने एक स्थान पर वासुपूज्य स्वामी की स्तुति करते हुए लिखा है—

जिम कंचन तिहुँ काल कहीजै, भूषण नाम अनेक।
तिम जग जीव चराचर योनि है चेतन गुण एक॥

गहनों के अनेक आकार-प्रकार हैं, अनेक रूप हैं पर सोना तो अपने रूप में विद्यमान है। उसमें भेद नहीं, केवल आभूषणों में, उसकी विविध आकृतियों में भेद है। सूक्ष्म-बादर, त्रस-स्थावर, संज्ञी-असंज्ञी, पर्याप्त-अपर्याप्त आदि जीव के अनेक भेद हैं, पर चेतना गुण की दृष्टि से सब जीव एक हैं।

एक संन्यासी को किसी भक्त ने गणेशजी की स्वर्ण की मूर्ति भेंट की। साथ ही में श्री गजानन का वाहन चूहा भी सोने का बनवाकर दिया। ऐसा संयोग बना, उस संन्यासी ने एक मन्दिर का निर्माण प्रारम्भ किया। कई कारणों से अर्थाभाव की समस्या उपस्थित हो गई। काम बीच मे रुक गया। संन्यासी ने उस स्वर्ण प्रतिमा को बेचने का निश्चय किया। एक स्वर्णकार के साथ सौदा तय हुआ। स्वर्णकार ने गणेश को वाहन सहित तुला में रखा और तौलकर सोने के बाजार भाव से वह संन्यासी को मूल्य देने लगा। संन्यासी झल्ला उठा, बोला—अज्ञानी! तुम में इतनी भी समझ नहीं, गणेश और चूहे का एक समान मूल्य। यह कैसे हो सकता है? गणेश देव है, विघ्नविनाशक है, चूहा तो चूहा ही है। देव का मूल्य ऊँचा होना चाहिए। चूहा तो मात्र उनका वाहन है। सुनार हँस पड़ा और बोला—महात्मन्! यह गणेशजी की मूर्ति और यह उनका वाहन—यह भेद आपकी दृष्टि में है। मेरी आँखों में तो केवल सोना है। मैं तो सोने की कीमत कर रहा हूँ, फिर चाहे वह देव के रूप में हो, उनके वाहन के रूप में हो अथवा और किसी रूप में हो। मुझे तो शुद्ध सोने से प्रयोजन है, उसके रूप से कुछ लेना-देना नहीं है।

इसी भाँति ज्ञानियों की दृष्टि चेतना पर टिकी होती है। वे चंचल तूफानों को नही देखते, केवल समन्दर को देखते हैं।

> **एकत्व-अमृत जब हाजिर है, क्यों भेद-गरल का पान करूँ?**
> **सबको गुरुता का दान मिले, क्यों लघुता से मुख म्लान करूँ।**
> **"चन्दन" दिल से दिल मिल जाए वाणी-व्यवधान रहे न रहे॥**
> **जब परमात्मा से ध्यान लगा ....॥**

एकात्म-भावना अमृत है और भेद गरल है, हलाहल विष है। इन दोनों को हम प्राप्त कर सकते हैं। सोचने की बात यह है, जब हमें अमृत प्राप्त हो रहा हो, हम हलाहल का पान क्यों करे? यह सर्वथा अविवादास्पद है, अमृत के मिलते विष कोई भी पीना नहीं चाहेगा। पर आश्चर्य है, यह एकत्व का अमृत पीया नही जाता, भेद का, द्वेष का जहर पीने

के लिए लोग आतुर रहते है। उर्दू भाषा में एक कहावत है—**"मै खुद हूँ खुदा, एक नुगते से जुदा"**। जो उर्दू लिपि जानता है, उसे पता होगा कि "जुदा" और "खुदा" लिखने मे क्या अन्तर है। "जीम" में नुगता नीचे लगता है और "खे" मे ऊपर। वस यही "जुदा" और "खुदा" का भेद है। जो ज्ञान नीचे दवा पड़ा है, वह ऊपर उठने लगे, ऊर्ध्वगामी बन जाए तो हम जुदा से खुदा वन जाएँगे। खुदा वही वन सकता है, जो खुदी को छोड़ देता है।

प्रसिद्ध औलिया बुल्लेशाह कही वैठे थे। कोई भक्त आया और भेट के तौर पर एक अगूठी पेश की। अलमस्त औलिये ने अपनी अगुली आगे करते हुए कहा—"खुदा की अंगुली गें इसे पहना दे।" कुछ विरोधी मुसलमानों ने सुना। "खुदा की अगुली" सुनते ही वह चौक पड़े। पहुँचे वादशाह के पास और शिकायत की कि बुल्लेशाह अपने आपको खुदा मानता है। अगूठी पहनते हुए कहता है "खुदा की अगुली में अगूठी पहना दे।" यह सुनकर वादशाह का पारा गर्म हो गया। बुल्लेशाह की यह हिम्मत ! अपने आपको खुदा समझने लगा है। फौरन बुल्लेशाह को दरवार मे बुलाया गया। वड़ी नाराजगी से वादशाह ने पूछा—बुल्लेशाह ! क्या तुमने कहा था कि अंगूठी खुदा की अगुली में पहना दो ?

बुल्लेशाह—जी हाँ, मैंने ऐसा ही कहा था।

वादशाह—तो क्या तुम अपने आपको खुदा मानते हो ?

बुल्लेशाह—यह जमीन किसकी ?

वादशाह—खुदा की।

बुल्लेशाह—यह आसमान किसका ?

वादशाह—खुदा का।

बुल्लेशाह—यह हिन्दुस्तान किसका ?

वादशाह—खुदा का।

बुल्लेशाह—यह सल्तनत किसकी ?

वादशाह—खुदा की।

बुल्लेशाह—तुम किसके ?

वादशाह—खुदा का।

बुल्लेशाह—मैं किसका ?

वादशाह—खुदा का।

बुल्लेशाह—तो फिर यह अगुली किसकी ?

बादशाह क्या उत्तर दे? उसके मुँह से निकल पड़ा—खुदा की। बुल्लेशाह ने समझाया—जब सब कुछ ही उसका है तो फिर तेरे-मेरे का क्या सवाल है? जब सभी चीजों का मालिक वही है तो मेरी अंगुली अलग कैसे रह सकती है?

इसका नाम है एकत्वामृत! यहाँ सारे भेद समाप्त हो जाते है। आदमी कितना नादान है, खुद गुरुता चाहता है पर दूसरों को गुरुता देना नही चाहता। दूसरों को तो लघुता ही देना चाहता है। क्यों नही हम सबको गुरुता दें। हमारे हृदय में किसी को नीचा मानने की, दिखाने की भावना ही क्यों आए?

वस्तुतः अज्ञान का दायरा बड़ा संकुचित है, अज्ञान की गलियाँ बहुत संकड़ी है। ज्ञान का कोई दायरा है ही नही, सीमा है ही नही, वह तो निस्सीम है। वहाँ सब द्वार खुले हैं, कही भी किसी के लिए कोई रुकावट नहीं है। इसीलिए कहा गया—

सबको गुरुता का दान मिले, क्यो लघुता से मुख म्लान करूँ?

जहाँ भेद समाप्त हो जाते है, वहाँ दिल से दिल मिल जाते है। जहाँ दिल दिल से मिल जाए, दिल दिल की भाषा समझने लगे, वहाँ शब्द बेकार हो जाते है। वहाँ वाणी का व्यवधान मिट जाता है। उपनिषद् बड़े मार्मिक शब्दों मे उद्घोषित करते है—"**वाचो यत्र निवर्तन्ते।**"

कहते हैं, एक बार फकीर फरीद काशी आ गए। उनके साथ उनकी शिष्य-मंडली भी थी। उनका सन्त कबीर से मिलने का कार्यक्रम बना। दोनों के भक्तों ने सोचा, बड़ा अच्छा होगा, दोनों सन्त परस्पर मिलेंगे। चर्चा-वार्ता होगी। नये-नये तथ्य उद्घाटित होंगे।

दोनों मिले। परस्पर आमने-सामने बैठ गए और एक दूसरे को देखते रहे। बोले एक शब्द भी नही। लम्बा समय बीत गया। शिष्य बड़े उत्सुक थे कि ये कुछ तो बोलें, कोई वार्तालाप तो हो परन्तु उनके तो दिल मिल चुके थे। आँखें ही आँखों को पढ़कर सब कुछ जान गई थी। उन्हे जुबां से कुछ कहने की जरूरत ही नही थी, शब्दो का माध्यम उन्हे नहीं चाहिए था।

परमात्म-दशा को प्राप्त सत्पुरुषो की यही स्थिति होती है। वहाँ मौन ही शास्त्र हो जाता है। मौन ही तत्त्व हो जाता है। उसे पढने के लिए अनुभवी हृदय चाहिए। जिसने परमात्मा के साथ एकात्मकता साध ली, वही उसे पढ़ सकता है।

— ० —

६

गुरुराज ! आपके चरणो में,
कोई भागीजन आता है ।
जो सच्चे दिल से आता है,
वह भव-जल से तर जाता है ।।ध्रुव।।

लक्ष्मी-सुत-दारा का पाना, क्या बात बड़ी है दुनियाँ में ?
सत्ता विभुता का पाना भी, ना बात बड़ी है दुनियाँ मे ।
पर सन्त समागम है दुर्लभ, यो ज्ञानी स्पष्ट सुनाता है ।।१।।

जो प्राप्त अन्त अप्राप्त बने, उस पाने का कुछ मोल नही ।
जो आना जाने का सूचक, उस आने का कुछ मोल नही ।
जो पाया कभी न जाये, वह सच्चा पाना कहलाता है ।।२।।

'छाया को पकडूगा निश्चित,' कहता पटेल दौड़ा जाता ।
ज्यो वह बढता छाया बढती, पर मूढ नही लखने पाता ।
स्वामी ने जब मुँह मोड़ दिया, बस समाधान हो जाता है ।।३।।

क्या मुरझाने के लिए, फूल ये रग-बिरगे खिलते है ?
क्या छिन्न-भिन्न होने के खातिर, बादल नभ में घिरते है ?
आ. अन्तर्भेदी योगी ही, गहरे तत्त्वों पर जाता है ।।४।।

दिग्-दर्शन करवाया गुरु ने, अब चलना काम हमारा है ।
सुस्थित नौका तैयार खड़ी, अब चढना काम हमारा है ।
जो चढ जाता है 'चन्दन', वह सानन्द किनारा पाता है ।।५।।



तर्ज—दिल लूटने वाले जादूगर

६.

गुरुराज ! आपके चरणों में कोई भागीजन आता है ।

समणसुत्तं में कहा है—

> जयवीयराय ! जयगुरु ! होउ मम तुह पभावओ भयवं ।
> भवणिव्वेंओ मग्गाणुसारिया इट्ठफलसिद्धी ॥

वीतराग प्रभो ! गुरुवर ! भगवन् ! आपके प्रभाव से मुझे संसार से विरक्ति, मोक्ष मार्ग का अनुसरण तथा इष्ट फल की सिद्धि—यह सब प्राप्त हो ।

वास्तव में गुरु ही संसार के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कराने वाले है। संसार का वास्तविक रूप समझ मे आने से ही भव-निर्वेद—उससे विरक्ति या वैराग्य उत्पन्न होता है। गुरु ही मोक्ष का स्वरूप और उसे पाने का मार्ग बताने वाले है। गुरु ही मोक्ष के शाश्वत सुख की प्राप्ति में प्रेरक बनते है। जो ऐसे गुरु का सान्निध्य-लाभ करता है, वह अपने जीवन के मूल्यवान क्षणों को सार्थक वना लेता है। हमारी सस्कृति का यह मुख्य अंग रहा है कि सन्तों की सगति करो। उनके उपदेशों को सुनो, उन पर चलने का प्रयत्न करो। इसके पीछे यही रहस्य है कि वहाँ जाने से कुछ न कुछ ऐसा प्राप्त होगा, जिससे अभीष्ट फल सधेगा। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

> सुत दारा अरु लक्ष्मी, पापी के भी होय ।
> संत-समागम हरिकथा, तुलसी दुर्लभ दोय ॥

ससार मे दो वस्तुएँ मिलना दुर्लभ है—प्रथम—सन्त-समागम, दूसरी—हरिकथा—भगवान के विषय की वात—धर्म की चर्चा। ज्ञानी ही इसकी गहराई तक पहुँचते है। क्योंकि सासारिक लोग तो धन, वैभव, स्त्री एवं पुत्र आदि को ही महत्त्व देते है। सन्त कहते है—ये दुर्लभ नही है,

ये तो लगभग सबको सुलभ है, घोर पापियों को भी ये सब प्राप्त हो जाते है। भक्तवर सूरदास ने इनकी प्राप्ति पर बडा तीखा व्यग कसा है—

बग-बगली और गीध-गीधनी, आय जन मिलियो ऐसो।
उनहूँ के गृह-सुत-दारा है, उन्हे भेद कहो कैसो ?
भजन विन कूकर-शूकर जैसो !
जैसे घर बिलाव के मूषा, रहत विषयवश ऐसो।
भजन विन कूकर-शूकर जैसो ।।ध्रुव।।

वे कहते है, जैसे बगुले को बगुली प्राप्त है और गीध को गीधनी, वैसे ही अन्यान्य योनियो मे भी स्त्री और बच्चो की प्राप्ति तो हो ही जाती है। उन्हें प्राप्त करना कोई महत्त्व की बात नही। पर सन्त-समागम बड़े पुण्योदय से, बड़े भाग्य से ही प्राप्त होता है।

गुरुराज ! आपके चरणों मे कोई भागीजन आता है।
जो सच्चे दिल से आता है, वह भव-जल से तर जाता है ।।
लक्ष्मी-सुत-दारा का पाना, क्या बात बड़ी है दुनियाँ में,
सत्ता-विभुता का पाना भी, ना बात बड़ी है दुनियाँ मे।
पर सन्त-समागम है दुर्लभ, यों ज्ञानी स्पष्ट सुनाता है ।। १ ।।

सद्भाग्य से ही किसी को गुरु के चरणो की शरण मिलती है। केवल आने मात्र से काम नही चलता। जो सच्चे हृदय से गुरु-शरण में आता है, वह निःसन्देह संसार-सागर से पार हो जाता है। जैन गगनागण के उज्ज्वल नक्षत्र आचार्य सिद्धसेन दिवाकर "कल्याण मन्दिर-स्तोत्र" में लिखते है—

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःख-पात्रं,
यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ।।

—श्लोक ३८

प्रभो ! मैने आपको सुना, आपकी पूजा भी की, आपके दर्शन भी किए, किन्तु सच्ची भक्ति से हृदय में आपको स्वीकार नही किया, इसीलिए मैं ससार में दुःख का पात्र बना हुआ हूँ। क्योंकि भावना-रहित क्रिया कभी प्रतिफलित नही होती—फल नही देती। इसलिए भावो का साहचर्य नितान्त आवश्यक है। इतिहास साक्षी है, भाव से गुरु-शरण मे आने वाले अनेक पापी भव-समुद्र से पार हो गए।

जिस प्रकार धन-सम्पत्ति, पुत्र-पौत्रादि का पाना बड़ी बात नहीं है, उसी प्रकार सत्ता-विभुता का पाना भी कोई महत्त्व की बात नही है। पर सन्त-समागम वास्तव में दुर्लभ है। इसके पीछे एक गहरा रहस्य है। वह है—

जो प्राप्त अन्त अप्राप्त बने, उस पाने का कुछ मोल नहीं,
जो आना जाने का सूचक, उस आने का कुछ मोल नहीं।
जो पाया, कभी न जाए, वह सच्चा पाना कहलाता है ॥

प्राप्त क्षणभर में अप्राप्त बन जाए तो फिर जरा सोचिए, उस पाने का क्या महत्त्व है ? जो आना जाने की सूचना दे रहा है, उस आने की क्या विशेषता है ? पाना तो वह है, जो प्राप्त होने पर कभी न जाए। उसे ही सच्चा पाना कहा जाता है। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि आज जिस वस्तु को पाकर हम फूले नहीं समाते, वह कुछ ही क्षणों के बाद अप्राप्त सिद्ध हो जाती है। उस पाने का हर्ष अवास्तविक है। हमारे आगमों में थावच्चापुत्र का बड़ा सुन्दर एवं प्रेरक उदाहरण है।

द्वारिका का निवासी, थावच्चा सेठानी का बेटा थावच्चापुत्र बड़ा ही सुकुमार एवं सम्पन्न था। ऊँचे राजमहल जैसी अट्टालिका थी। पड़ौसी के घर शिशु का जन्म हुआ। मधुर गीत गाए जाने लगे। उन्हें सुनकर थावच्चापुत्र बड़ा हर्षित हुआ। उसे वे गीत बड़े सुहावने लग रहे थे। वह महल से उतरकर माँ के पास आया और पूछने लगा—माँ! ये सुमधुर गीत क्यों गाए जा रहे हैं ? मुझे ये बड़े कर्णप्रिय लग रहे हैं। माँ ने कहा—बेटा ! आज हमारे पड़ौसी के घर बच्चा पैदा हुआ है। इनके घर में कोई सन्तान नही थी। लम्बे समय पश्चात् पुत्र प्राप्ति होने के कारण ये हर्ष मना रहे हैं, मंगल गीत गाए जा रहे हैं, तथा बधाइयाँ बट रही हैं। कुतूहलवश पुत्र ने पूछा—माँ ! क्या पुत्र के जन्मोत्सव पर इतने उत्सव किए जाते है ? माँ ने कहा—हाँ बेटा ! संसार में पुत्र-प्राप्ति का बड़ा विशिष्ट स्थान है। थावच्चापुत्र ने फिर पूछा—तब तो माँ ! मेरे जन्म पर भी तुमने कुछ ऐसे ही उत्सव मनाये होंगे, हर्षोल्लास व्यक्त किया होगा ? माता ने मुस्कराते हुए कहा—पुत्र ! तेरे जन्मोत्सव की क्या बात कहूँ ? पूरी द्वारिका में आनन्दोत्साह की धूम मची थी। नगर के जन-जन ने जाना था कि किसी के घर नौनिहाल पैदा हुआ है।

माँ की बात सुनकर थावच्चापुत्र बहुत आनन्दित हुआ। उसे लगा कि संसार में बहुत सुख है। इस प्रकार के आनन्दोत्सव समय-समय पर

मनाने को मिलते हैं। प्रमुदित-मन थावच्चापुत्र पुन. महल में लौट गया और गीत सुनने मे मग्न हो गया। पर तभी अचानक यह क्या हुआ ? मधुर गीत करुण क्रन्दन में वदल गए। रुदन और दु खभरी चीखो से थावच्चापुत्र विचलित होकर सोचने लगा कि आखिर वात क्या है ? एकाएक सगीत इतना अप्रिय क्यों लगने लगा ? इतनी-सी देर में स्वर वेसुरे क्यों हो गए ? थावच्चापुत्र तत्काल माँ के पास आया और पूछने लगा—माँ ! यह क्या हो गया ? सुमधुर गीतो की जगह यह विलाप क्यों ?

माँ स्थिति को स्पष्ट करना नही चाहती थी पर पुत्र के प्रश्न को टाल भी कैसे सकती थी ?

माँ को कहना ही पड़ा कि पुत्र ! जो वच्चा अभी-अभी जन्मा था, वह चला गया, काल-कवलित हो गया, सदा-सदा के लिए विछुड़ गया।

थावच्चापुत्र समझ नही पाया कि माँ के कहने का आशय क्या है ? उसने कहा—माँ ! तुम क्या कहना चाहती हो ? मै तुम्हारे भाव समझ नही पाया। वच्चा कैसे चला गया ? माँ ने कहा—वेटा ! वच्चे के प्राण-पखेरू उड गए, वह निर्जीव हो गया। केवल कलेवर रह गया है।

थावच्चापुत्र के हृदय मे उथल-पुथल मच गई। उसनें पूछा—माँ ! क्या ऐसा सभी के साथ होता है ? क्या सभी जन्मने वालो को इसी भाँति मरना पड़ता है ? माँ ने कहा—हाँ पुत्र ! "**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः**' यह अटल सिद्धान्त है। जन्म के पीछे मृत्यु लगी है। आने के पीछे जाना लगा है। सहसा थावच्चापुत्र के निर्मल हृदय में एक प्रश्न उपस्थित हुआ। तो माँ ! जन्म तो मेरा भी हुआ है, क्या मेरी भी इसी तरह मृत्यु होगी ? अपरिहार्य नियम तो मुझ पर भी लागू होगा। माँ अपने पुत्र को अपने मुह से कैसे कह सकती थी कि "तेरी भी मृत्यु होगी।" सिर्फ इतना-सा कहा—इसमें तेरे-मेरे का क्या सवाल है ? प्रकृति के नियम सभी पर बिना भेद-भाव के लागू होते है। आने वाले को जाना ही पडता है।

आगे का वृत्तान्त तो सर्वविदित है ही। कहने का तात्पर्य यह है कि इस संसार मे "प्राप्त" एक क्षण में "अप्राप्त" बन जाता है। हमें देखना है कि जो प्राप्त कभी अप्राप्त न बने, वह क्या है ? जो पाया हुआ कभी वापस न जाए, वैसा क्या है ? तत्त्वज्ञ इसी खोज मे लगे रहते है। आत्माभिमुख होने का यही द्वार है ? अन्यथा तो—

"छाया को पकड़ूंगा निश्चित," कहता पटेल दौड़ा जाता।
ज्यो वह वढ़ता, छाया बढती, पर मूढ़ नहीं लखने पाता।

स्वामी ने जब मुंह मोड़ दिया, बस समाधान हो जाता है।
गुरुराज ! आपके चरणों में……… ……… ……… ॥३॥

हठीसिंह नाम का पटेल, सौराष्ट्र का निवासी था। नौजवान उम्र, हट्टा-कट्टा शरीर, पर बुद्धि में बिल्कुल गोलमाल था। उसमें चिन्तन-शीलता का सर्वथा अभाव था। लोग बेसमझ मानकर उससे खूब हँसी-मजाक किया करते थे। एक दिन किसी व्यक्ति नें मजाक करते हुए हठीसिंह से कहा—पटेल ! तू इतना तगड़ा है, हट्टा-कट्टा है, तेरी वडाई तो हम तब समझे, यदि तू छाया को पीछे छोडकर आगे निकल जाए। देख, तेरी छाया तेरे आगे-आगे चल रही है।

बेसमझ हठीसिह ने तुरन्त कहा—वाह ! भाई साहब, यह तो बहुत साधारण बात है। मै अभी इतने जोर से दौड़ता हूँ कि छाया पीछे रह जाएगी, मैं आगे निकल जाऊँगा। बहुत बार दौड़ में अनेक व्यक्तियों को पीछे छोड़कर मैंने बाजी मारी है। छाया बेचारी है ही क्या ? सामने वाले व्यक्ति ने कहा—अच्छा ! तो आज बाजी मारकर दिखलाओ, तभी हम तुम्हें सच्चा हठीसिंह समझेंगे। बुद्धिशून्य हठीसिह तत्काल तेजी से दौड़ने लगा। उसने सोचा—अभी छाया को पीछे छोड़ देता हूँ पर यह क्या ? ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता जाता, छाया भी आगे बढ़ती जाती। बेचारा पसीने से तर हो गया, श्वास फूलने लगी। वड़ा हैरान हुआ, पर छाया तो वही की वही। वह रुकता है तो छाया भी रुक जाती है, पर दौड़ में पीछे नहीं होती। इस मूर्खतापूर्ण दौड़ के चक्कर में उसने कई कोस लम्बा रास्ता तय कर लिया। क्योंकि वह ठहरा हठीसिह पटेल।

संयोगवश स्वामी सहजानन्द सामने से आते हुए मिल गए। सहजानन्द स्वामी "स्वामी नारायण सम्प्रदाय" के आदि प्रवर्तक थे, वड़े पहुँचे हुए सन्त थे। हठीसिह को इस भांति दौड़ते देखकर पूछा—अरे पटेल ! आज तूफान की तरह कैसे दौड़े जा रहे हो ? क्या विशेष बात हो गई ? हठीसिह ने कहा—महाराज ! आज मैंने एक व्यक्ति के साथ शर्त लगाई है, छाया को पीछे छोड़कर दौड़ में आगे निकल जाऊँगा। इसीलिए दौड़ा जा रहा हूँ, पर यह मनहूस छाया पीछा ही नहीं छोड़ती। आगे की आगे ही चली जा रही है। सहजानन्द स्वामी हँसने लगे। कहा—यदि तुम्हारी समस्या हम एक ही क्षण में हल कर दे तो ? पटेल ने कहा—महाराज ! आपकी वड़ी कृपा होगी।

सन्त वास्तव में वड़े दयालु होते है। उनके हृदय में करुणा का अजस्र स्रोत वहता रहता है। इसी कारण वे अधमोद्धारक एवं पतित-

पावन कहलाते है। सहजानन्द स्वामी ने हठीसिह की वाह पकड़कर उसका मुह सूर्य की ओर कर दिया और कहा—पटेल! अब तू दौडकर देख। तेरी छाया तेरे पीछे-पीछे रहेगी, तू हमेशा आगे ही आगे रहेगा। हठीसिह आश्चर्य-चकित था। कहने लगा—स्वामी! आपने तो कमाल कर दिया। एक ही क्षण में मेरी समस्या हल हो गई। सहजानन्द स्वामी ने कहा—यह वड़े रहस्य की वात है। सन्तो का वस यही तो काम है। तू समझा कि इस परिवर्तन का राज क्या है? केवल मुँह फेरने मे कितना गहरा आशय है? हठीसिह वेचारा क्या समझ पाता? ऐसे सूक्ष्म रहस्यों को समझ पाना उसके वश की वात नही थी। स्वामी ने फिर कहा—हम प्रकाश की ओर पीठ किए फिर रहे है, इसीलिए छाया हमारे आगे-आगे दौडती रहती है। ज्यो ही हमारा मुह ज्योति की ओर, प्रकाश की ओर, ज्ञान की ओर हो जाता है तो छाया, माया, तृष्णा स्वयमेव पीछे रह जाती है। सारी चिन्ताएँ, सारी समस्याएँ स्वय हल हो जाती है। कहा भी है--

चाह मिटी, चिन्ता गई, मनवा वेपरवाह।
जिनको कुछ नहीं चाहिए, वे शाहन के शाह॥

लेकिन यह चाह मिटती कहाँ है? यह तृष्णा पिण्ड छोड़ती कहाँ है? इसीलिए इसको धिक्कारते हुए सन्तों ने कहा—

चाह चमारी चोरटी, सौ नीचन की नीच।
मै ही खुद परब्रह्म था, जो चाह न होती वीच॥

एक उर्दू शायर कहता है—

मै ही खुद खुदा था, अगर वेआरजू होता।
इस आरजू ने ही मुझे, वन्दा वना दिया॥

यदि इच्छाएँ न होती तो मैं ही खुदा होता, पर इच्छाओं ने ऐसा फँसाया कि खुदा से वन्दा—साधारण इन्सान बना दिया।

दिल्ली में एक औलिया—फकीर आया। "फकीर" शब्द की व्याख्या करते हुए कहा जाता है—

फिकर-फिकर को खात है, फिकर फिकर का पीर।
फिकर का फाका करे, ताको नाम फकीर॥

सच्चा फकीर वही होता है, जो फिक्र को खा जाता है, सब चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। औलिया बडा अलमस्त था। बादशाह ने उसकी तारीफ सुनी। उसे अपने दीवाने-आम में आने के लिए बुलावा भेजा।

सिपाही पहुँचे और कहा—आपको बादशाह सलामत याद फरमा रहे है। मेहरबानी करके दरबार में पधारिए। काली कबली ओढ़े अलमस्त औलिया तुरन्त चल पड़ा। सर्दी का मौसम था। गलियों में कुत्तियाँ बहुत ब्यायी हुई थी। उनके पिल्ले रास्ते में इधर-उधर दौड़ रहे थे। अपनी मस्ती में औलिये ने एक पिल्ला उठाया और उसे अपनी कबली में छिपा लिया।

औलिया दीवाने-आम में पहुँचा। बादशाह ने अपने सामने उसे बैठने के लिए आसन दिया। औलिया दोनों पाँव फलाकर बादशाह के सामने बैठ गया। दोनों टाँगों को इस तरह अपने सामने फैलाना बादशाह को बहुत नागवार गुजरा। उसे यह असभ्यता सहन नहीं हुई। ज्ञान सुनना तो दूर रहा, उसने झट फकीर से पूछा कि औलिया साहब! यह बैठने की तहजीब कहाँ से सीखी? दहाड़ते हुए फकीर ने कहा—जिस दिन मैंने अपनी दोनों मुठ्ठियों को बगल में दबा लिया, उस दिन से मैंने ऐसे बैठना सीखा। आप मुझे क्या समझते है? यह कहकर फकीर ने अपनी कंबली से वह पिल्ला निकाला और उसे बादशाह के तख्त पर रख दिया। बादशाह से कहा—मेरी नजर में आप और यह पिल्ला—दोनों एक समान हैं, मेरी दृष्टि में कोई भेद नही है। मै सृष्टि मात्र को अभेद दृष्टि से देखता हूँ। बादशाह सहम गया। वह सिंहासन छोड़कर फकीर के चरणों मे आ बैठा और कहा— मेरी गुस्ताखी माफ करिए, मैंने आपसे ऐसा सवाल पूछा। आप चाहे जैसे बैठिए।

"निःस्पृहस्य तृणं जगत्" जिसके कोई स्पृहा-इच्छा या कामना नही है, उसके लिए संसार तृण के समान है। यदि तृष्णा न हो तो मनुष्य सम्राटों का सम्राट है, किन्तु यह पिशाचिनी छोड़ती कहाँ है? केशी-गौतम सम्वाद में केशी-स्वामी गौतम से पूछते है—

अन्तोहियय-संभूया, लया चिट्ठइ गोयमा !
फलेइ विसभक्खीणि, सा उ उद्धरिया कहं ॥ —उत्तरा० २३/४५

गौतम! अन्तर्हृदय में उत्पन्न एक ऐसी लता है, जिसमें विषैले फल लगे हैं—जो हलाहलमय फल पैदा करती है। उसे आपने कैसे उखाड़ फेंका।

गौतम स्वामी ने कहा—

तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलयं ।
विहरामि जहानायं, मुक्को मि विसभक्खणं ॥४६॥

उस लता को मैने सर्वथा छिन्न कर दिया है—काट डाला है, मूल से उखाड़ फेंका है। ऐसा कर मै सानन्द विहरण करता हूँ, विष-भक्षण से मुक्त हो चुका हूँ।

फिर केशी स्वामी ने प्रश्न किया—

लया य इइ का वुत्ता, केशी गोयममव्ववी ।
केसिमेव वुवत तु, गोयमो इणमव्ववी ॥४७॥

वह लता कौन सी है ?

केशी स्वामी द्वारा यो पूछे जाने पर गौतम स्वामी ने उत्तर दिया—

भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया ।
तमुद्धरित्तु जहानायं, विहरामि महामुणी ॥४८॥

संसार के प्रति तृष्णा—सासारिक भोगो के प्रति आसक्ति वह लता है, जो वड़ी भयकर है, भयावह फल उत्पन्न करती है। उसका यथावत् उद्धारकर—उसे उन्मूलित कर, मिटाकर महामुने ! मै विहार करता हूँ।

वड़ा मार्मिक सम्वाद है। हमारे हृदय में उभरने वाली यह तृष्णा-लता भोगमय भयंकर, जहरीले फल पैदा करती रहती है। हम जो उन्हे खाते है, कैसे सुखी रह सकते है ? जीवन में कैसे समाधि, शान्ति प्राप्त कर सकते है ? तृष्णा ऐसी है, उससे छूट पाना वहुत कठिन है। जैसे सहजानन्द स्वामी ने हठीसिह का मुँह मोड़ दिया, वैसे ही कोई समर्थ गुरु तृष्णा से हमारा मुह फेर दे, तभी उससे पीछा छूट सकता है, अन्यथा तो यह बेल वढ़ती जाती है। मुँह फिरते ही स्थिति वदल जाती है। इसके अतिरिक्त इसे काटने का कोई उपाय नही है। एक दूसरा आश्चर्य और भी है, जब तृष्णा के वश होकर हम किसी वस्तु के पीछे दौड़ते है तो वह वस्तु हमारे आगे-आगे दौडती जाती है, लेकिन यदि हम उससे पराङ्मुख वनकर चल पड़े तो वह वस्तु हमारे पीछे जबरदस्ती आने लगती है। एक शायर ने कहा—

भागती फिरती थी दुनिया जव तलव करते थे हम ।
अव जो नफरत हमने की तो बेकरार आने को है ॥

एक राजस्थानी दोहे मे कहा गया है—

सोनो मांग्यो ना मिलै, क्यूं करै कूडी कत्थ ।
घी जणा ही घालसी, आडो दियां हत्थ ॥

दिन तुम भी हमारी तरह मिट्टी में मिल जाओगी और आने वाली पीढी तुम्हारा भी इसी प्रकार उपहास करेगी। किसी दिन हम भी तुम्हारे ही रूप में थे और टहनी पर हवा के झोंकों से झूलते हुए वड़ा गर्व अनुभव करते थे, पर आज यह दिन आ गया। तुम भी उस दिन की प्रतीक्षा करो, वहुत देर नहीं होगी। इसी स्थिति को लेकर गोस्वामी तुलसीदास ने एक सोरठा कहा है, जो वड़ा प्रेरक है—

कली भली दिन चार, जौ लौं मुख मूंदी रहे।
देत डार से डार, फूली सहत न फूल को॥

प्रकृति का नियम बड़ा विचित्र है। यहाँ फूल का फूलना भी सहन नहीं किया जा सकता। जव तक कली के रूप में वह मुख को मूदे रहता है, तव तक टहनी पर मचलता रहता है, किन्तु ज्यो ही वह कली फूलती है, फूल का रूप लेती है, तो 'देत डार से डार' तत्क्षण उसे डाली से गिरा दिया जाता है। जहाँ फूल का फूलना भी स्वीकार नही, वहाँ आदमी का फूलना कैसे सह्य हो सकता है? संसार की सारी लीला क्षण-भंगुर है। इसी भाँति कजरारे वादल, घोर-घटाएँ जव आकाश की ओर उठती हैं, वड़ी सुहावनी लगती है, सूर्य का प्रकाश विलकुल तिरोहित सा हो जाता है, लेकिन थोड़ी ही देर में वे वादल छिन्न-भिन्न हो जाते है। वादलों की छाया कहाँ तक स्थिर रह सकती है?

जीवन बीता जाए रे बन्दे! जीवन बीता जाए[1]।
भागी लाभ कमाए रे बन्दे! जीवन बीता जाए॥ध्रुव॥
हरे-हरे वृक्षों के पत्ते, हवा गगन की खाएँ।
पर है किसको पता किसी क्षण, किधर टूट गिर जाएँ॥१॥
कितना मनहर रंग-बिरंगा, इन्द्र धनुष उभराए।
हुए देखते चन्द क्षणों में, वह अलोप हो जाए॥२॥
युवती के सर पर जलभृत घट, मंगल पूजा पाए।
किसे खवर कव ठोकर के लगते घटना घट जाए॥३॥
हँसता खिलता सुम टहनी पर, कितनी सुषमा पाए।
वही फूल जव गिरा धूल में, पद से कुचला जाए॥४॥
सांसो की दुनियाँ पर कोई, कितना खेल रचाए।
उनके रुकते ही "चन्दन" यह, खेल सुपन बन जाए॥५॥

---

१ तर्ज—की जाना दम कोई रे वन्दिया

एक व्यक्ति ताप से वडा सतप्त था। धूप तथा तेज गर्मी से व्यथित था। उसने सोचा—मुझे एक कुटिया वनानी चाहिए। कुटिया होने से वडी सुविधा रहेगी। धूप, वर्षा, सर्दी आदि से पूरी रक्षा होगी। वह अभी विचार कर ही रहा था कि आकाश मे गहरे वादल छा गए। धूप सर्वथा लुप्त हो गई। उसने सोचा—चलो, छाया हो गई, अव कुटिया का क्या करेगे ? उसने कुटिया वनाने का विचार त्याग दिया और एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा। थोड़ी ही देर मे हवा के झोको से वादल विखर गए। धूप निकल आई। उसकी खोपड़ी सूरज के ताप से तपने लगी। कहने का आशय यह है—वास्तव मे वादलो की छाया तो माया है। टिकने वाली नही है। इन गहरे तत्त्वों को कोई अन्तर्भेदी विवेकी ही पकड़ पाता है। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु कोई न कोई रहस्य लिये है, पर वह गुरुगम्य है, गुरु के विना उस तत्त्व को हृदयंगम नही किया जा सकता। उसकी यथार्थ स्थिति समझ मे नही आ सकती।

गीत का अन्तिम पद है—

दिग्दर्शन करवाया गुरु ने, अव चलना काम हमारा है।
सुस्थित नौका तैयार खड़ी, अव चढना काम हमारा है।
जो चढ जाता है "चन्दन" वह सानन्द किनारा पाता है।
गुरुराज ! आपके चरणो मे⋯⋯ ⋯⋯⋯⋯⋯⋯ ॥५॥

गुरु का तो काम केवल दिग्दर्शन कराना है, मार्ग वताना है, उस पर चलना तो हमारा काम है। दिग्दर्शन वही करा सकता है, जिसे उस पथ का अनुभव हो, जिसने अनेक वार उसे पार किया हो। वही कुछ ऐसे सकेत दे सकता है, जिससे हम पथगामी दिग्मूढ न वने। गुरु का काम नौका को तैयार करना है, पर उस धर्मरूपी नौका पर आरूढ होना हमारा काम है। वड़े आश्चर्य की वात है, भोजन की थाली सामने परोसी हुई होने पर भी खाना खाया नही जाता।

सेठ की सेठानी वडी विनीत थी। पतिव्रता थी। वह सेठ के लिए प्रतिदिन हलवा वनाती। उसे वड़े प्रेम से खिलाती पर खाते समय सेठ हो-हो करता रहता, जैसे मानो उमे भारी परिश्रम हो रहा हो, वड़ी कठिनाई हो रही हो। एक दिन स्त्री ने सोचा—ये खाते समय हो-हो क्यो करते है ? वह सेठ से कहने लगी—हलवा मैने वनाया, सारा काम मैने किया, आप चाहे तो ग्रास भी आपके मुँह मे मै दे दूँ। सेठ ने कहा—सब कुछ तुमने ही किया है, ग्रास भी मेरे मुँह मे दे सकती हो, पर गले से नीचे तो मुझे ही

उतारना पड़ेगा। सेठानी हैरान थी। गले के नीचे उतारने का काम तो स्वयं का ही है। मैं नीचे उतारूँगी तो उससे मेरा पेट भरेगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि गुरु ने सारी साधनानुकूल स्थितियां अवगत करा दीं, पार होने के साधन जुटा दिए, पर उनका लाभ उठाना तो हमारा ही काम है।

हमने बैंगलोर चातुर्मास किया। किशनलाल पोद्दार वहाँ के गण-मान्य व्यक्तियों में थे। वे प्रतिदिन प्रवचन श्रवण के लिए आया करते थे। बड़े अनुभवी और शास्त्रज्ञ थे। एक वार उन्होंने कहा—महाराज! सन्तों को और माँ को प्रसन्न करने में बिल्कुल जोर नहीं पड़ता। माँ ने स्वादिष्ट भोजन वनाया, शुद्ध घृत का हलवा वनाया और कहा—आओ वेटा! खा लो। बेटे ने खाया, माँ खुश हो गई। वड़ा सपूत बेटा है, मेरा मन रखता है। इसी भाँति लम्बी साधना के वाद सन्तों ने जो अनुभव प्राप्त किए, शास्त्रों की गहराई में जाकर जो नवनीत प्राप्त किया, वे वह शिष्यों को दे रहे है, भक्तों को वाँट रहे हैं। यदि भक्त स्वीकार कर लें, सन्त प्रसन्न हो जाते है। सारा श्रम तो ऋषि-महर्षियों ने किया और उस नवनीत को हम स्वीकार लें तो प्रसन्न हो जाते है। इससे सस्ता सौदा और क्या हो सकता है? पर कोई भाग्यवान् ही यह सौदा साध पाता है, पुण्यवान् ही लाभ कमा सकता है। इसीलिए कहा गया—

गुरुराज! आपके चरणों में, कोई भागीजन आता है।

— ० —

७

मेरे मधुवन में आम लगा,
फल खाऊँ कौन मना करता ?
आंगन मे गगा वहती है,
उठ न्हाऊँ कौन मना करता ? ॥ ध्रुव ॥

है अचरज इसका ही घर पर,
क्यों अपनी नजर नही जाती ?
क्यो सड़े-गले बाजारो के फल,
खाने को मति ललचाती ?
अपनी निधि पर अपनी प्रभुता,
दिखलाऊँ कौन मना करता ? ॥ १ ॥

पर घर मे अपने घर जैसा,
हा ! हा तेरा सत्कार कहाँ ?
सहकार कहाँ ? व्यवहार कहाँ ?
है और उचित उपचार कहाँ ?
अपनी भूमि पर विजय ध्वजा,
फहराऊ कौन मना करता ? ॥ २ ॥

जो सही समझ में आ जाए,
तो तुझे सुधरते वार नही ।
रवि की किरणो के पडते ही,
उस घनतम का अधिकार नही ।
'चन्दन' आवरण हटा रवि को,
प्रकटाऊँ कौन मना करता ? ॥ ३ ॥

तर्ज :—दिल लूटने वाले जादूगर

७.

मेरे मधुवन में आम लगा

स्थानांगसूत्र के छट्ठे स्थान में कहा गया है—

छट्ठाणाइं सव्वजीवाणं णो सुलभाइं भवंति। तं जहा—
माणुस्सए भवे,
आरिए खेत्ते जम्मं,
सुकुले पच्चायाती,
केवलिपण्णत्तस्स धम्मस्स सवणया,
सुत्तस्स वा सद्दहणया,
सद्दहियस्स वा, पत्तियस्स वा, रोइयस्स वा सम्मं काएणं फासणया।

—स्था. ६/१३

छह स्थान—छह वाते सब जीवों को सुलभ नही होती। उन्हें प्राप्त करना हर प्राणी के लिए सम्भव नही है। इन छह दुर्लभ वातों में प्रथम है—मनुष्य-भव! मनुष्य-भव की प्राप्ति वहुत दुर्लभ मानी गई है। इसके लिए उत्तराध्ययन सूत्र की टीका में दस दृष्टांत आये है, जो वड़े प्रेरक है। उनमें से एक है—

एक जन्मान्ध पुरुष दुर्भाग्य से चौरासी कोस के परकोटे में प्रविष्ट हो गया, जिसका केवल एक द्वार था। द्वार की खोज में वह कोसों लम्बा रास्ता पार कर गया। रास्ता न मिला तो जोर-जोर से पुकारने लगा—कोई दयावान् पुरुष मुझे इस परकोटे से वाहर निकाले। मुझे कोई दरवाजे के पास पहुँचा दे, मै उसका कृतज्ञ रहूँगा, आभार मानूंगा। पर अन्धे की वात पर कौन ध्यान दे? वह चिल्लाता हुआ मार्ग की खोज में उलटी दिशा में चला जा रहा था। आखिर एक दयालु पुरुष की उस पर नजर पड़ी। उसकी दशा देखकर वह करुणा-विगलित हुआ। वह सोचने लगा—वेचारा सूरदास वड़ा दु:खी हो रहा है। इसके लिए कोई रास्ता निकालना चाहिए, पर द्वार तक इसके साथ कौन जाए? आखिर आँखों वाले व्यक्ति ने सूझ से काम लिया। उस अन्धे आदमी का हाथ दीवार से लगवा दिया और कहा कि इस दीवार के सहारे आगे वढ़ते जाओ। जहा दरवाजा

आ जाए, वहाँ से वाहर निकल जाना, पर हाथ को दीवार से हटाना मत। कही हाथ हटाने का प्रसग आ जाए तो वही खड़े रह जाना। यो उसे अच्छी तरह समझाकर वह आगे वढ गया। अन्धे को कुछ ढाढस वधा। वह दीवार के साथ-साथ दरवाजे की ओर वढने लगा। वडी कठिनाई से उसने वह लम्वा रास्ता पार किया। दरवाजे के नजदीक पहुँचा ही था कि सयोग से उसके सिर में खुजली आने लगी। भाग्यहीन अन्धा दोनो हाथो से सिर खुजलाने लगा, पर वह ठहरा नही, आगे चलता ही गया।

कहा जाता है, दोनो हाथो से सिर खुजलाना दरिद्रता का सूचक है। समझदार व्यक्ति कभी ऐसा नही करते, पर वह वेअकल दोनो हाथों से सिर खुजलाता हुआ आगे वढ गया। द्वार वीच मे छूट गया और फिर अगली दीवार पर हाथ लग गया। अव फिर वही चौरासी कोन का चक्कर उसके आगे ज्यो का त्यो पड़ा है।

तात्पर्य यह है कि चौरासी लाख जीव योनियो में परिभ्रमण करता हुआ ससारी जीव मनुष्य-भव मे आता है। वहाँ ससार से पार होने का एक दरवाजा है, वाहर निकलने का मार्ग है, एक दुर्लभ अवसर है। यदि वह इस अवसर को चूक जाता है तो फिर चौरासी लाख जीव-योनियाँ आगे तैयार है। इसलिए कहा गया कि छह वोलो की प्राप्ति में मनुष्य-भव विशेप दुर्लभ है। यह एक ऐसा चौराहा है, जहाँ से सभी ओर मार्ग निकलते है। मनुष्य मरकर नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव गति मे जा सकता है। पचम गति—मोक्ष का मार्ग भी यही से है। और कही भी यह अवसर नही है। मुसलमानो ने भी आदमी को वहुत ऊँचा माना है। उनके यहां एक शव्द आता है "अशरफ-उल-मखलूकात" यानी खलकत की महत्त्वपूर्ण खूवी आदमी को प्राप्त है। गहराई से देखा जाय तो कुदरत की चीजो का सुनियोजन आदमी ने ही किया है। सारी सुव्यवस्था आदमी ने ही उत्पन्न की है। लाखो-करोडों वर्षो से गाय दूध देती आ रही है पर आज तक वेचारी गाय को पता तक नही कि उसके दूध का दही जमता है, मक्खन निकलता है, स्वादिष्ट खीर वनती है, पेडे और रसगुल्ले वनते है। विविध पदार्थ, वस्तुएँ मनुष्य ने ही पैदा की।

एक चीज क्या? मनुष्य ने समुद्र के तल को छान डाला, पृथ्वी के गर्भ में छिपे रहस्यों को उद्घाटित किया, अन्तरिक्ष को भी अछूता नही छोडा। आदमी ने वडी उपकारी चीजे पैदा की है। एडीसन के आविष्कार का सारी दुनिया लाभ उठा रही है। आज हजारो उपकरण ऐसे है, जो विद्युत द्वारा चालित है। विद्युत का उपयोग मानव-जीवन में अपरिहार्य

हो गया है। सिर्फ स्विच ऑन-ऑफ करने की जरूरत है। सबसे बड़ी बात यह है कि एक आदमी की खोज लाखों-करोड़ों आदमियों को लाभान्वित कर रही है, और आने वाली अनेकानेक पीढ़ियों को लाभान्वित करती रहेगी। इसलिए आदमी महान् है। एक शायर ने कहा है—

आदम को खुदा मत कहो, आदम खुदा नहीं।
लेकिन खुदा के नूर से, आदम जुदा नहीं॥

ईश्वरीय आभा का दर्शन केवल आदमी में ही हो सकता है। इसलिए सभी आगमों-निगमों में आदमी को बहुत महत्ता दी गई है। मनुष्य-भव को देव-दुर्लभ माना गया है। दुर्लभ वस्तुओं की श्रेणी में उसका सबसे पहला स्थान है।

दूसरे स्थान में दिया गया "आरिए खेत्ते जम्मं"—आर्य-क्षेत्र में जन्म लेना अपने आप में बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यदि आर्य-क्षेत्र में जन्म नहीं हुआ, ऐसे अनार्य-प्रदेश में उत्पत्ति हुई, जहाँ धर्मध्यान के लिए कोई अवसर ही प्राप्त नहीं होता तो फिर मनुष्य-भव से क्या सध पायेगा। आर्य-क्षेत्र का तात्पर्य उस प्रदेश से है, जहाँ तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि महापुरुषों का अवतरण होता हो, जहाँ धार्मिक उपदेशों की गंगा प्रवाहित होती हो, जहाँ लोगों के आचार-विचार अहिंसात्मक दृष्टि से समुन्नत हों।

आर्य शब्द का व्युत्पत्तिपरकअर्थ भी यही होता है—"आरात्—दूरं याताः सर्वहेयकर्मभ्य इति आर्याः" सभी हेय—त्यागने योग्य कर्मों से जो दूर रहते है, वे आर्य कहलाते है। आर्यो के बसने के कारण ही इस प्रदेश का नाम आर्यावर्त पड़ा है। वाल्मीकि रामायण में सीता राम को "आर्य-पुत्र" कहकर सम्बोधित करती है। भगवान् महावीर ने भी अपने शिष्यों को "अज्जोत्ति"—"आर्य इति" कहकर पुकारा। आर्य क्षेत्र में जन्म लेना धर्म-साधना के लिए उपयुक्त माना गया है। इसलिए वह एक विशिष्ट उपलब्धि है।

तीसरी वस्तु है—"सुकुले पच्चायाती"—सुकुल—उत्तम कुल मे पैदा होना। आर्य-भूमि में जन्म तो हुआ, पर यदि उत्तम संस्कारयुक्त कुल नहीं मिला, तो वहाँ भी धर्म-साधना कदापि सम्भव नहीं होती। प्रायः उच्च संस्कार श्रेष्ठ कुल में ही प्राप्त होते है। रहन-सहन, खान-पान, बोल-चाल, जीवन-व्यवहार तथा कुलधर्म का साधना पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। पूज्य कालूगणी एक राजस्थानी दोहा फरमाया करते थे—

वड़पण, भलपण, ऊँचपण, होय जिहा घर होय।
टाटी ऊपर तीन खण, सुण्या न दीठा कोय॥

अतएव विशिष्ट कुल या अच्छे सस्कारी खानदान में जन्म पाने का वहुत महत्त्व है। उसे दुर्लभ वतलाया गया है।

चौथा स्थान है "केवलि-पण्णत्तस्स धम्मस्स सवणया"—केवलि-भापित धर्म का श्रवण। यह वहुत गहरी वात है। पूर्वोक्त तीनो वाते तो पूर्वकृत पुण्यों के सयोग से फिर भी प्राप्त हो जाती है, पर धर्म श्रवण का सुअवसर तो अत्यन्त कठिन है—"सुई धम्मस्स दुल्लहा" धर्म-श्रुति वास्तव मे दुर्लभ है।

अनादि काल से प्राय ससारी जीव के सस्कार ऐसे है कि वह धर्म-श्रवण से विमुख वना रहता है। हम देखते है, सिनेमा, नाटक, टेलिविजन और वीडियो फिल्मो में लोगो को वडा आकर्पण है। छोटे-वड़े सव वहाँ एकत्र हो जाते है, परन्तु यदि सत्सग में जाने का काम पड़े तो नीद आने लगती है, सुस्ती छा जाती है।

श्रवण ज्ञान-साधना का वड़ा सशक्त माध्यम है। पाँचो इन्द्रियो की प्राप्ति मे श्रवणेन्द्रिय का सवसे ऊँचा स्थान है। पचेन्द्रिय जीव ही श्रवणेन्द्रिय का स्वामी हो सकता है। सनातन धर्म में "श्रुति" और "स्मृति" —इन दो शव्दों का विशेष अर्थ में प्रयोग हुआ है। श्रुति का तात्पर्य वैदिक ऋचाओ से है, जो ऋपियो को ध्यानावस्था में सहज रूप में प्राप्त हुई। अतएव स्थान-स्थान पर व्याख्याओ में आता है—"इति श्रुतेः"। श्रुति—अनुमोदित वह सारा ज्ञान, जो अभ्युदय एव नि श्रेयस से सम्बद्ध है, स्मृतियों के रूप में समाकलित हुआ। फलत "मनुस्मृति", याज्ञवल्क्य-स्मृति, पाराशरस्मृति आदि ग्रन्थ प्रकट हुए। कहने का आशय यह है, सारा शास्त्र-भण्डार श्रुति और स्मृति के रूप में विकसित हुआ। श्रुति का साधन होने के कारण श्रवण का वड़ा महत्त्व है।

एक और वडा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है, जो बच्चा सुन नही सकता, वह वोल भी नही सकता। श्रवणेन्द्रिय द्वारा शब्दो का ग्रहण होता है। उसी का अनुकरण करता हुआ वच्चा बोलना प्रारम्भ करता है। क्षीण श्रवणेन्द्रिय-शक्ति युक्त वालक के स्वरयन्त्र में, जिह्वा में दोष न होने पर भी वह वोल नही पाता। ये सारे "शब्दकोष" श्रवण का ही परिणाम है। जो संग्रहीत ज्ञान भण्डार हमें उपलब्ध है, ये इसी के कारण है। इसलिए

सुनना और विशेष रूप से धर्म-कथा सुनना, तत्त्वचर्चा सुनना कठिन ही नहीं दुर्लभ है, ऐसा माना गया है।

"सुत्तस्स वा सद्दहणया"—श्रवण के पश्चात् आत्मा में श्रद्धा उत्पन्न होना, रुचना—सुने हुए तत्त्व के प्रति रुचि और आस्था पैदा होना दुर्लभ माना गया। सुनना एक बात है, उसमें रुचि उत्पन्न होना दूसरी बात। रुचि से यहाँ तात्पर्य है—एक प्रकार की भूख जागरित होना। उत्तराध्ययन सूत्र में एक स्थान पर उल्लेख है—**"सद्धा परम दुल्लहा"** श्रद्धा दुर्लभ ही नही, परम दुर्लभ है। "श्रद्धा" शब्द का गहरा आशय है। यह वह वस्तु है, जिसे पाये बिना हम रह ही नही सकते। गर्भवती स्त्रियों को जो दोहद उत्पन्न होता है, उसे श्रद्धा कहा जाता है। यदि उसकी पूर्ति न हो तो माँ को तथा गर्भस्थ शिशु को बड़ी हानि पहुंचती है। इसी प्रकार श्रवण के बाद आत्मिक रुचि पैदा हो, आन्तरिक भूख का तीव्र अनुभव हो, वह श्रद्धा है। भूख भी क्या है? वास्तविक भूख का अनुभव बहुत कम होता है, क्योकि सामान्यत. लोग खाने के समय खाना खा लेते है। उन्हे यह खयाल ही नही होता कि भूख लगी है या नही। बस, भोजन का समय हो गया और भोजन कर लिया। तीव्र प्यास का तो फिर भी कभी-कभी अनुभव हो जाता है, पर तीव्र भूख का अनुभव तो लम्बे समय भोजन न मिलने पर ही हो सकता है।

एक बार एक जहाज पर सवार होकर कुछ यात्री समुद्री यात्रा के लिए निकले। जितने दिन यात्रा में लगने की सम्भावना थी, उस अनुमान से खाद्य-सामग्री की व्यवस्था थी। लेकिन वह जहाज समुद्र में इस प्रकार भटक गया कि अनुमानित दिनो से दस-पन्द्रह दिन अधिक लगने की स्थिति उत्पन्न हो गई। व्यवस्थापकों ने सोचा—पन्द्रह दिन अधिक सामने पड़े हैं और खाद्य सामग्री तो जितनी है, उतनी ही है, क्या किया जाए? बुद्धिमान् व्यक्तियों ने बडी गहरी सूझ से काम लिया। जिस अनुपात से उस सामग्री को पन्द्रह दिन चलाया जा सकता था, प्रत्येक व्यक्ति को उसी अनुपात मे भोजन दिया जाने लगा। वह भी दिन में एक बार।

उन यात्रियों ने अपने अनुभवों में लिखा है कि जब भोजन देने का समय आता, सभी यात्री इतने आतुर होते, उत्सुक होते कि थोडा सा भोजन किसी तरह और प्राप्त हो जाए। वास्तविक भूख से साक्षात्कार का वह पहला अनुभव उन्हें हो रहा था। धर्म के लिए भी जब ऐसी तीव्र क्षुधा पैदा हो जाती है, तभी श्रद्धा का अवतरण होता है और तभी तत्त्वानुभूति होती है।

"सद्दहियस्स वा, पत्तियस्स वा, रोइयस्स वा सम्मं काएणं फासणया।"

छठा स्थान है श्रद्धा, प्रतीति या रुचि के बाद उस तत्त्व का काया से सम्यक् संस्पर्शन—उस तत्त्व को जीवन में उतार लेना, उसे आत्मसात् कर लेना। आज की भाषा मे कहे तो उसे प्रैक्टिकल (Practical) रूप देना। यह छठा सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि सुना, श्रद्धा भी की, पर यदि उसे जीवन से नही जोडा तो उससे कोई लाभ नही होता। दूध को जानना, उसे पीने से शक्ति प्राप्त होती है, ऐसा दृढ निश्चय हो जाना—यह अलग वात है और दूध पीकर उसके फल का प्रत्यक्ष अनुभव करना दूसरी वात।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे कि तीन वाते है—अज्ञान, ज्ञान और विज्ञान। केवल पुस्तकीय ज्ञान—जहाँ तक अनुभव में नही आता, अज्ञान है। साक्षात् जान लेने पर वह ज्ञान वन जाता है। जीवन से जोड लेने पर ज्ञान विज्ञान वन जाता है। प्रयोग मे आने से ही ज्ञान विज्ञान वनता है। वही वात, दूध का शाब्दिक ज्ञान अज्ञान है। यह गौ है, यह दूध है, ऐसा साक्षात्कारि ज्ञान, ज्ञान है तथा पीकर अनुभव करना विज्ञान है। तात्त्विक त्रिशती मे हमने लिखा है—

दूध-विषय की पुस्तकें, चाहे पढ़ लें आप।
रसास्वाद होगा तभी, जव पीएँ चुपचाप॥

इस प्रकार छह वोल साधारण प्राणी के लिए दुर्लभ माने गए है। अत्यन्त सुकृत का, पुण्य का संयोग होने पर ही इनकी प्राप्ति होती है। इन छहो की प्राप्ति हो जाने के वाद किसी वस्तु की कमी नही रहती।

मेरे मधुवन में आम लगा, फल खाऊँ कौन मना करता ?
आँगन मे गंगा वहती है, उठ न्हाऊँ कौन मना करता ?
है अचरज इसका ही घर पर, क्यो अपनी नजर नहीं जाती।
क्यो सड़े-गले वाजारो के फल, खाने को मति ललचाती।
अपनी निधि पर अपनी प्रभुता, दिखलाऊँ कौन मना करता॥

हमारे उद्यान में जव आम्रवृक्ष फल रहा है, मीठे फलों के भार से लदा है, जव मर्जी हो फलों का रसास्वादन करे, कौन मना करने वाला है। चाहे जव और चाहे जितने फलों का हम अपने मन के अनुसार उपयोग कर सकते है। गंगा जव आँगन में वह रही हो तो चाहें कितने गोते लगाएँ, वाधा क्या है ? यदि गोता लगाने के लिए प्रयागराज जाना पड़े तो दस समस्याएँ सामने आती है। कैसे जाएँ ? कब जाएँ ? किसके साथ जाएँ ?

पर, यदि घर के आँगन में ही गंगा बहने लगे तो कोई चिन्ता नहीं, कोई समस्या नही, बेरोक-टोक गोते लगा सकते हैं। पर सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि अपने घर पर दृष्टि जाती ही नही। बाजार में सजी चीजों को देखकर मन ललचाता है पर अपने घर के फलों में रुचि उत्पन्न नही होती।

हमारी अपनी निधि—अपनी सम्पत्ति पर हमारी विभुता है, हमारी प्रभुता है। आत्मा के ज्ञान, दर्शन, आर्जव—ऋजुता, सरलता, मार्दव—मृदुता, कोमलता, लाघव आदि गुण हमें स्वसम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुए हैं। उन पर हमारी पूरी मालकियत है। हमारे घर में अपार सम्पत्ति है पर अप्रकट है, छिपी पड़ी है। उसे मात्र प्रकट करने की ही देर है। हमारे आत्म-गुणों की सम्पत्ति कर्मों के आवरण से आवृत है। उस आवरण को हटाना ही हमारा परम पुरुषार्थ है।

पर घर में अपने घर जैसा हा ! हा ! तेरा सत्कार कहाँ ?
सहकार कहाँ? व्यवहार कहाँ,है और उचित उपचार कहाँ?
अपनी भूमि पर विजय-ध्वजा फहराऊँ कौन मना करता।
मेरे मधुवन में आम लगा.............................. ॥

"स्वघर" स्वघर ही है "पर" पर ही है। जैसा अपने घर में सत्कार सहकार, उपचार सुलभ है, वैसा पर-घर में कैसे प्राप्त हो सकता है ?

जामनगर के जाम साहब दिल्ली गए। वहाँ बिल्कुल सामान्य रूप में वे बाजार में कुछ खरीददारी कर रहे थे। किसी पूर्व परिचित व्यक्ति ने उन्हें देखा तो हैरान रह गया। जाम साहब ! आप यहाँ ? इस रूप में—बिना किसी विशेष व्यवस्था के घूम रहे हैं ? जब जामनगर में आपकी सवारी निकलती है, तब कितनी व्यवस्था होती है, कितने लोग आपके दर्शन के लिए लालायित रहते हैं। आपकी नजर भी किसी पर पड़ जाए, वह अपने को धन्य मानता है, कृतकृत्य हो जाता है। आज आप यों अकेले घूम रहे हैं !

मुस्कराकर जाम साहब ने कहा—वह मेरी राजधानी है, मेरा घर है, मेरा साम्राज्य है वहाँ। यहाँ मुझे कौन जानता है।

अध्यात्म में दो शब्द आते हैं—स्वभाव और विभाव। स्वभाव में आत्मा स्वतः शान्त, निर्बन्ध बनी रहती है। विभाव में वह स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। पद-पद पर पराधीनता का अनुभव होता है। क्योंकि स्वभाव शाश्वत है, विभाव क्षणिक है। पानी, पानी के रूप में लम्बे समय तक रह सकता है, किन्तु बर्फ के रूप में कितनी देर ठहर पाता है ? अनेक

प्रयत्नो के बावजूद बर्फ पानी के रूप में परिणत हो जाती है। एक उर्दू के शायर ने लिखा है—

> नफे की क्या खाक हो उम्मीद हमको बर्फ से,
> देर बिकने में लगी तो गल के पानी हो गया।

एक ग्रामीण एक बड़े शहर मे आया। बाजार में उसने बर्फ बिकती देखी। उसने देखा, बड़ी भीड लगी है। एक आदमी आरी से टुकड़े काट कर बेच रहा है। उसने जीवन में पहली बार बर्फ देखी थी, इसलिए किसी भाई से पूछा कि यह क्या वस्तु है और इसका क्या करते है? उसने बताया कि यह बर्फ है, इसे दूध में, पानी में डालकर पिएँ तो बडा अच्छा लगता है। गर्मी में तो इनकी बड़ी उपयोगिता है। ग्रामीण ने दाम पूछे तो मात्र पच्चीस पैसे किलो। उसने सोचा, यह चीज अच्छी भी है और सस्ती भी। नई चीज बाल-बच्चो के लिए ले जाऊँगा तो वे भी बड़े खुश होंगे। उसने दो किलो बर्फ खरीदी। बेचने वाले ने दो किलो का खण्ड काटकर उसे थमा दिया। ग्रामीण ने उसे अगोछे मे बाँधा और पीठ की तरफ कन्धे पर लटका लिया।

बसो, मोटरों के साधन कम उपलब्ध थे। लोग दो-चार कोस पैदल ही आया-जाया करते थे। उसका गाँव तीन कोस दूर था। भयंकर गर्मी के दिन थे। वह चल पड़ा। इधर बर्फ बूंद-बूंद कर झरने लगी। वह घर पहुँचा, तब तक बर्फ का छोटा-सा टुकडा रह गया। वह हैरान होकर कहने लगा, मेरी बर्फ की चोरी हो गई। मै दो किलो खरीदकर लाया था, पर पाव भर मुश्किल से बची है। आखिर वैभाविक परिणति कितनी देर ठहर सकती है। इसलिए स्वभाव, स्वभाव ही है।

अपनी भूमि पर विजय-ध्वजा फहराऊं कौन मना करता।

यह तो मेरी अपनी भूमि है। आत्मा पर तो मेरा साम्राज्य है। यहीं पर हम अपनी विजयध्वजा फहरा सकते है। इन्द्रियो पर और मन पर पाई हुई विजय ही वास्तविक विजय है। इन्द्रियाँ और मन राग-द्वेष में परिणत न हों, वे अपनी सहज स्थिति में रहे, यही सच्ची विजय है। गीता में कहा है—

> **रागद्वेषवियुक्तैस्तु, विषयानिन्द्रियैश्चरन्।**
> **आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधिगच्छति॥** २/६४

राग-द्वेषवर्जित इन्द्रियों से विषयों को भोगता हुआ ज्ञानी कभी

वन्धन में नहीं आता। वस यही अपनी भूमि पर विजय ध्वजा का आरोपण है।

जो सही समझ में आ जाए, तो तुझे सुधरते वार नहीं।
रवि की किरणों के पड़ते ही, उस घन तम का अधिकार नहीं ॥
"चन्दन" आवरण हटा रवि को प्रगटाऊँ कौन मना करता।
मेरे मधुवन में आम लगा...... ....॥

यदि सही स्थिति समझ में आ जाए, उसका सम्यक् अववोध हो जाए तो व्यक्ति के सुधरने में देर नही लगती क्योंकि ज्ञान एक दिव्य प्रकाश है। उसके आते ही गहरा अन्धकार भी टिक नही पाता। सूचिभेद्य अन्धकार को भी प्रकाश की एक किरण भेद डालती है। अँधेरे का अस्तित्व प्रकाश के अभाव में है। प्रकाश के सामने वह प्रकट नही हो सकता। आचार्य मानतुंग भक्तामर स्तोत्र में लिखते है—

आक्रान्तलोकमलिनीलमशेषमासु,
सूर्यांशुभिन्नमिव शार्वरमन्धकारम् ॥ —श्लोक संख्या ७

जिसने लोक को छा दिया है, जो भौरे की ज्यों काला स्याह है, जिसका कही ओर-छोर नहीं है, ऐसा सघन अन्धकार भी सूर्य की किरणों के समक्ष ठहर नही पाता, किन्तु शर्त एक ही है, सूर्य का दर्शन हो जाए, ऊपर के वादल छँट जाएँ। ज्ञान-ध्यान की ऐसी तीव्र वायु चले, जिससे वे अज्ञान के घनघोर मेघ फट जाए। फिर सूर्य के दर्शन होने मे देर ही क्या लगती है। हम भी ज्ञानावरणीय आदि कर्मो के आवरण हटाएँ, आत्मसूर्य का दर्शन करे, यही साधना की पराकाष्ठा है।

०—०

८

आपकी पहचान से, पहचान अपने बाप की।
पिण्ड की पहचान से, पहचान है ब्रह्माण्ड की ।।ध्रुव।।

खोज होगी व्यर्थ अपने रूप को जाने बिना।
स्वत्व की पहचान से, पहचान होगी तत्व की ।।आपकी ..१।।

आज तक देखा कहीं क्या किसी ने भगवान को।
सत की पहचान ही, पहचान है भगवंत की ।।आपकी....२।।

धर्म का आधार जीवन के बिना होगा कहाँ ?
कर्म की पहचान से, पहचान होगी धर्म की ।।आपकी ३।।

लगन सच्ची लग गई तो कठिन क्या है त्यागना।
लाग की पहचान से, पहचान होगी त्याग की ।।आपकी""४।।

बीज में ही वृक्ष का 'चन्दन' छिपा विस्तार है।
बिन्दु की पहचान से, पहचान होगी सिन्धु की ।।आपकी"' ५।।

तर्ज—तन नहीं छूता कोई

८.

आपकी पहचान से पहचान अपने बाप की

> कोऽहं कोऽहं कोऽहं कोऽहं ? सततं चिन्तय कोऽहं ।
> सोऽहं सोऽहं सोऽहं सोऽहं सततं चिन्तय सोऽहं ।।
> स्वरूपभानं सृजसि न यावत्, शांतिपथं त्वं भजसि न तावत् ।
> आत्मकांचनं त्यक्त्वा क्रेतुं किंकिल वांछसि लोहम् ।
> कोऽहं कोऽहं.............................. ... . ।।

एक ज्वलन्त प्रश्न, जो सदा से उठता रहा है, वह है कि परमात्मा क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? उसे कैसे पहचाना जाए ? बिना पहचान के, अनुभव के विश्वास कैसे हो कि परमात्मा है ? महर्षियों ने कहा है—इतने लम्बे विवाद में जाने की आवश्यकता नहीं। पहले स्वयं अपनी पहचान करो, परमात्मा की पहचान स्वतः हो जाएगी। आत्मा की पहचान से ही परमात्मा की पहचान होती है। परमात्मा को जानने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि हम अपने आपको नहीं जानते। जिज्ञासु का प्रश्न था—"कोऽहं" मैं कौन हूँ ? ऋषि ने समाधान दिया "सोऽहं" वही मैं हूँ, परमात्मस्वरूप ही मैं हूँ।

अनन्तकाल से हम देहाध्यास में फँसे हुए हैं, बहिरात्मभाव में रमे हुए हैं। जब भी प्रश्न उठता है, "तुम कौन हो" ? हमारा संकेत शरीर की ओर होता है "यह मैं हूँ"। लेकिन "यह मैं हूँ" यह कहने वाला कौन है ? क्या शरीर ऐसा बोल रहा है ? नहीं, भीतर जो चेतना है, वह उसी की अन्तर्ध्वनि है। यह चेतना शक्ति ही आत्मा का लक्षण है। उसे पहचानना ही अपने स्वरूप को पहचानना है और आत्मा को पहचानना ही परमात्मा को पहचानना है।

किसी नगर में एक बालक बड़ा अभागा था। उसके माता-पिता उसे बहुत छोटी उम्र में ही छोड़कर स्वर्ग सिधार गए थे। उसे कुछ भी भान नहीं था कि मैं कौन हूँ ? कहाँ हूँ ? आयुष्य लम्बा होने के कारण किसी तरह वह सगे-सम्बन्धियों के सहारे पलने लगा, पर किसी ने उसकी

पूरी तरह सार-सम्हाल नही की। किसी तरह उसने साधारण-सी पढाई की। वारह-तेरह वर्ष की उम्र में सम्बन्धियों ने मिलकर किसी गरीब घर की कन्या के साथ उसकी शादी कर दी। यद्यपि वह उसके पाणिग्रहण की अवस्था नही थी, पर वाल-विवाह की प्रथा के कारण उस वच्चे को बधन में जकड दिया गया। शादी होने से घर में दो प्राणी हो गए। वह बेचारा अपना पेट भरने मे भी पूरा समर्थ नही था, घर मे स्त्री के आने से जिम्मेवारी और वढ गई। वह वडा चिन्तातुर रहने लगा, क्योकि आय बिल्कुल नही थी। पेटपूर्ति की समस्या वड़ी विकट रूप मे सामने खडी थी। तभी विधिवश स्त्री गर्भवती हो गई। अव तो उसकी चिन्ता का पार न रहा। दो पेट भरने कठिन हो रहे है, और तीसरा प्राणी यदि घर में आ गया तो कितनी कठिनाई होगी। प्रसव के समय कुछ अतिरिक्त खर्च चाहिए। वच्चे के लिए कुछ जरूरी सामान भी लाना पडेगा। इस चिन्ता में घुलता हुआ वह इतना ऊव गया कि उसने सोचा, कही जाकर आत्महत्या कर लू। मै इस भार को अव उठा नही सकता। यह जाने और इसका भाग्य जाने। मैं तो यहाँ से दूर चला जाऊँगा। यह सोचकर घर मे विना सूचना किए ही वह अनजान रास्ते पर वढ चला। जजाल पीछे छूटा तो उसने कुछ सुख की साँस ली। जरा धीरज के साथ सोचा तो मन में आया—आत्महत्या तो नहीं करूँगा, किसी दूसरी जगह चला जाऊँ, अपना पेट भरने लायक तो कुछ मिल ही जाएगा।

वह काफी लम्वा रास्ता पार कर एक दूसरे प्रदेश में पहुँच गया। वहाँ एक भले सेठ ने उसे अपनी दूकान पर रख लिया। अचानक भाग्य का ऐसा चमत्कार हुआ कि जिस दिन से वह सेठ की दूकान पर नौकर रहा, सेठ के व्यापार मे वृद्धि होने लगी। साथ ही वह बडा विनयवान था, सेठ का आज्ञाकारी था। इस कारण उसकी वहाँ अच्छी स्थिति बन गई। सेठ के कोई सन्तान न थी। उसने विचार किया—अनायास ही ऐसा भाग्यशील, विनयी और उद्यमी लडका मुझे प्राप्त हो गया है, क्यो न इसे पुत्र रूप मे स्वीकार कर लू। सेठ-सेठानी ने उसको दत्तक पुत्र के रूप मे अपने घर में रख लिया। किसी को पता नही कि यह कौन है? कहाँ से आया है? उसका अतीत विस्मृत हो गया और अब वह सेठ के कुवर के रूप में जाना जाने लगा। सेठ के परिजन, मुनीम-गुमाश्ते, नौकर चाकर आदि सभी उसका पूरा सम्मान करते। सेठ व्यापार-व्यवसाय का सारा भार उसको सौपकर स्वय कुछ निवृत्त-सा रहने लगा। वह लडका तो यहाँ ऐसा रच-पच गया कि उसने कभी सोचा तक नही कि पीछे

बेचारी स्त्री की क्या हालत बनी होगी ? वह किस प्रकार मुश्किलो के साथ जूझती होगी ?

उधर स्त्री बेचारी परेशान हो गई, एकाएक पति कहाँ चला गया। इधर-उधर कुछ खोज-खबर भी की, पर पता न चल सका। उस पर मानो संकट का पहाड़ टूट पड़ा—घर की यह हालत, बच्चा होने की आशा और पति इस प्रकार गायब। वह तो रो-रोकर बेहाल हो गई। क्या किया जाय, कोई रास्ता नजर नहीं आया। आखिर स्त्री ने कुछ साहस बटोरा और सोचा कि अब रोने-धोने से तो कुछ होगा नही। जो भी स्थिति है, उसे सम्हालने-सहेजने में ही लाभ है वरना गर्भस्थ शिशु पर भी बुरा प्रभाव पड़ेगा। औरत ने बड़ी हिम्मत के साथ कुछ छोटे-मोटे काम हाथ में ले लिए, जिससे उदर-पूर्ति हो सके। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं कि कठिन से कठिन स्थितियों में भी औरते साहस से काम लेती हैं और उन मुसीबतों का पार पा लेती है। निःसन्देह स्त्रियों का वीरागना विरुद बड़ा सार्थक है।

गर्भावधि पूरी होने पर उसने एक पुत्र को जन्म दिया। हालत तो दर असल बडी नाजुक थी, पर किसी तरह, इधर-उधर का सहारा लेकर उसने बालक का पालन-पोषण किया। बच्चा बड़ा होने लगा।

गरीब से गरीब माँ भी बच्चे को छेह नही दिखाती। मातृ-वात्सल्य अनुपम होता है। उसे किसी के साथ तोला नही जा सकता। माँ का प्रेम सहजता लिये होता है। उसमें बनाव नही होता। वह बच्चे के लिए कठोर से कठोर स्थिति का सामना कर लेती है। आचार्य मानतुंग ने लिखा है—

प्रीत्याऽऽत्मवीर्यमविचार्य मृगी मृगेन्द्रं,
नाभ्येति किं निजशिशोः परिपालनार्थम् ॥

—भक्तामरस्तोत्र, श्लोक ५

अपने बच्चे की रक्षा के लिए एक हिरनी शेर का भी सामना कर लेती है। इस दुखिया माँ के साथ भी ऐसी ही स्थिति थी, जिसे वह हिम्मत के साथ सहेजती रही।

बच्चा सात-आठ वर्ष का हो गया। स्कूल जाने लगा। सौभाग्य से बालक बहुत होनहार निकला। ऐसी कठिन परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाले, पलने-पुसने वाले बालक कभी-कभी बड़े गौहर निकलते हैं। यह भी सुविदित है, बड़ी-बड़ी हस्तियाँ झोंपड़ियों में ही पैदा हुई हैं।

कक्षा में हर वार इस वच्चे का प्रथम स्थान रहता। जिस पाठ को एक वार सुन लेता, मानो वह उसे कण्ठस्थ हो जाता। अध्यापक भी उस पर प्रसन्न रहते। चारों ओर से उसे उत्साहवर्धक प्रेरणाएँ मिलती, जिससे उसके मन में तरह-तरह की उमगे उठने लगी। वड़े-वड़े जौहरी लोगो को देखकर उसके मन में आता, मैं भी इनकी तरह वनूँ। मन में स्पर्धा जगी। वच्चे ने रत्न-परीक्षा का कार्य सीखने का दृढ निश्चय कर लिया। पास में साधन नही, सामग्री नही, पर वह किसी तरह अच्छे-अच्छे परीक्षको की सन्निधि का लाभ लेने लगा। उनके पास उठता-वैठता। वे माल देखते, आपस में उसकी मीन मेख निकालते। वह यह सव बड़े ध्यान से देखता। छोटी-छोटी वातो को भी गौर से सुनता। उसकी आँखो में वड़ी पकड़ थी। निर्विकार आँखे रत्न-परीक्षा में दक्षता प्राप्त करने लगी। थोड़े ही दिनों में उसे हीरे-पन्ने आदि की अच्छी पहचान हो गई। दूर से देखकर पहचान लेता कि जवाहरात नकली है या असली? प्राचीन काल में रुपयो की पहचान अगूँठो से वजा-वजाकर की जाती थी, पर हीरो-पन्नों की पहचान में तो तीक्ष्ण दृष्टि, पैनी नजर ही काम देती है। कहा भी है—

हीरो पन्नो की परख, कर लेती है आँख।
विना प्रश्न महापुरुष की, वृत्ति सुनाती साख॥

महापुरुषों की वृत्ति ही वतला देती है कि वे कितने ऊँचे उठे हुए है।

एक वार राजसभा मे कुछ ख्याति प्राप्त परदेशी जौहरी माल बेचने के लिए आए। उनके पास एक काफी वड़ा और वजनदार हीरा था। राजसभा में उसका मूल्याकन होने लगा। शहर के प्रमुख-प्रमुख जौहरी एकत्र हुए। उस वालक को जव यह पता चला तो वह भी राजसभा में पहुँच गया। उसे वहाँ कौन जानता था। वह चुपचाप जाकर ऐसे स्थान पर बैठ गया, जहाँ से उसे माल दिखायी दे सके। आगन्तुक जौहरियो ने माल दिखाना शुरू किया। वह चमकता हुआ हीरा भी सबके सामने रखा गया। शहर के प्रमुख जौहरियो ने उसका परीक्षण किया और एक स्वर से कहा कि यह वहुत कीमती है। इसका पानी, इसकी आभा सर्वथा निर्दोष है, असाधारण है। राजा उसे खरीदने के लिए तैयार हो गया। सभी एकमत थे, पर उस होनहार वालक की आँखो को लगा—भूल हो रही है, धोखा हो रहा है। माल नकली है। यह खरा हीरा ही नही है। परन्तु ये सब एक ही लय में अलाप रहे है। यदि मै वोलूँगा भी तो यहाँ मेरी आवाज कौन

सुनेगा ? कौन मेरी वात पर विश्वास करेगा ? एक वार वह चुप रह गया, पर उसकी अन्तरात्मा उसे वोलने के लिए वार-वार झकझोरने लगी। उससे रहा नहीं गया और उज्ज्वल भविष्य का धनी वह वालक खड़ा होकर वद्धांजलि वोला—राजन् ! यह हीरा, हीरा नही है, नकली है। मुझे आश्चर्य है कि ये इतने वड़े-वड़े रत्न-परीक्षक कैसे धोखा खा रहे है। इसका नकलीपन तो मुझ जैसे वच्चे को भी भासित हो गया।

वालक के ये शव्द सुनते ही वड़े-वड़े जौहरियों ने कहा—वेअक्ल कही का ! दूध के दाँत तो अभी टूटे नहीं और हमारी परीक्षा में हस्तक्षेप करता है। चुपचाप वैठ जा एक तरफ। तुझे क्या पता, कौन सा हीरा खरा होता है, कौन सा नहीं। यों तिरस्कार भरे शव्द सुनकर वालक तो अपने स्थान पर वैठ गया, पर राजा उसकी वात से चौकन्ना हो गया। उसने मन ही मन कहा—इस वालक को कोई न कोई ज्ञान अवश्य है, किसी आधार के विना यह इस प्रकार निःसंकोच भाव से राजसभा में वोलने का साहस कैसे कर पाता। राजा ने वालक से पूछा—वच्चे ! तुम्हारे पास इसका क्या सवूत है कि यह हीरा नकली है ? किसी साधन द्वारा क्या तुम अपने कथन की सत्यता प्रमाणित कर सकते हो ? राजा के ध्यान देने से वच्चे का साहस वढ़ गया। उसने कहा—राजन् ! हीरे की असलियत तो अहरन पर रखकर हथौड़े की चोट लगाते ही खुल जाएगी। आप साधन मंगवाइए, अभी सच्चाई प्रकट हो जायेगी कि यह हीरा है या कोई कृत्रिम वस्तु—वनावटी चमकीली चीज। जौहरियों ने निवेदन किया—अन्नदाता ! आप इस वालक की वात पर क्या ध्यान देते है, यह वाचाल वच्चा यों ही वकवास कर रहा है। राजा ने कहा—फिर भी हमें नुकसान क्या है ? यदि वस्तु सही है तो फिर परीक्षा करने में हर्ज ही क्या है ?

वालक के कथनानुसार अहरन और हथौड़ा मंगवाया गया। उस हीरे पर जोर से चोट लगाई गई। वस, चोट लगने की ही देर थी वह कांच की तरह चूर-चूर हो गया, अनेक अंशों में विखर गया। राजा चकित हो गया। जौहरियों के मुँह पीले पड़ गये और आगन्तुक व्यापारियों को काटो तो मानों खून नहीं। वच्चे की रत्न-परीक्षण-क्षमता से राजा वहुत प्रभावित हुआ और उसे प्रचुर पुरस्कार दिया। यह समाचार विजली की तरह पूरे शहर में फैल गया। जन-जन के मुँह पर उसी वच्चे की ही चर्चा थी। वस पूछिए, अव तो उसे अच्छे-अच्छे काम मिलने लगे। खूव कमाई होने लगी। उसकी अच्छी स्थिति देखकर वड़े-वड़े सेठों के मन में ईर्ष्या की

आग धधकने लगी। इस दूध-मुँहे बच्चे ने उनकी इज्जत पर पानी फेर दिया था।

ईर्ष्यावश बात ही बात मे किसी दुर्जन ने ऐसा वाग्बाण छोड़ा, जो बच्चे के कलेजे को वेध गया। उसने कहा—"अरे अभागे! क्या बढ-बढकर आगे आता है? पता है तेरा पिता कौन है? बिना बाप का छोकरा और हमारी बराबरी करने चला है।" बच्चे को ये शब्द बड़े अप्रिय लगे। वह दौडकर माँ के पास आया और पूछने लगा कि माँ! मेरे पिताजी कौन है? वे इस समय कहाँ है? पुत्र के प्रश्न को सुनते ही माँ व्यथित हो गई। उसकी आँखे भर आई। माँ ने रुँधे कण्ठ से कहा—बेटा! जाने दे। बड़ी दर्द-भरी कहानी है। क्या करेगा तू सुनकर? बच्चे ने कहा—नही माँ, मुझे वह कहानी सुनानी ही होगी। मै अब अँधेरे मे नही रहना चाहता। जो सही स्थिति है, वह तुम मेरे सामने स्पष्ट कर दो। आखिर गद्गद् कण्ठ से माँ ने सारा घटनाक्रम सुनाया। जब तू गर्भ में था, तभी तेरे पिता परिस्थितियों से हारकर पलायन कर गए। उसके बाद इन बारह-तेरह वर्षों में उनका कोई पता नही है।

पुत्र ने सान्त्वना देते हुए कहा—मै अपने पिता को ढूढकर लाऊँगा, आखिर वे कहाँ छिपे होगे? किसी भी युक्ति से, उपाय से मै उनका पता लगाकर छोड़ूगा। "तेरे बाप का पता नही है" ये शब्द मेरे लिए असह्य है। समस्या एक ही है कि मै अपने जनक को कैसे पहचान पाऊँगा? उनकी आकृति, वर्ण, भाव-भंगिमा आदि सब मेरे लिए सर्वथा अज्ञात, अनुपलक्षित है। मेरी आँखों में पकड़ तो है पर मुझे कुछ न कुछ आलम्बन चाहिए। समझदार माँ ने कहा—बेटा! एक बात तो है कि तेरा चेहरा बिलकुल तेरे पिता से मिलता-जुलता है। वर्ण, आकृति, भाव-भंगिमा आदि भी वैसी ही है। तू अपनी पहचान से यदि उनकी पहचान कर पाए तो कुछ काम बन सकता है। पुत्र ने कहा—माँ! मेरा चेहरा मेरे सामने कैसे आए? अपनी मुखाकृति से दूसरे की मुखाकृति की तुलना कैसे करूँ? उत्साहपूर्वक माँ ने कहा—इसका भी एक उपाय हो सकता है। एक स्वच्छ दर्पण तू अपने पास रख ले। जिसके साथ तुझे अपना चेहरा मिलाना हो, तू दर्पण में अपना चेहरा देखकर उसके साथ मिला सकता है। हो सकता है, इस प्रकार प्रयास करते-करते तुम्हारा कही अपने पिता से साक्षात्कार हो जाए।

माँ की यह युक्ति पुत्र को भा गई। बस, उसी दिन वह एक स्वच्छ दर्पण हाथ मे लेकर पिता की खोज में निकल पडा। गाँव-गाँव और शहर-शहर मे घूम-घूमकर वह लोगो के चेहरे देखने लगा। जहाँ भी दस-बीस

मनुष्य एकत्र मिलते, वह दूर खड़ा होकर दर्पण में अपना चेहरा देखता और उनसे मिलाता। इच्छित आकृति न मिलने पर "नेति-नेति" कहकर आगे बढ़ जाता। इस प्रकार खोज करते-करते वह उस शहर में जा पहुँचा जहाँ उसका पिता सेठ के कुंवर के रूप में रह रहा था। अपरिचित शहर में लोगों से बातचीत कर वह यह जानने की कोशिश करता कि इस शहर में बारह-तेरह वर्षों में कौन व्यक्ति दूसरे शहरों-गाँवों से आकर बसे हैं। इसी छान-बीन में यहाँ उसे किसी ने बताया कि यहाँ एक बहुत धनाढ्य सेठ है। उनके कुंवर साहब बाहर से ही आये हुए हैं। इन वर्षों में वे इस शहर के लोगों से एवं सेठ के परिवार से इतने घुलमिल गए हैं कि कुंवर साहब के रूप में ही सर्वत्र विश्रुत-विख्यात है। इस बात से बच्चे को कुछ आशा बँधी। वह कुंवर साहब को देखने का प्रयत्न करने लगा।

उन्हीं दिनों सेठ शहर से बाहर एक बंगला बनवा रहा था। वह बंगला सेठ के कुंवर के ही निर्देशन एवं देख-रेख में बन रहा था। बालक को पता लगा कि दोपहर के तीन बजे के बाद कुंवर प्रतिदिन घोड़े पर बैठकर कार्यनिरीक्षण हेतु वहाँ जाता है। उसने सोचा, यह उपयुक्त अवसर है। वहाँ मैं उन्हें देख सकूंगा और आकृति भी अच्छी तरह मिला लूंगा। बच्चा समय से पूर्व ही वहाँ पहुँच गया। ठीक समय पर कुंवर घोड़े पर सवार होकर वहाँ पहुँचा। बंगले के सामने ही घोड़े से उतरा और निरीक्षण हेतु घूमने लगा। बच्चे ने दर्पण निकालकर अपना चेहरा देखा फिर उसका चेहरा देखा। वह हैरान था कि कुँवर साहब का और उसका चेहरा बहुत कुछ मिलता-जुलता था। उनमें जो थोड़ा-बहुत अन्तर था, वह केवल वय के कारण था। इसके अतिरिक्त आकृति में सर्वथा समानता था। बच्चे ने एक बार, दो बार, तीन बार बड़ी गहराई से चेहरे मिलाये। उसके अन्तःकरण में पक्का विश्वास हो गया कि मेरे पिता ये ही होने चाहिए। बच्चा साहस कर उनके पास जा पहुँचा। उसने झुककर प्रणाम किया और वह विनम्रतापूर्वक कहने लगा—पिताजी! आप यहाँ आकर बस गए, क्या आपको हम लोगों की याद नहीं आती? क्या पिछला सारा सम्बन्ध ही भुला दिया? बालक के शब्द सुनकर कुँवर तो अवाक् रह गया। मुझे पिता के नाम से पुकारने वाला यह बच्चा कौन है? पर ज्यों ही पुत्र के मुँह को गौर से देखा, वात्सल्य का स्रोत फूट पड़ा। उसके मन में सहसा प्रेम उमड़ आया। हृदय भर आया, आँखें गीली हो गईं। पर [illegible] स्वस्थ होकर बच्चे से पूछा—तुम मुझे पिता के नाम से कैसे सम्बोधित कर रहे हो? मैं तुम्हें जानता-पहचानता भी नहीं हूँ। [illegible]

वच्चे ने सारा पहला वृत्तान्त सुनाया। नगर, माता आदि का परिचय दिया। कुवर को पिछली सारी घटना स्मरण हो आई। कुवर ने सोचा, जव यह गर्भ में था, तभी मैं वहा से भाग आया था। इस वच्चे ने मुझे पहली ही वार देखकर कैसे पहचान लिया? पिता ने पूछा—तुझे क्या पता कि मैं ही तुम्हारा खोया हुआ पिता हूँ। तुम्हारी यह खोज गलत भी हो सकती है। पुत्र ने वडी दृढता से कहा—मेरी खोज विलकुल मिथ्या नही हो सकती—"आपकी पहचान से पहचान होती वाप की" इस उक्ति के अनुसार मैंने पहले अपना चेहरा पहचान कर उससे आपके चेहरे की पहचान की है, इसलिए मेरी खोज नि सन्देह सत्य है। अव आप हम से अलग नही रह सकते। मेरी माँ किस प्रकार दु ख के दिन काट रही है, आपको क्या कुछ भी विचार नही?

पुत्र की कुशलता पर पिता हैरान रह गया। उसने वड़े स्नेह से पुत्र को अपने साथ घोडे पर विठाया और सेठ के पास आकर सारा वृतात सुनाया। पिता-पुत्र वहाँ से अपने देश की ओर चल पडे। इसीलिए ज्ञानियो ने कहा—

आपकी पहचान से पहचान अपने वाप की।
पिण्ड की पहचान से, पहचान है व्रह्माण्ड की॥
खोज होगी व्यर्थ अपने रूप को जाने विना,
स्वत्व की पहचान से पहचान होगी तत्त्व की॥

"आपकी" पहचान से "वाप की" पहचान होती है। आत्मा की पहचान से परमात्मा की पहचान होती है। पिण्ड की पहचान से व्रह्माण्ड की पहचान होती है। कहावत है—"तत् पिण्डे यद् व्रह्माण्डे" जो कुछ व्रह्माण्ड में है, वह सव कुछ पिण्ड मे—शरीर मे विद्यमान है। हमारे ऋषि-मुनियो ने इस तथ्य पर वडा गहरा अध्ययन किया। योगियो ने शरीरस्थ सात चक्रो का जो निरूपण किया है, वह वडा तात्त्विक है। मूलाधार पृथ्वी तत्त्व का द्योतक है, स्वाधिष्ठान वरुण का—जल का प्रतीक है, मणिपूर अग्नि की आभा के लिए हुए है, अनाहत वायु का प्रतीक है। इसी प्रकार आज्ञा, सहस्रार नभमण्डल के प्रतीक हैं। पाँचो तत्त्व—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, जो व्रह्माण्ड में फैले हुए है, उन्हे पिण्ड की —शरीर की साधना द्वारा साधा जा सकता है।

खोज होगी व्यर्थ अपने रूप को जाने विना।
स्वत्व की पहचान से पहचान होगी तत्त्व की॥

व्यक्ति चाहे कितनी ही खोज कर ले, पर अपनी खोज के विना,

केवल बाहर की खोज निरर्थक सिद्ध होती है। जब "स्व" की पहचान हो गई तो सारे बाह्य तत्त्व स्वतः पहचान में आ जायेगे।

प्रख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन मृत्यु-शय्या पर थे। बड़े-बड़े वैज्ञानिक व विद्वान उनसे मिलने आए। महाप्रयाण से पूर्व उनके एक मित्र ने जिज्ञासा की कि आपने अपने जीवन में विज्ञान के क्षेत्र में बहुत काम किया है, अनेक आविष्कार किये है, अनेक आयाम उद्घाटित किये है। क्या अब भी आप कुछ खोजना-पाना चाहते है? आइन्स्टीन ने कहा—मैं चाहता हूँ, अब मै ऐसी भूमि पर जन्म लूं, जहाँ मैं 'स्व' को पहचान सकूं, अपने आपको जान सकू। अब तक मैने जो कुछ खोजा, केवल बाहर खोजा है, जैसे अमुक ग्रह हमसे कितनी दूर है, अमुक तारे की क्या स्थिति है इत्यादि। पर, अब मै जानना चाहता हूँ कि मै कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? मेरा यथार्थ स्वरूप क्या है?

अल्बर्ट आइन्स्टीन का चिन्तन बिलकुल सही था। बाहर की खोज से कभी आत्म-तुष्टि प्राप्त नही होती। अन्तस्तोष तो 'स्व' को जानने पर ही मिलने वाला है। वही व्यक्ति वास्तविक तत्त्व को पहचान सकता है, जिसे 'स्व' से साक्षात्कार करने का अवसर मिला हो। आत्मा को जाने बिना परमात्मा का ज्ञान, उनसे मिलन, परमात्म-स्वरूप प्राप्ति असम्भव है।

आज तक देखा किसी ने, क्या कहीं भगवान को।
सन्त की पहचान ही, पहचान है भगवन्त की॥

भगवान के लिए लोगों ने भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ की है। पर, क्या कभी कोई भगवान् को प्रत्यक्ष देख पाया है? निरंजन, निराकार, ज्योति-स्वरूप जो तत्त्व है, वह साक्षात् कैसे देखा जा सकता है? इसीलिए कहा गया—

सन्त की पहचान ही, पहचान है भगवन्त की।

निःस्पृह, निरभिमानी, निराकांक्षी सन्त मे भगवान् की मूर्ति प्रति-बिम्बित होती है। सन्त ही निराकार भगवान् के साकार रूप है। कबीर कहते है—

"उनमें तो कुछ अन्तर नाहीं, सन्त कहो चाहे राम।"

"राम" "कृष्ण" "महावीर" आदि, जिनको हम आज अवतार के रूप में, भगवान् के रूप में पूजते है, वे सभी मनुष्य के रूप में ही अवतरित हुए थे। उनका मानवीय रूप, उनकी सामान्य गतिविधियाँ मानवों से

अतिरिक्त नही थी, किन्तु कुछ असामान्य विशेषताएँ, अलौकिक ज्ञान आदि शक्तियाँ, जो स्वय से उद्भूत थी, उन्हे उच्च स्थान तक ले जाती है। अत भगवान् की पहचान के लिए सन्तो की, सज्जन पुरुषो की पहचान आवश्यक है, अपेक्षित है।

धर्म का आधार जीवन के बिना होगा कहां ?
कर्म की पहचान मे, पहचान होगी धर्म की ॥

ससार मे धर्म की बहुत महिमा है। धर्म धारण करने वाला है, धर्म आधार है, धर्म त्राण है, धर्म शरण है, धर्म द्वीप है, पर उस धर्म का आधार जीवन है। जीवन मे उतरने वाले आचरण ही धर्म को अभिव्यक्ति देते है। व्यक्ति के कार्य-क्षेत्र मे ही धर्म की पहचान होती है, क्योंकि असली धर्म तो मानव की दैनिक क्रियाओ मे, आचार-व्यवहार में ही बोलता है। राम मर्यादा पुरुषोत्तम क्यों थे ? सीता महासती क्यों थी ? लक्ष्मण असाधारण साधक क्यो थे ? उनके जीवन-दर्पण में प्रतिबिम्बित आदर्शों ने ही उनको अवतार की ऊँचाई तक पहुँचाया। अपने आचरणों से रावण धिक्कार का पात्र बना और अपने सदाचार के कारण ही राम जन-जन के हृदय में आसीन हुए।

आज यह बड़ी भयकर भूल हो रही है, लोगो ने धर्म को जीवन से अलग ही एक विषय बना लिया है। घण्टा-आधा घण्टा जो पूजा-पाठ कर लिया, नित्य-नियम हो गया, बस इतने में धर्म का आराधन मान लिया जाता है। यदि पूजा-उपासना को जीवन के साथ नही जोड़ा गया तो वह दो कौडी की रह जायेगी। सामायिक के साथ यदि समता का उदात्तभाव जीवन मे उतरे, तभी वह सही अर्थ मे सामायिक होगी अन्यथा तो **"सामायिकं मायिकमेव मन्ये"**—"सामायिक" का "सा" हटकर केवल "मायिक" ही रह जायेगा। मात्र दम्भचर्या, प्रदर्शन शेष रह जायेगा। धर्म का आधार मनुष्य का जीवन ही है। उसकी वृत्तियाँ ही उसके धर्म को अभिव्यक्त करती है।

लगन सच्ची लग गई, तो कठिन क्या है त्यागना।
लाग की पहचान से, पहचान होगी त्याग की ॥

यदि सच्ची लगन लग जाए तो त्याग करना कोई कठिन कार्य नही। त्याग हेय वस्तु का होता है। यदि हेय-उपादेय का सच्चा विवेक जागरित हो गया तो त्याग सहज रूप में सम्पन्न हो जाता है। पर हो तब, जब सच्चे अर्थ में चोट लग जाए। कबीर ने कहा है—

लागी-लागी क्या करे, लागी बुरी बलाय।
लागी सो ही जानिए, जो आर-पार हो जाय ॥

फिर कहा गया—

लागी-लागी क्या करे, लागी नांही एक।
लागी सो ही जानिए, जो पड़ै कलेजे छेक ॥

कबीर कहते है, लगना उसी का नाम है, जो आर-पार हो जाए और आर-पार तभी हो सकती है, जब कलेजे में छेद हो जाए—अन्तर्हृदय का सम्यक् संस्पर्श कर ले। इसी को गुरुओं की चोट कहा जाता है। विना चोट के ज्ञान नही होता। इसलिए कहा गया कि "लाग की पहचान से, पहचान होती त्याग की।" चोट लगी थी शालिभद्र को। एक शब्द मा ने कहा—बेटा! आगन में नाथ आए है। तू चल, प्रणाम कर, सम्मान दे उन्हें। अपने ही आनन्दोल्लासमय भाव-जगत् के पर्यटक शालिभद्र ने कहा—माँ! नाथ कौन सी बड़ी वस्तु है? तुम ही खरीद लो न! काम में आए तो ठीक है, अन्यथा भाण्डागार में रखवा छोडो। पुत्र के भोलेपन पर हँसती हुई माँ ने कहा—पुत्र! राजा श्रेणिक कोई किरयाना नही है, वह कोई क्रेय वस्तु नही है, वह तो हमारा नाथ है, स्वामी है। उसकी शुभ दृष्टि पर हमारा सुख और समृद्धि निर्भर है। यदि उसकी दृष्टि थोड़ी सी वक्र हो जाए तो हमारा कुछ अता-पता ही न रहे। ज्यों ही 'नाथ' और 'स्वामी' शब्द समझ में आये, शालिभद्र के मन पर करारी चोट लगी। मेरा भी कोई 'नाथ' है, इसका अर्थ हुआ, मै पराधीन हूँ। मैंने पूर्व-भवों में शुभ-क्रिया नही की, व्रतों का पालन नही किया, इसलिए मैं पराधीन हूँ, परतन्त्र हूँ। मेरा मालिक कोई दूसरा है, मै अपना मालिक नही हूँ। "पराधीन सपनेहुँ सुख नाहि" मुझे तो स्वाधीन-स्वतन्त्र, जिस पर अपना ही स्वामित्व हो, जीवन जीना है। मै तो स्वय अपना नाथ वनना चाहता हूँ, कोई दूसरा मेरा नाम रहे, मुझे सह्य नही। वस, यही चोट काम कर गई। इसी चोट ने शालिभद्र जैसे भोगी को योगी वना दिया था।

इसी प्रकार चोट लगी धन्ना सेठ को। शालिभद्र की वहन सुभद्रा की आँखो में आँसू आ गए। भाई विरक्त हो गया, संसार छोड रहा है। प्रतिदिन एक-एक पत्नी का परित्याग कर रहा है। धन्ना ने अपनी पत्नी के नेत्रों से अश्रुधारा वहते देखकर पूछा— प्रिये! तुम क्यों दुःखी हो? जब सुभद्रा ने शालिभद्र के वैराग्य की वात कही तो धन्ना ने परिहास-पूर्वक कहा—तुम्हारा भाई कायर है, दुर्वल है। यदि छोड़ना ही है तो फिर एक-

एक को क्या छोडना है ? सुभद्रा चौक पडी। भाई के लिए कायर, दुर्बल शब्दो का प्रयोग उसे आहत कर गया। बड़े तीखे व्यग से कहा—मेरा भाई तो दुर्बल है, आप तो शूरवीर है। बाते बनाते क्या जोर आता है, त्याग करके दिखाते, तब पता चलता। बस, इन्ही शब्दो पर धन्ना सेठ खड़े हो गए और चल पड़े सयम-पथ की विराट् यात्रा पर। शब्द के आघात से सुषुप्त आत्मशक्ति जग उठी। मार आर-पार हो गई। कबीर ने कहा है—

> क्या बख्तर का पहनना, कोई क्या ढालन की ओट।
> शूरा तो ऐसा जानिए, जो लउ सबद की चोट॥
> झड़ाको माला रो लाग्यो, रे झडाको भजना रो लाग्यो।
> भाई रामभज, रामभज, राम झडाको सिमरण को लाग्यो॥

त्याग का बडा ऊंचा स्थान है। पर ज्ञानी कहते है, त्याग से भी बडी चीज लाग है। लाग कारण है, त्याग उसका परिणाम है। नदी के बढते वेग और उफान का कारण ऊपरी भाग में हुई वृष्टि है। उसी प्रकार लाग की तीव्रता त्याग-वैराग्य को तीव्र बनाती है।

> बीज में ही वृक्ष का "चन्दन" छिपा विस्तार है।
> बिन्दु की पहचान से, पहचान होगी सिन्धु की॥

इतने विशाल वटवृक्ष का हेतु एक छोटा सा बीज ही तो है। बीज में ही वृक्ष छिपा है। बिन्दु मे सिन्धु सन्निहित है। यदि बिन्दु की पहचान हो जाए तो सिन्धु की पहचान कठिन नही रहती।

> बूंद समानी समद मे, जानत है सब कोय।
> समद समाना बूंद मे, जाने बिरला कोय॥

महान् अध्यात्म-साधक श्री चिदानन्दजी महाराज एक पद में कहते हैं—

> केवल एक बूंद से प्रकटा, श्रुत-सागर विस्तारा।
> धन्य उन्होंने उलट उदधि को, एक बूंद मे डारा॥

जिस प्रकार बिन्दु एव सिन्धु परस्पर भिन्न नही है, उसी प्रकार आत्मा परमात्मा से पृथक् नही है। आत्मा की पहचान से ही परमात्मा की पहचान सम्भव है, सुलभ है।



८

अगर तुम खा सकते हो गम,
करो पर-दोषों को हजम, धरो सब पर रहम।
छोड़ दो कहना भी मम-मम,
रहो निज भावों में हरदम। धरो० ॥ध्रुव॥

गम का जो खाना सहल नहीं है,
शांति का लाना सहल नहीं है,
वक्त पर होना भी न गरम।
हृदय को रखकर खूब नरम। धरो० ॥१॥

क्षण दुखदाई लोहे के काँटे—
सहने सहल, पर कुवचन काँटे—
महा भीषण, कहता आगम।
सुजन भी नहिं रख सकता शम। धरो० ॥२॥

क्रोध को जो नर पी सकता है,
विष को भी वो नर पी सकता है,
अमर वो बन जाता एकदम।
चरण पर झुक जाता आलम। धरो० ॥३॥

प्रेम से वश में क्या नही आता ?
हिंसक-पशु भी वैर भुलाता,
मार्ग यह लेकिन है दुर्गम।
सहज जागृति से बने सुगम। धरो० ॥४॥

वचन मधुरता को अपनाते,
नयनों से अमृत रहो वरसाते,
मिलेगा 'चन्दन' फल उत्तम।
खिलेगा अनुभव-तरु अनुपम। धरो० ॥५॥

तर्ज—नहीं फरियाद करते हम········ ····

ध.

अगर तुम खा सकते हो गम

"गौतम-कुलक" मे बडी प्रेरणास्पद प्रश्नोत्तरी है। शिष्य गुरु से पूछता है—प्रभो विष क्या है और अमृत क्या है ? गुरु समाधान देतेहै—क्रोध विष है, अहिंसा अमृत है।

यहाँ क्रोध को विष कहा गया है। यह बडा गहरा तत्त्व है। वस्तुतः क्रोध वही काम करता है, जो विष करता है। विष के जो परिणाम आते है, वे ही परिणाम क्रोध के भी आते है। विष-प्रवेश से शरीर मे जो रासायनिक परिवर्तन होता है, लगभग वही क्रोध से भी होता है। इस दृष्टि से दोनो एक ही तुला मे तोले जा सकते है। इतना ही नही, विष का प्रभाव शायद इतनी शीघ्रता से न भी हो, पर क्रोध का विष तो फौरन अपना असर दिखाता है। क्रोध आते ही चेहरे का रग बदल जाता है, आँखे लाल हो जाती है, होंठ फडकने लगते है, ललाट में रेखाएँ खिच जाती है, हृदय की गति तेज हो जाती है, रक्त मे उष्मा बढ जाती है। यो सारा शरीर-यन्त्र अस्त-व्यस्त हो जाता है। यह क्रोधरूप विष महाभीषण और तत्काल परिणामकारक होता है। कभी-कभी इससे बडी भयकर दुर्घटनाएँ घटित हो जाती है।

सतलज नदी से जो नहर बीकानेर रियासत मे आती है, उसके किनारे कुछ बलोच (ऊँटों को पालने व चराने वाली एक कौम के लोग) रहते थे। उनके पास चालीस ऊँटों का टोला था। एक दिन एक उन्मत्त ऊँट एक ऊँटनी के पीछे दौडा जा रहा था। उसके मालिक ने उसे मारकर हटा लिया और उस पर सामान लादकर कही काम के लिए ले गया। ऊँट को बहुत बुरा लगा। उसके मन मे इस (क्रोध-ग्रन्थि) बैठ गई। ऊँट बदला लेने के लिए तुल गया। कहा जाता है, ऊँट, भैसा आदि जानवरो की इस बहुत बुरी होती है और वे समय आने पर प्रतिशोध लेने से नही चूकते। एक बार वह ऊँट जगल मे खुला चर रहा था, उसका मालिक उधर मे अकेला आ रहा था। ऊँट नथुनों से फुफकारता हुआ उधर दौडा। मालिक

समझ गया कि ऊँट वैर चुकाने की भावना से आ रहा है। वह तेज दौड़ने लगा, ऊँट उसका पीछा करने लगा। आगे-आगे आदमी और पीछे-पीछे ऊँट। पर ऊँट के सामने आदमी की दौड़ कहाँ तक चलती ? दोनों के बीच की दूरी घटने लगी। आदमी ने सोचा, आज यह ऊँट मुझे मारे बिना नही छोड़ेगा। वह इधर-उधर शरण खोजने लगा। तभी उसे एक गड्ढा दिखाई दिया। गड्ढा यद्यपि बहुत गहरा तो नहीं था, पर ऊँट से बचाव के लिए काफी था। उसने बिना आगा-पीछा सोचे गड्ढे में छलांग लगा दी। ऊँट भी गड्ढे के पास पहुँच गया। मालिक बचाव की चेष्टा में लगा था और ऊँट उसे पकड़ने की, मारने की। तभी एक विचित्र घटना घटित हुई, जिस गड्ढे में वह बलोच गिरा था, उसके भीतर उसे दो साँप दिखाई दिए। एक नीले रंग का छोटा साँप था और दूसरा साँप फन फैलाए पडा था। बलोच भय से काँपने लगा कि एक मौत से पिण्ड छूटा तो यह दूसरी मौत सामने आ गई।

कुदरत की लीला बड़ी विचित्र है। वह छोटा साँप वहाँ से उड़ा और उसने सीधे ऊँट के सिर पर डंक मारा। वह साँप इतना विषैला था कि उसी क्षण ऊँट धराशायी हो गया। उसके पूरे शरीर में जहर फैल गया। उसी समय बड़ा सर्प भी उडकर गड्ढे से बाहर चला गया। बलोच ने सुख की सांस ली। दोनों आफते टल गयी। वह गड्ढे से बाहर आने का उपाय खोजने लगा।

इधर उसके साथी उसे खोजते-खोजते उस गड्ढे के पास आ पहुँचे। साथियों ने मिलकर उसे गड्ढे से बाहर निकाला। बाहर वह ऊँट मरा पड़ा था। वह बलोच विस्तार से अपने साथ घटी घटना सुनाने लगा और सुनाते-सुनाते उसे ऊँट पर इतना क्रोध आया कि आवेश में आकर उसने मृत ऊँट के कलेवर पर लात जमा दी। विप के कारण ऊँट का मास गारे की तरह हो गया था। उस अज्ञानी ने ज्यो ही लात मारी, उसका पाँव उस गारे में धँस गया। उसी समय उसके शरीर में जहर फैल गया और वह वही ढेर हो गया। सारे साथी समझ गए कि यह भीपण विप है। इसके स्पर्श मात्र से मारक परिणाम सामने आता है। साथियों ने उस आदमी को बिना छुए ही उस पर लकड़ियाँ डालकर आग लगा दी। क्रोध के कारण ऊँट और उसके मालिक को एक ही चिता मे जलना पड़ा।

यह है क्रोध का परिणाम। यदि वह क्रोधाभिभूत नही होता तो प्रकृति ने तो उसे बचा ही लिया था। पर अपने आवेश के कारण वह जहर

की चपेट में आ गया। इस प्रकार क्रोध के दुष्परिणामो की अनेक घटनाएँ सुनने में आती है।

एक बहिन का पडोसिन से झगडा हो गया। आपस में खूब गाली-गलौज हुआ। दोनो ही आवेश मे विकराल हो गई। लडते-लडते उस बहन को घर मे सोए छोटे बच्चे के रोने की आवाज सुनाई दी। बच्चे का रोना सुनकर वह अन्दर आई, उसे गोद में उठा लिया और वही बैठ कर उसे दूध पिलाने लगी। क्रोध का नशा अभी उतरा नही था। अचानक बच्चे का शरीर नीला पडने लगा। बच्चे ने उसी समय दम तोड दिया। गहरी जाँच-पडताल के बाद पता चला कि बच्चे ने जो दूध पिया, उसमें विष था। माँ हैरान थी, बच्चा बहुत छोटा था और अभी केवल माँ का दूध पीता था। उसमे विष कैसे मिलाया जा सकता है ? पूर्व परिस्थितियों का अध्ययन कर किसी समझदार व्यक्ति ने उस बहन को बताया कि क्रोध के कारण तुम्हारा दूध विषाक्त हो गया था। उसी विष ने बच्चे की जान ले ली।

यह क्रोध-विष बडा भयकर है। क्योंकि शरीर के साथ-साथ यह आत्मा की भी बड़ी क्षति करता है, उसे भी बहुत हानि पहुँचाता है।

तत्पश्चात् "अमृत" की जिज्ञासा करने पर गुरु बतलाते है कि अहिसा अमृत है। अहिसा, करुणा, प्रेम—ये सारे अमृत के रूप है। अहिसा हृदय में आते ही प्रेम का निर्झर फूट निकलता है, क्रोधाग्नि शान्त हो जाती है। क्रोध के समय मनुष्य की दो स्थितियाँ होती है—वस्तुगत और आत्मगत। अज्ञानी वस्तुगत स्थिति मे चले जाते है। उनका सारा ध्यान "पर" पर केन्द्रित हो जाता है। उसने मुझसे ऐसा कहा, उसने मिथ्या आरोप लगाया, आक्षेप किया, वह ऐसा है, वह वैसा है। ऐसे विकल्पो में वह बह जाता है।

दूसरी आत्मगत स्थिति है। उसमे साधक बाहर की वस्तुओ पर न जाकर "स्व" पर ध्यान केन्द्रित करता है। वह चिन्तन करता है, क्रोध का वेग किस केन्द्र से उभार पा रहा है। काम, क्रोध, लोभ आदि के अपने-अपने केन्द्र माने जाते है। काम का वेग आते ही मूलाधार चक्र सक्रिय हो जाता है। स्वाधिष्ठान भी गति पकड लेता है। इसी भाँति क्रोध का वेग हृदय पर यानी अनाहत-चक्र पर भीषण प्रभाव डालता है। सहसा हृदय-गति बढ जाती है, अनुभाव के रूप में शरीर के अन्य अग—आँखे, चेहरा आदि विकृत हो जाते है। ज्ञानी फौरन भीतर ध्यान केन्द्रित करता है,

अन्तर्मुख वनकर उन वेगों का अवलोकन करता है। कहने का आशय यह है कि साक्षी भाव से देखते ही वे वेग निःशक्त, अशक्त बनने शुरू हो जाते हैं। वे उपशांत हो जाते है। इसलिए भगवान् महावीर कहते हैं **"उवसमेण हणे कोहं"** क्रोध को उपशम से— प्रशान्तभाव से मारो। अग्नि चाहे कितनी ही भयानक हो, पानी के सामने वह बलहीन हो जाती है। पानी गिरते ही उसे शीतल होना पड़ेगा। उपशम भी क्रोध रूपी अग्नि पर पानी का काम करता है। एक राजस्थानी दोहे में कहा गया है—

क्रोधी तो कुढ़-कुढ़ बलै, ज्यूं-ज्यूं ऊठै झाल।
क्षमा वन्त मन में सुखी, जाणै मिश्री पीधी गाल॥

अग्नि की प्रवलता ईंधन मिलने पर ही होती है। यदि अग्नि को ईंधन न मिले, तो वह स्वतः शान्त हो जाती है। संस्कृत में एक सुभाषित है—

क्षमाशस्त्रं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वह्निः, स्वयमेवोपशाम्यति॥

जिसके हाथ में क्षमारूपी शस्त्र हो, उसका दुर्जन क्या बिगाड़ सकता है। क्योंकि अतृण भूमि— घास-फूस रहित शिला पर पड़ी अग्नि स्वतः उपशान्त हो जाती है। इसीलिए कहा है—

अगर तुम खा सकते हो गम, करो पर-दोषों को हजम,
धरो सव पर रहम।
छोड़ दो कहना भी मम-मम, रहो निज भावों में हरदम,
धरो सव पर रहम॥

जो गम खाना जानता है, वह दूसरे के दोषों को हजम करना भी सीख जाता है। हमारी हाजमा शक्ति, पाचन-शक्ति इतनी तेज होनी चाहिए कि हम सहज ही पचा जाएँ दूसरों के दोपों को। सन्त दादू दयाल के शिष्य रज्जव कहते है—

रज्जव रोष न कीजिए, कोई कहो क्यों ही।
हँसकर उत्तर दीजिए, हाँ वावाजी यों ही॥

पराये दोपों को हजम करना वहुत कठिन है। जिनके शरीर की क्षमता मन्द पड जाती है, उन पर वात, पित, कफ आदि दोपों का तत्काल प्रभाव पड़ता है। आयुर्वेद में कहा है—

दोषाणां साम्यमारोग्यं. वैषम्यं व्याधिरुच्यते।

अर्थात् वात, पित्त, कफ—इन तीन दोषो का साम्य—सन्तुलन ही आरोग्य है। यदि इनमें विषमता आ जाती है— किसी के वात उग्र हो जाता है, किसी के पित्त बढ़ जाता है, किसी के कफ विषम हो जाता है तो व्याधि उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार काम, क्रोध आदि से प्रभावित अवस्था में भीतर की समता नष्ट हो जाती है। हम विषम बन जाते है। इसलिए हम दोषो को हजम नही कर सकते। मन मे प्रशान्त भाव बनाये रखने हेतु एक उपाय और भी है "धरो सब पर रहम" यानी प्राणि-मात्र पर दया के भाव रखो, करुणाशील बनो। जो अज्ञानवश क्रोध के आवेग मे बहा जा रहा है वह वास्तव में दया का पात्र है। उसे सद्बुद्धि आए, वह भी शान्त सुधारस का पान करना सीखे। कहा है—

अड़ते से टलता रहे, जलते से जल होय।
"कबीर" ऐसे पुरुष को, गज सके ना कोय॥

सामने वाला अड़ना चाहता है, सघर्ष करना चाहता है, तो स्वय वहाँ से हट जाओ। सामने वाला अग्नि का रूप लेकर आए तो स्वय जल बन जाओ। कबीर कहते है, ऐसे व्यक्ति को कौन पराभूत कर सकता है।

क्रोध की उत्पत्ति के कारणो की मीमासा करते हुए भगवान् महावीर कहते है—

"चउहिं ठाणेहिं कोहोप्पत्ति सिया—
खेत्तं पडुच्च, वत्थुं पडुच्च, सरीरं पडुच्च, उवहिं पडुच्च।"

चार कारणों से क्रोध की उत्पत्ति होती है। यह क्षेत्र मेरा है, यह खुली जमीन मेरी है, कोई दूसरा उस पर अपने हक की बात उठाए तो फौरन क्रोध आ जाता है। भाई-भाई में भेद पड़ जाता है, झगड़ा और मुकदमेबाजी हो जाती है। इसी प्रकार वत्थु—वास्तु यानी भवन, मकान आदि को लेकर परस्पर झगडा छिड जाता है। ऐसे ही शरीर को लेकर अर्थात् शरीर की मान-अपमान आदि स्थितियो को लेकर क्रोध उत्पन्न हो जाता है। वास्तव में सम्मान, अपमान, निन्दा, प्रशसा जो कुछ होता है, वह शरीर के नाम, रूप आदि को लेकर ही होता है। आप रास्ते में जा रहे है, कोई आपको हाथ जोडकर प्रणाम करता है, आप प्रसन्न हो जाते है। यदि कोई आपको जरा टेढी निगाह से देखता है अथवा दूर से ही मुक्का या थप्पड दिखाता है तो आप भी क्रोध से लाल हो जाते है। सोचिए, यह किसका प्रभाव है ? न तो प्रणाम से आपको कुछ प्राप्त हुआ और न मुक्का

दिखाने से कुछ बुरा हुआ, पर आपके "मै" पर चोट लगती है, वही गुस्सा आ जाता है। इस प्रकार शरीर भी क्रोध का वड़ा हेतु वन जाता है। वैसे ही उपाधि—किसी वस्तु को लेकर संघर्ष छिड जाता है। हार और हाथी के लिए कोणिक और बेहिल्लकुमार में भीषण संघर्ष छिडा, जिसने भयकर महाभारत का रूप ले लिया। जैनागमों में वर्णन आता है कि दो दिनो में एक करोड़, अस्सी लाख आदमी धराशायी हुए। इसी भावना को लेकर एक जैन सन्त ने कहा है—

हार हाथी थो वेहिल पै, स रे कोणिक करी अभिलाष।
दोय दिनों में नर मुआ, स रे एक कोड़ अस्सी लाख ।।
महाभारत आगै हुआ से, रे सूत्रां मे छं साख।
मूरख लख जा रे कनक ने, कामण दोनूं पाश।।

कहने का आशय यह है कि इन चीजों को लेकर वड़े-वड़े संघर्ष आगे हुए, आज भी हो रहे हैं। इसलिए कहा गया—

छोड़दो कहना भी मम-मम,
रहो निज भावों में हरदम।

"मेरा-मेरा" कहना छोड़ दो, अपने भाव में—स्वभाव मे निमग्न रहो, स्व में रमण करो। यही क्रोध पर विजय पाने का उपाय है।

गम का जो खाना सहल नहीं है,
शान्ति का लाना सहल नही है,
वक्त पर होना भी न गरम,
हृदय को रखकर खूब नरम,
धरो सब पर रहम ।।

जिस समय प्रतिकूल वातावरण हो, उस समय गम खाना, क्षमा को अपनाना, सहिष्णु वनना, सह लेना सहज नही है। शांति में स्थित रहना साधारण वात नही है। सस्कृत में "क्षमु सहने" धातु से "क्षमा" शव्द वनता है। क्षमा के स्थान पर कही-कही "तितिक्षा" शव्द का भी प्रयोग होता है। गीता, योग-वाशिष्ठ आदि में "तितिक्षा" शव्द "क्षमा" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहां व्याख्या करते हुए लिखा है—

सहन सर्वदुःखानामप्रतिकारपूर्वकम्।
वीत लोभ-भय-क्रोधं, सा तितिक्षा निगद्यते ।।

प्रतिकार किये विना आये हुए दु:खों को समता से सहना तितिक्षा है। पर, वीत लोभ-भय-क्रोध का तात्पर्य यह है कि क्रोध, लोभ, भय आदि

के वश होकर सहना तितिक्षा या क्षमा नहीं है। लोभ के वशगत मनुष्य को बहुत कुछ सहना पडता है, धनाढ्यों के दुर्वचन भी सहने पडते है। ऐसे ही भय-प्रसूत जो परिस्थिति आ जाए, उसको भी बिना कुछ कहे-सुने सहना पड़ता है। इसलिए क्रोध, लोभ आदि से अप्रभावित रहते हुए, अप्रतिकार-पूर्वक सहन करना तितिक्षा कहलाता है। उस तितिक्षा को समय पर सजोये रहना यानी केवल आत्मप्रेरित हो शान्त रहना वास्तविक क्षमा है। उस क्षमा मे स्थिर रहना बहुत ऊँची स्थिति है। क्रोध के कारणों की विद्यमानता के बावजूद गर्म न होना बडी बात है। क्योकि क्रोध को आग माना जाता है। उससे तत्काल दिमाग गर्म हो जाता है। यह गर्मी तभी पैदा नही होती, जब हमारा हृदय कोमलता से छलाछल भरा हो। इसीलिए कहा गया—

क्षण दुःखदायी लोहे के कांटे—
सहने सहल, पर कुवचन कांटे—
महा भीषण, कहता आगम,
सुजन भी नहीं रख सकता शम
धरो सब पर रहम ॥

शास्त्रो मे कहा गया—

मुहुत्त-दुक्खा हु हवंति कंटया
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥ —दश. ९/३/७

लोहमय कांटे मुहूर्त्त मात्र के लिए दुःखदायी बनते है। वे कांटे आसानी से बाहर निकाले जा सकते है तथा उनके घाव भी शीघ्र भर जाते है किन्तु "वाचादुरुक्तं"—वाणी से कहा गया अपशब्द—वाग्बाण दुरुद्धर कहा जाता है। उसको बाहर खीच लेना सरल नहीं है। तत्प्रसूत वैरानुबन्ध आगे से आगे चलता जाता है तथा चिरकाल तक उसका भीषण परिणाम भोगना पड़ता है।

एक शायर कहता है—

छुरी, कातुरी, तलवार का घाव लगा सो भरा।
लगा जो जख्म जबां का, रहता है हमेशा हरा ॥

एक बहुत प्रेरक कथा हमारे प्राचीन साहित्य में आती है—

अदीठ फोड़े को उकेर दिया। मुँह से सारा मवाद चूसकर बाहर फेंक दिया और घाव को बिलकुल साफ कर दिया। मवाद का जहर निकलते ही शान्ति सी आ गई। सिंह ने कहा—अपने घर जाकर कुछ मरहम पट्टी कर लो। दो-चार दिन में घाव बिल्कुल ठीक हो जाएगा। सुथार अपने घर आ गया। मरहम आदि द्वारा उपचार किया। पाँच-सात दिनों में घाव मिल गया। सुथार पूर्ण स्वस्थ हो गया।

थोड़े दिनों के बाद फिर अपना बसूला आदि सामान साथ लेकर सुथार जंगल में आया और अपने मित्र सिंह से मिला। सिंह ने मिलते ही पूछा—कैसे हो? उसने कहा—बिलकुल ठीक। फिर सिंह ने पूछा—घाव में किसी तरह की तकलीफ तो नहीं है? उसने कहा—घाव की तकलीफ तो नहीं है किन्तु ···। सिंह ने कहा—तूने यह "किन्तु" क्यों लगाया? क्या कोई कसर है? उसने कहा—नही, नही कोई कसर नही है, ऐसे ही। सिह ने फिर तमककर पूछा—"ऐसे ही" क्या होता है? जो कुछ भी है, साफ क्यों नहीं बोलते? उसने कहा—नही, कुछ बोलने जैसी बात नही है, यों ही मन में एक बात आ गई। सिंह ने दबाव देकर पूछा—मन में क्या बात आ गई, तुझे बतानी पड़ेगी। मूर्ख सुथार ने कहा—घाव तो ठीक हो गया पर एक बात रात-दिन मन में खटकती है कि ढांढी खाने वाले (गोभक्षक) का अपवित्र मुँह मेरे शरीर पर लग गया। ऐसा सुनते ही सिंह क्रुद्ध होकर दहाड़ने लगा और कहा—नीच! इस प्रकार मुझे गाली देता है? (कहा जाता है, "ढांढी खाने वाला" सिंह के लिए गाली है) जिस प्राणघातक रोग से तू पीड़ित था, मैंने उससे तेरा छुटकारा करवाया। उसकी कृतज्ञता तो कही रही, उलटा मेरा अपमान कर रहा है। बस आज के बाद तेरी-मेरी कोई मित्रता नही है। फिर कभी इस जंगल में मत आना। यदि भूल से भी आ गया तो मारा जायेगा। सुथार थर-थर काँपता हुआ कहने लगा-मित्र! माफ करो! मैंने तो ऐसे ही मजाक में कह दिया। भविष्य में पूरा ध्यान रखूँगा। सिंह ने उसको एक सबक सिखाने के लिए कहा—ले, मेरी गर्दन पर तू तेरे बसोले से एक घाव कर। डरते हुए सुथार ने कहा—क्यों? सिंह ने कहा—मैं कहता हूँ, तू जोर से प्रहार करके घाव कर। भय से कांपते हुए हाथों से बढ़ई ने वैसा किया। सिंह ने कहा—क्या समझा? यह तेरा किया हुआ घाव दो-चार दिनों मे मिल जायेगा पर तूने जो वाणी का घाव किया है, वह जीवन भर मेरे मन पर ज्यों का त्यों बना रहेगा।

तात्पर्य यह है कि कहा हुआ एक अपशब्द पीढ़ियों तक स्मृति में वैर का विष घोलता रहता है। निन्दा, घृणा, गर्हा आदि से संपृक्त अप-

शब्द ऐसा विष-बुझा तीर होता है कि उसे भुलाया नही जा सकता । एक-एक शब्द के कारण महाभारत छिड जाते है । द्रौपदी ने तो मजाक में कहा था—अन्धे बाप का बेटा भी क्या अन्धा है ? इन शब्दों का जो भीषण परिणाम प्रकट हुआ, वह सर्वविदित है ।

क्रोध को जो नर पी सकता है,
विष को भी वह नर पी सकता है,
अमर वो बन जाता एकदम,
चरण पर झुक जाता आलम,
धरो सब पर रहम ॥

जो साधक क्रोध को पी सकता है, वह हलाहल कालकूट को भी हजम कर सकता है । महाभारत मे एक स्थान पर आता है—

"मन्युं महाराज ! पिब प्रशाम्य:"

राजन् ! शान्ति के साथ क्रोध को पी जाओ । इसके ऊपर की पंक्ति में कहा गया है—

"सतां पेयं यन्नपिबन्त्यसन्तः"

इसका पान सन्त-सज्जन पुरुष ही कर सकते है, असज्जन इसे नही पी सकते ।

जो इसे पी लेता है, वह विष को भी हजम कर लेता है । बड़ी समझने योग्य बात है । यदि विष हजम हो जाए तो वह अमृत-रूप बन जाता है ।

एक बार हमारा डीडवाना जाने का प्रसग बना । वहाँ रामस्नेही सन्तों का आश्रम था । हम अनायास ही उनसे मिलने चले गए । वहाँ एक सन्त थे । कद्दावर शरीर था । आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियाँ एकदम स्वस्थ थी । बातचीत के दौरान हमने उनसे पूछा—आपकी उम्र क्या होगी ? उन्होने कहा—नब्बे वर्ष । हमे बडा आश्चर्य हुआ । सहसा हमारे मुह से निकला—इतनी बडी उम्र मे ऐसा स्वस्थ शरीर ! सन्त ने बड़े गर्व के साथ कहा—मैंने सखिया खाया है, एक पाव घी खडा-खड़ा पी सकता हूँ । आप जैसे दो को तो बगल में दबाकर चल सकता हूँ । हमारे विस्मय का ठिकाना न था । हमने कहा—सखिया तो भीषण जहर होता है, उससे आप इतने स्वस्थ बन गये ? वृद्ध से युवा बन गये ? उन्होने कहा—हाँ, सखिया भीषण विष है, पर यदि उसे विधिपूर्वक हजम कर लिया जाय, वह जीर्ण हो जाय तो अमृत बन जाता है ।

इसलिए यह सत्य है कि यदि विष जीर्ण हो जाए तो मनुष्य अमर वन जाता है। इसीलिए कहा गया—

अमर वह वन जाता एकदम,
चरण में झुक जाता आलम।

शंकर महादेव क्यों हो गए ? एक वड़ा प्रेरक रूपक है—देवों और असुरों ने मिलकर समुद्र का मन्थन किया। मेरु को मथानी और शेपनाग को नेतरा—मथानी की डोरी बनाया। समुद्र-मन्थन का ध्येय था—अमृत प्राप्त करना, पर पहले विप का कुम्भ ऊपर आ गया। अब उसे ले कौन ? देव-दानव सब इन्कार हो गए। कोई उसे स्वीकार करने को तैयार नही। कहते है, उस विषपूर्ण कुम्भ को लेकर सब पहुँचे वाबा भोलेनाथ के पास। और भोलेनाथ तो ठहरे भोलेनाथ। देवों-दानवों ने कहा—महाराज! हमने समुद्र-मन्थन किया है। उसमें यह विष निकला है। अव इस कालकूट को कौन ग्रहण करे ? शंकर ने कहा—लाओ मुझे दे दो। मन्थन करने वाले वड़े प्रसन्न हुए और वह विष का कुम्भ शम्भु को दे दिया। महादेव उस विष को पी गए और उसे अमृत में परिणत कर लिया। कहते हैं, उन्होंने उस हलाहल का पान किया और गले में ही उसे पर्यवसित कर लिया। न तो उसे आमाशय में जाने दिया और न वापस वमन ही किया। योग-शक्ति से उसे कण्ठ में ही हजम कर लिया। परिणामस्वरूप उनका कठ नीला पड़ गया। इसलिए शंकर का एक नाम नीलकंठ भी है।

यह रूपक एक गहरा संकेत देता है। क्रोध के दो परिणाम आते हैं—या तो क्रोध के वेग में मनुष्य गालियाँ वकने लगता है, उस क्रोध का वमन कर देता है, या उस समय कुछ न वोलकर उस विष-ग्रन्थि को उदरस्थ कर लेता है। मन में वड़ा वग है। भीतर ही भीतर गुनगुना लेता है—आने दो समय, इसका प्रतिशोध लेकर छोड़ूंगा। इन दोनों स्थितियों में विप हजम नही होता। विप को जीर्ण तो शम्भु ने इस भाँति किया—न उसे उदर में जाने दिया और न उसे वापस वाहर ही फेका। इसी अनुपम तितिक्षा, सहिष्णुता के कारण शम्भु महादेव वन गए। ब्रह्मा, विष्णु आदि सव देव कहलाते है, जवकि शंकर महादेव कहलाते है।

प्रेम से वश मे क्या नहीं आता ?
हिंसक पशु भी वैर भुलाता !
मार्ग यह लेकिन है दुर्गम,
महज जागृति से वने सुगम
धरो सव पर रहम ॥

प्रेम मे अद्भुत शक्ति है। प्रेम से क्या वश मे नही होता? कौन अधीन नही बनता? मनुष्य क्या, हिंसक पशु भी प्रेम के कारण वैर-भाव भुला देते है। महर्षि पतञ्जलि योगसूत्र मे लिखते है—

अहिसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग.। —योगसूत्र २/३५

अहिसा की, प्रेम की प्रतिष्ठा होने पर, जीवन में अहिसा के सर्वथा सध जाने पर साधक के समक्ष वैर-विरोध ठहर नही पाता, टिक नही सकता। ऐसे उदाहरण प्रत्यक्ष देखने को मिलते है। यह तो सर्वविदित ही है कि तीर्थंकर देवो के समवसरण मे सिह और वकरी एक साथ वैठते है अर्थात् जन्मजात शत्रु भी वहाँ आकर वैर भूल जाते है। विल्ली वहाँ चूहे को शत्रुता के भाव से नही देखती। यह सब उत्कृष्ट अहिसा-साधना का परिणाम है। यह केवल शब्दो का विषय नही है, वड़े कठिन अभ्यास के वाद वैसी स्थिति प्राप्त होती है। मैत्री-भावना के चरम प्रकर्ष पर यह परिणाम प्रस्फुटित होता है। विशुद्ध प्रेम साधने हेतु दो वाते अत्यन्त आवश्यक है—

वचन मधुरता को अपनाते
नयनो से अमृत रहो वरसाते
मिलेगा "चन्दन" फल उत्तम
खिलेगा अनुभव-तरु अनुपम
धरो सव पर रहम ॥

प्रथम—वाणी का माधुर्य—हर किसी के साथ मधुर वचनों का व्यवहार करना। कोई व्यक्ति यदि अत्यन्त क्रुद्धावस्था में सामने आए, अपशब्द वोले, उस समय भी साधक की वाणी में कटुता न आए। उसके मुख से अमृतमयी वाणी प्रस्फुटित हो। साथ ही आँखों से प्रेमामृत की वृष्टि होती रहे। शाब्दिक मधुरता के साथ हृदय की मधुरता आँखों द्वारा अभिव्यक्त होती है। आँखों में ऐसी अद्भुत शक्ति है कि हृदय की भावना को वे तत्काल प्रकट कर देती है। कहा गया है—

हर्ष, शोक, सुख, दुःख अमन, हिय का हेत कुहेत।
मन महीप के आचरण, दृगदिवान कहि देत ॥

मन राजा है, नेत्र दीवान है—प्रधान अमात्य है—मन्त्री है। मन में उद्भूत हर्ष, शोक, सुख, दु ख, अन्यमनस्कता, प्रेम और अप्रेम—इन सब भावों की अभिव्यक्ति नेत्रो द्वारा तुरन्त हो जाती है। इसलिए नेत्रो से

निरन्तर सद्भावना की, प्रेम की वृष्टि होती रहनी चाहिए। भगवान् महावीर कहते है—

"मित्ति मे सव्व-भूएसु, वेरं मज्झ न केणई॥"

साधक सदा यह चिन्तन करता रहे—समस्त प्राणियों के साथ मेरा मित्र-भाव है, किसी से वैर नही। यदि इन दो बातों का अभ्यास सतत चालू रहे तो निःसन्देह उसका उत्तम फल प्राप्त होगा और साथ ही साथ अनुभवरूप वृक्ष पुष्पित, पल्लवित एवं सुफलित होता जायेगा।

o — o

१०

सुगुरु की शरण करो स्वीकार।

सुगुरु के चरण करो स्वीकार।

बिन मल्लाह नहीं हो सकती।

नौका भव जल पार ॥ सुगुरु (ध्रुव) ॥

गुरु है ब्रह्मा, गुरु है विष्णु,

गुरु शिव का अवतार ॥१॥

ज्ञान-दान-दाता गुरु चक्षु,

महिमा अपरम्पार ॥२॥

कनक-कामिनी का जो त्यागी,

वही सुगुरु गुणधार ॥३॥

लोभी गुरु कैसे तारेगा ?

कुछ तो करो विचार ॥४॥

सन्त राम में भेद कहाँ है ?

रहा कबीर पुकार ॥५॥

हृदय-तापहर्ता गुरु सच्चा,

व्यास-वचन सुखकार ॥६॥

'चन्दन' तार जोड गुरुवर से,

है मौका अविकार ॥७॥

तर्ज—बता दे सखी ! कौन गली गये श्याम

१०.

सुगुरु की शरण करो स्वीकार

आज गुरु-पूर्णिमा का पवित्र दिन है। "गुरु" शब्द की व्याख्या करते हुए अद्वैतारकोपनिषद् में कहा है—

> "गु" शब्दस्त्वन्धकारः स्यात्, "रु" शब्दस्तन्निरोधकः।
> अन्धकारनिरोधित्वाद्, गुरुरित्यभिधीयते ॥

"गु" शब्द अन्धकार का वाचक है "रु" उसे रोकने के अर्थ में है। जो हृदयान्धकार को रोकने में समर्थ हो, उसे गुरु कहा जाता है। इसीलिए सभी शास्त्रों में गुरु का वडा महत्व माना गया है। गुरु का स्थान गोविन्द से भी—परमात्मा से भी ऊँचा रखा गया है। एक वहुप्रचलित काव्य है—

> गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागू पांय।
> बलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दियो वताय ॥

गुरु ही गोविन्द की पहचान कराते है। कहा है—

> सुगुरु की शरण करो स्वीकार।
> सुगुरु के चरण करो स्वीकार।
> विन मल्लाह नहीं हो सकती, नौका भव-जल पार ॥ध्रुव॥

नौका चाहे कितनी ही अच्छी क्यो न हो, कितनी ही सुन्दर रीति से क्यों न वनाई गई हो, पर यदि मल्लाह दक्ष न हो या अनुपस्थित हो तो कभी वह पार नही हो सकती। गुरु निर्या[illegible] समान है। इसीलिए कहा गया है कि सुगुरु [illegible] नो और [illegible] का आश्रय ग्रहण करो।

कितने प्रेरक [illegible]

> गुरुर्ब्रह्मा [illegible] महेश्[illegible]
> . साक्षात् [illegible] न
> ।म। [illegible] ।

गुरु है ब्रह्मा गुरु है विष्णु, गुरु शिव का अवतार।
ज्ञान-दान दाता गुरु चक्षु, महिमा अपरम्पार॥

गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु है, गुरु ही शिव है, गुरु साक्षात् परब्रह्म-स्वरूप है। हम उन्हें नमन करते हैं।

अज्ञान-रूप अन्धकार में जिनके नेत्र आवृत है, जिनके नेत्रो पर तिमिर-पटल छाया है, गुरु उनके नेत्रों में ज्ञान-रूपी शलाका द्वारा ऐसा सिद्धाजन डालते है, जिससे उनके नेत्रों मे ज्योति खिल उठती है, इसलिए गुरु चक्षुदाता कहे गए हैं। चक्षु का दान परम उत्कृष्ट दान है। तीर्थकरों को भी "चक्खुदयाणं, मग्गदयाणं, सरणदयाणं'—चक्षुप्रद, मार्गप्रद एवं शरण-प्रद कहा गया है। वास्तव में नेत्र एक ऐसी शक्ति है, जिसस कोटि-कोटि वस्तुओं को हम देख सकते हैं। नेत्र-ज्योति प्राप्त होने के वाद किसी पर आश्रित रहने की आवश्यकता नही रहती। इसलिए नेत्रो का वहुत वडा महत्त्व है।

कहा जाता है, एक वार रोम के वादशाह ने भारत पर आक्रमण करने की ठानी। सैनिक तैयारी, प्रशासन, व्यवस्था आदि का पूर्वानुमान करने से पहले उसने सोचा कि सर्वप्रथम यह पता लगाना चाहिए कि भारत के दीवान कैसे है, सलाहकार तथा अधिकारी कैसे है? संग्राम मे विजय तथा पराजय अधिकांशत: सलाहकारो पर निर्भर करती है। बुद्धिमान और पैनी सूझ-बूझ के धनी दीवान हों तो उस राज्य को आसानी से पराभूत नही किया जा सकता। इसलिए अच्छा हो, पहले राजा के दीवान की परीक्षा की जाए।

रोम के वादशाह ने एक छोटी सी शीशी मे दो शलाकाओ में आए, इतनी सी आँखो की दवा डालकर एक निपुण दूत के साथ भारत के सम्राट के पास भेजी, कहलवाया कि यह आँखो की सिद्ध औषधि है। जिनकी आँखे वहुत उपयोगी हो, जिनकी आँखों से अनेकानेक व्यक्ति लाभान्वित हो सकते हों, उन आँखो के लिए इस दिव्य औषधि का प्रयोग किया जाए। नि सन्देह औषधि का सुन्दर परिणाम आएगा और ज्योति खोया हुआ व्यक्ति वालक जैसी आँखों वाला वन जाएगा। सम्राट ने भेट-स्वरूप आई औषधि को स्वीकार कर लिया और वह चिन्तन करने लगा कि किस महामेधावी के लिए इसे प्रयुक्त किया जाय? अन्तत: राजा की दृष्टि अपने वयोवृद्ध, सेवा-निवृत्त दीवान पर जा टिकी। वृद्धावस्था के कारण उसकी आँखो की ज्योति जा चुकी थी। सम्राट ने यही निश्चय

किया कि वृद्ध दीवान के समान किसी की आँखें उपयोगी नही है। वह बड़ी सूझ-बूझ वाला है और यदि उसे नेत्र-ज्योति प्राप्त हो गई तो वह हजारों-लाखों का पथ-दर्शन कर सकता है। दवा दीवान के पास भेज दी गई तथा सारा वृत्तान्त भी बताया गया। चिन्तनशील दीवान संशय में पड़ गया कि रोम के बादशाह ने इतनी दूर से दिव्य औषधि भेजी, फिर इतनी कम मात्रा में क्यों ? केवल दो ही आँखें खुल सकें, ऐसा क्यो ? इतना श्रम उठाकर भी इतनी कृपणता क्यों ? इसमें कोई न कोई रहस्य होना चाहिए। दीवान ने फिर सोचा कि मेरे जैसे बूढ़े के नेत्रों का ज्योतिर्मय होना क्या महत्ता रखता है ? महत्ता तो तब हो, जब मेरी खुली आँखें हजारों-हजार लोगों के लिए उपयोगी सिद्ध हों। आखिर गहन चिन्तन के बाद दीवान ने उस दो सींक-भर औषधि का दो रूपों में प्रयोग किया। एक सींक अपनी एक आँख में डाली और दूसरी मुह में। औषधि डालते ही आँख में रासायनिक परिवर्तन प्रारम्भ हुआ और थोड़ी देर में ज्योति आ गई। एक सीक को मुह में डालने का आशय यह था, उसके स्वाद से यह जाना जा सके कि उसमें किन-किन रासायनिक पदार्थों का किस मात्रा में सम्मिश्रण किया गया है। रसनेन्द्रिय की शक्ति भी अपने आप मे अद्भुत होती है। विवेकशील को स्वाद के द्वारा विभिन्न पदार्थों का तुरन्त ज्ञान हो जाता है। दीवान ने रसविज्ञान द्वारा उसमें प्रयुक्त जड़ी-बूटियों का गवेषणा-बुद्धि से सही मात्रा में यथार्थ रूप में अंकन किया। वह स्वय उस औषधि के निर्माण में संलग्न हो गया। उसकी पकड़ सही निकली। स्व-निर्मित औषधि का उसने अपनी दूसरी आँख पर प्रयोग किया। परिणाम देखकर उसका मन खिल उठा। वह उस दिव्य औषधि के निर्माण में सफल हुआ था।

दीवान के इस चामत्कारिक सफल अनुसन्धान को देखकर सम्राट के हर्ष का पार न रहा। सम्राट ने रोम के बादशाह के दूत को बुलाया। उसे पुरस्कार, उपहार आदि देकर उस दिव्य औषधि से भरी एक बड़ी शीशी बादशाह को भेंट करने के लिए दी और कहलवाया कि यह हिन्दुस्तान है। यहाँ बहुत बड़े अनुसन्धान पूर्वकाल में होते रहे है तथा आज भी हो रहे है। यह स्थिति जब रोम के बादशाह के पास पहुँची, वह चकित रह गया। जिस राज्य में इस प्रकार के महामनीषी दीवान हों, उसे सहज में अधिकृत करना सम्भव नही है। जो एक आँख की ज्योति से हजारों आँखों को ज्योतिर्मय बना सकते है, ऐसी सूझबूझ के लोगों को पराजित करना निश्चय ही कठिन है।

निःसन्देह नेत्र-दान महान् दान है। फिर गुरु तो अन्त नेत्र खोलने वाले है। जैनागमों में अनेक ऐसे प्रसंग प्राप्त होते हैं, जहाँ गुरुओं के सम्पर्क से घोर पापियों का भी उद्धार हो गया। प्रदेशी जैसे अतिक्रूर, निर्दय राजा का गुरु केशी स्वामी की थोड़ी-सी सगति से किस प्रकार कल्याण हुआ, यह सर्व विदित है। इसलिए महावीर के गुणवर्णन मे उनको "जगगुरु" कहा गया है—

'जयइ जग जीव जोणी,
वियाणओ जगगुरु जगाणंदो।"

जगद्गुरु महावीर ने कितनों का उद्धार किया, कितने भूले-भटके प्राणियो को मार्ग दिखलाया। इसलिए गुरु, गुरु ही होते हैं।

संस्कृत में "गुरु" शब्द का अर्थ भारी होता है। गुरु गुणों से "सतोले" होने चाहिए, गम्भीर होने चाहिए। उनमें अत्यन्त गहराई होनी चाहिए। पर बन्धुओ ! आज तो गुरु के नाम पर मायाजाल फैलाया जा रहा है। "गुरु" कहलाने वाले गुरुत्व की गरिमा से प्राय शून्य प्रतीत होते हैं। हमारी गीतिका का एक पद है—

कनक कामिनी का जो त्यागी, वही सुगुरु गुणधार।
लोभी गुरु कैसे तारेगा ? कुछ तो करो विचार।।
सुगुरु की शरण करो स्वीकार।

विभिन्न सम्प्रदायो में, विभिन्न धार्मिक परम्पराओ में अनेक प्रकार की विचित्रताएँ देखने में आती है। फिर सच्चा गुरु किसे माना जाय, यह एक जटिल प्रश्न है।

यहाँ ऋषि-मुनियो ने एक छोटी-सी कसौटी हमारे सामने रखी कि कम से कम गुरु कनक-कामिनी का त्यागी तो होना ही चाहिए। यदि वास्तव में इन दोनो का त्यागी है तो फिर चाहे किसी भी सम्प्रदाय का हो, कैसी भी वेश-भूषा क्यो न धारण करे, वह सन्त गुरुपद के योग्य है। ऐसे सन्त को नि.संशय गुरु स्थान दिया जा सकता है। कबीर कहते है—

पल्ले दाम न बाँधहि, नहीं नारी सों नेह।
कह कबीर वा सन्त की, हम चरणन की खेह।।

जो धन का संग्रह नही करते, जो काम-भोग से ऊपर उठ चुके है, हम उन सन्तो के चरणों की धूल है। उनकी चरण-धूलि भी हमारे लिये अद्भुत रसायनतुल्य है। पूज्य कालू गुरुदेव इसी विषय को विशद बनाते हुए कुछ दोहे फरमाया करते थे—

एक कनक और कामिनी, जग में मोटी खाड़।
राजा, राणा, बादशाह, पड़-पड़ भांग्या हाड़ ॥
एक कनक और कामिनी, दो मोटी तरवार।
जाता था प्रभुमिलन को, बिच में नाख्या मार ॥
एक कनक और कामिनी, जग में मोटा फन्दा।
जो इनसे न्यारा हुआ, वो साहिब का वन्दा ॥

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता की टीका में एक श्लोक उल्लिखित है—

कान्ताकांचनचक्रेषु, भ्राम्यति भुवनत्रयम्।
तासु तेषु विरक्तो यो, द्वितीयः परमेश्वरः ॥

कान्ता—स्त्री, कांचन—स्वर्णादि— ये दो भीषण चक्र हैं। इनमें तीनों लोक भ्रान्त है, चक्कर काट रहे है। उनमें—स्त्रियों में और धनादि परिग्रहों में जो आसक्त नहीं वनता, अनासक्त, विरक्त वना रहता है, वह परमेश्वर का दूसरा रूप है। इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है, क्योंकि ये अनादिकालीन ससारी जीव की संज्ञाएँ है। इनकी वासना का छूटना ही सच्चा त्याग है। गुरु कहलाता हुआ भी जो लोभ के वशीभूत है, परिग्रह के संग्रह में लिप्त है, वह स्वयं ही डूवता है, तो दूसरों को कैसे तार सकता है। कहा है—

लोभी गुरु तारे नहीं, ले डूवेला लार।
जो थांरे तिरणो हुवे, निर्लोभी गुरु धार ॥

एक अन्य स्थान पर कहा गया है—

गुरु लोभी चेलो लालची, दोनूं खेलै दांव।
दोनूं डूबें वापड़ा, वैठ पत्थर की नाव ॥

व्यंगोक्ति द्वारा एक कवि ने और भी तीखा प्रहार किया है—

बिल्ली गुरु बगुलो कियो, वरण ऊजलो देख।
पार किस विध ऊतरै, दोनां री मति एक ॥

इसलिए गुरु में निर्लोभिता अत्यन्त आवश्यक है। यदि संत, संत है, माया से ऊपर उठ चुके है तो—

"सन्त राम में भेद कहाँ है, रहा कबीर पुकार ॥
सुगुरु की शरण करो स्वीकार ॥"

संत कवीर का एक भजन वहुत प्रचलित है—

मैं तो उन संतों का दास, जिन्होंने मनवा मार लिया।
आपा मार जगत में बैठा, नहीं जगत से काम।
उनमें तो कुछ अन्तर नाहीं, संत कहो चाहे राम ॥१॥

मन मारत तन वश मे आया, सभी भरम गया दूर।
ऊपर से कुछ दरसत नाहीं, अन्दर झलकत नूर ॥२॥

यह यथार्थ है. आखिर राम को, प्रभु को, परमात्मा को सही रूप में कौन समझाता है ? उनकी प्रतीति किनके द्वारा होती है ? वे एक मात्र गुरु ही है, सन्त ही है जिनके कारण यह सब सधता है। एक राजस्थानी दोहे मे बड़ा सुन्दर कहा गया है—

सत हरि रा लाडला, सत हरि रा पूत।
जो जग सत होता नहीं, तो हरि जाता ऊत ॥

प्रभु के लाडले बेटे सन्त जन ही है। यदि सन्त नही होते तो भगवान् की पीढी ही नही चलती। वास्तव मे गुरु किसे माना जाए, इसकी व्याख्या करते हुए महर्षि व्यास लिखते हे—

गुरवो बहवः सन्ति, शिष्यवित्तापहारकाः।
तमेक दुर्लभ मन्ये, शिष्यहृत्तापहारकम् ॥

शिष्य के वित्त का—धन का हरण करने वाले गुरु बहुत है, पर शिष्य के हृत्ताप—हृदय के ताप को—अज्ञानजनित पीडा को मिटाने वाले गुरु दुर्लभ है। क्योंकि आजकल ऐसे गुरुओ की कमी नही है, जो शिष्यो को चगुल में फासकर उनके धन का शोपण करने मे लगे रहते है। हृदय को शान्ति प्रदान करने वाले, काम, क्रोध, मोह, माया आदि से छुड़ाने वाले गुरु कहाँ है ? कितना अच्छा कहा है—

सिख तो ऐसा चाहिए, गुरु को सब कुछ देय।
गुरु भी ऐसा चाहिए, सिख से कुछ नहीं लेय ॥

शिष्य की भावना इतनी ऊँची हो कि मैं गुरु के चरणों में अपना सर्वस्व समर्पित कर दू, पर गुरु भी इतना निःस्पृह हो, जो प्रतिफल के रूप में कुछ भी न लेना चाहे। पर ऐसे गुरु कहाँ है ? कबीर ने कहा है—

यह जग विष की वेलडी, गुरु अमृत की खान।
शीश दिए भी गुरु मिले, तो भी सस्ता जान ॥

गुरु महाराज एक दोहा फरमाया करते थे—

तब लग जोगी जगत् गुरु, जब लग रहत निराश।
जब जोगी आशा धरी, तो जग गुरु जोगी दास ॥

अतः हृदय का ताप मिटाने वाले गुरु ही—सन्त ही वास्तव में गुरु-पद के अधिकारी है।

एक कथानक है। सत्यव्रत नाम का राजा था। उसका राजकुमार अचानक बीमार पड गया। बीमारी इस प्रकार बल पकडती गई कि कोई

उपचार लागू नहीं पड़ा। इकलौता पुत्र! राजा की सारी आशाओ का केन्द्र वही था। उसका इस प्रकार असाध्य रोग से पीड़ित होना राजा के लिए भारी चिन्ता का विषय वन गया। वड़ी नाजुक स्थिति वनी। पुत्र की वीमारी से स्वयं राजा इतना व्यथित एवं अशान्त वन गया कि उसका स्वास्थ्य भी दिनोंदिन गिरने लगा। राजपुरुषो को, अधिकारियो को यह स्पष्ट प्रतीत होने लगा कि पुत्र तो जव जाएगा तव जाएगा, पर राजा तो इससे पहले ही रास्ता ले लेंगे। वे सव सोचने लगे, राजकुमार का तो नीरोग होना सम्भव ही नहीं लगता, पर कम से कम राजा का मन शान्त रहे, ऐसा कुछ उपाय ढूढना चाहिए।

इधर राजकुमार की चिकित्सा के लिए आये हुए सारे वैद्य, हकीम आदि उपचार करके थक गये, कोई दवा लागू ही नही पड़ रही थी। उन्होंने सांकेतिक भाषा में यह प्रकट भी कर दिया था कि रोग असाध्य है। उसका उपचार असम्भव जैसा प्रतीत होता है। राजा के सभी हित-चिन्तकों को केवल एक ही चिन्ता थी कि राजा को किस प्रकार स्वस्थ किया जाए। आखिर किसी अनुभवी ने सलाह दी कि राजा के शरीर में कोई रोग तो है नही। वे तो केवल पुत्र की चिन्ता से व्याकुल है। कोई ज्ञानी गुरु, सन्त—महात्मा ही इनके मानस-चिकित्सक वन सकते हैं—मनःपीड़ा मिटा सकते है।

आखिर उन लोगों ने एक किसी पहुँचे हुए महात्मा से सम्पर्क साधा। सारी स्थिति उनके सामने स्पष्ट की। उन्होने राजा की मनः चिकित्सा करना स्वीकार कर लिया। वे राजा के पास आये। हितैषियों ने राजा को पहले से अवगत करा दिया था कि एक वहुत वड़े अनुभवी महात्मा आ रहे है। उनके योग—नुस्खे रामवाण की तरह अचूक होते हैं। राजकुमार उनके उपचार से तुरन्त स्वस्थ हो जायेगा।

राजा को कुछ आशा वँधी। महात्माजी ने दर्शन दिए, सारी स्थिति का निरीक्षण किया। कुछ चिन्तन के वाद उन्होंने कहा—राजन्! चिन्ता की कोई वात नही है, इसका वड़ा साधारण इलाज है। मैं इसका उपचार करूँगा, औषधि दूगा। पर औषधि के वैज्ञानिक प्रयोग हेतु एक ऐसी वस्तु की आवश्यकता है, जिसके साथ मेरी औषधि तुरन्त काम कर जाएगी। आशा भरे स्वर में राजा ने कहा—महात्माजी! हमारे यहाँ क्या कमी है? जो भी वस्तु चाहिए, वतलाएँ। वह जहाँ कहीं भी मिलती हो, मैं मँगवा लूंगा। महात्माजी ने कहा—वहुत अच्छा! फिर चिन्ता की कोई वात नही है।

राजा ने कहा—फरमाइये, क्या वस्तु चाहिये ? महात्माजी ने कहा —केवल सुखी घर—सुख-सम्पन्न परिवार का एक पैसा चाहिये। ऐसा पैसा, जो पूर्णतया सुखी घर से सम्बद्ध हो, जिस व्यक्ति के यहां किसी प्रकार का दु:ख न हो। ऐसे घर का एक ही पैसा यदि मिल जाए तो मैं तत्क्षण उसके साथ अपनी औषधि का प्रयोग प्रारम्भ कर दूगा। राजा ने कहा—यह तो बडी साधारण बात है, बिलकुल सुलभ है। इसे पाने में कोई कठिनाई नही है।

राजा चिन्तन करने लगा—इस नगर मे पूर्ण सुखी कौन है ? किसी ने सुझाया कि यहां जो धनीराम चौधरी है, वह सभी तरह से पूर्ण सुखी तथा प्रतिष्ठित है। बेटे-पोते, धन-धान्य, जमीन-जायदाद सभी कुछ उसे प्राप्त है। शहर में प्रतिष्ठा भी बहुत है। राजा ने तुरन्त चौधरी को याद किया। चौधरी राजसभा में उपस्थित हुआ। राजा को विनम्रतापूर्वक प्रणाम कर पूछा—अन्नदाता ! मुझे आज किसलिए याद फरमाया है ? सेवक के योग्य कार्य हो तो आज्ञा कीजिए। राजा ने कहा—चौधरी ! मेरे प्यारे राजकुमार के इलाज के लिए मुझे किसी सुख-सम्पन्न परिवार का एक पैसा चाहिए। आप मुझे सभी तरह से सुखी प्रतीत होते है। इसलिए इतना-सा त्याग मैं आपसे करवाना चाहता हूँ। राजा के शब्द सुनते ही चौधरी चुप रह गया। कुछ उत्तर नही दे सका। राजा ने पूछा —क्यो, क्या बात है ? चिन्तामग्न कैसे हो गये ? कुछ लज्जा का-सा अनुभव करते हुए चौधरी ने कहा— राजन् ! आपने मुझसे एक मात्र एक पैसे की माँग की, मैं तो आपके चरणों में अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हूँ, पर आपने पूर्ण सुखी की जो शर्त रखी है, वह मुझमें फलित नही होती। मेरा पैसा आपके औषध-प्रयोग में काम नही आ सकेगा। राजा ने कहा—क्यो ? तुम्हे क्या दु ख है ? क्या तुम्हें भी किसी प्रकार की प्रतिकूलता है ?

आखिर न चाहते हुए भी चौधरी को कहना पड़ा—महाराज ! मैं बेटों-पोतों, जमीन-जायदाद, मान-प्रतिष्ठा आदि की दृष्टि से पूर्ण सुखी हूँ, पर मेरी घरवाली बडी कर्कशा है, कलहकारिणी है। बाहर-बाहर ही मेरी इज्जत है, घर में हमारे प्रतिदिन सघर्ष चलता है, कलह रहती है। यह ऐसी भीतरी मार है कि मैं किसी को कुछ कह भी नही सकता, न किसी के सामने अपनी वेदना ही प्रकट कर सकता हूँ। राजन् ! कहा जाता है—

कुग्रामवासः कुलहीनसेवा, कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या।
पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या, विनाग्निना षट् प्रदहन्ति कायम् ॥

अग्नि के विना भी ये छः कारण देह को सदा जलाते रहते हैं। "क्रोधमुखी च भार्या" वह मेरे घर में विद्यमान है। महाराज ! मैं सुखी कहाँ हूँ, मैं तो अत्यन्त दुःखी हूँ। राजा सुनकर दंग रह गया।

चौधरी को तुरन्त छुट्टी दे दी गई। कुछ चिन्तन के वाद राजा ने सेठ धनदत्त को याद किया। धनदत्त नगरसेठ था। शहर में उसकी भारी प्रतिष्ठा थी। राजा ने एकान्त में बुलाकर उससे भी वही सुखी घर के एक पैसे की वात कही। सभी को ऐसा विश्वास है कि सेठ ! तुम पूर्णतया सुखी हो। तुम्हारा एक पैसा मेरे पुत्र की चिकित्सा में वड़ा उपकारक सिद्ध होगा। ऐसा सुनते ही सेठ जमीन कुरेदने लगा। राजा ने पूछा--एक पैसे के नाम पर तुम ऐसी कौन-सी दुविधा में पड़ गए सेठ ! नगरसेठ ने नम्रतापूर्वक कहा—राजन् ! आपको आश्चर्य होगा, आप मुझे पूर्ण सुखी मानते है, पर मैं वास्तव में वड़ा दुःखी हूँ। अनेक नगरों में मेरे व्यापारिक प्रतिष्ठान चल रहे है। लाखों-करोड़ों का उलट-पलट होता है। लोगों की दृष्टि में मैं वहुत धनाढ्य गिना जाता हूँ। पर इसी वर्ष भावों में कुछ ऐसी मन्दी आई, जिससे व्यापार में भारी नुकसान हो गया। इज्जत कैसे वचेगी रात-दिन इसी चिन्ता मे घुला रहता हूँ। रात को पूरी नीद नही आती, खाने वैठता हूँ तो कौर गले से नीचे नहीं उतरता। हरदम फोन-तार का झंझट वना रहता है। मेरा चित्त वड़ा उद्विग्न है। ठीक ही कहा है, राजन् "**असन्तोषी महादुःखी**" मै महादुःखी हूँ। मेरा पैसा आपके लिए कार्यकर सिद्ध नहीं होगा।

राजा मन ही मन वड़ा हैरान था। यह कैसी दुनिया है ? जिसे पूछो, वही दुःखी नजर आता है। वहुत विचार करने के वाद राजा के मन में फिर एक नाम उभरा। वह था राजा का अपना प्रिय मित्र, एक अन्य राजा। उसका शासन वड़ा अच्छा चलता था। सशक्त सेना थी। देश में आय के साधन वहुत थे। प्रजा वडी सुखी थी। उसका सुयश सर्वत्र फैला था। राजा ने सोचा, वह पूर्ण सुखी है। वह मेरा परम स्नेही है, मित्र है। उससे प्राप्त पैसे से मेरे पुत्र का इलाज सही रूप में हो पाएगा, इसी आशा से राजा ने अपने मित्र राजा को याद किया। उसके सामने अपनी माँग रखी—मित्र ! तुम तो पूर्णतया सुखी हो, मेरी माँग पूरी करो। ऐसा सुनकर मित्र राजा सकुचा गया। कहने लगा—राजे ! तुम्हें मैं पूर्ण सुखी लगता हूँ पर वास्तव में मैं बिलकुल सुखी नहीं हूँ। कारण यह है कि मेरा युवराज जरा भी विनीत नहीं है। वह बड़ा उच्छृंखल है। मेरी आज्ञा का कतई पालन नहीं करता। अध्ययन का तो उसे नाम ही नहीं सुहाता, पर-

दम निरक्षर भट्टारक है। मैं रात-दिन इसी चिन्ता की आग में जलता रहता हूँ। मेरे उत्तराधिकार को वह कैसे सहेज पाएगा ? ऐसा सुव्यवस्थित शासन वह कैसे सम्भाल पायेगा ? "मूर्खश्च पुत्रो विधवा च कन्या" जो कहा है, वह सर्वथा सत्य है। मूर्ख बेटा व विधवा बेटी बाप के दिल को हरदम जलाने वाले होते हैं। इसलिए मुझ दुःखी का पैसा आपके काम नहीं आ सकता।

इस प्रकार राजा ने अनेक सामन्तों, मित्रों, सेठों तथा अधिकारियों से, उन्हें सुखी समझते हुए पैसे की मांग की, पर कोई भी पूर्ण सुखी हो, ऐसा राजा के सामने नहीं आया। आखिर राजा ने महात्मा से विनम्रता पूर्वक पूछा—महाराज ! यह क्या बात है ? क्या ससार में कोई सुखी है ही नहीं ? जिन किन्हीं से मैंने पूछा, सभी दुःखी ही दुःखी नजर आए। सोचता था, मैं ही महादुःखी हूँ, पर बड़ा आश्चर्य है, ससार में सारे ही लोग दुःखी हैं ? गर्म लोहे पर चोट मारने की ज्यों महात्मा ने कहा—राजन् ! यह बिलकुल सही है। ससार में कोई सुखी नहीं है। सारे दुःखी ही दुःखी हैं। तभी तो भगवान् महावीर ने कहा था—

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जन्तवो॥

एक सुभाषित भी है—

दुःखपूर्णेऽपि ससारे, सुखभ्रान्तिः शरीरिणाम्।
लालापानमिवांगुष्ठे, बालानां स्तन्यविभ्रमः॥

संसार दुःखों से भरा है। अज्ञानी जन भ्रान्तिवश उन्हें सुख मानता है। जैसे छोटा बच्चा अपना अँगूठा चूसता हुआ समझता है कि मैं माँ का दूध पी रहा हूँ। वास्तव में वह दूध नहीं, अपने ही मुंह का थूक गिटता है। इसी तरह संसार सुखाभास मात्र है। सन्त ने कहा—

कौन है जग में सुखी, दुखिया सभी संसार है।
ज्ञान से देखें अगर, दुखिया सभी संसार है॥

राजा को एकदम बोध प्राप्त हुआ। वह विचारने लगा—जब सारा ही ससार दुःखी है तो मैं पुत्र-शोक से इतना व्याकुल क्यों बनूं ? जो कुछ होना है सो होगा। कौन क्या कर सकता है। कबीर ने कहा है—

कबीर मैं तो तब डरों, जो मो में ही होय।
मीच, बुढ़ापा, मांदगी, सब काहू के होय॥

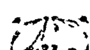
मैं तव डरता, यदि केवल मेरी ही मौत होती, मुझे ही बुढापा आता या एकमात्र मैं ही रोगी होता। ये तो सभी में घटित होते हैं, फिर मुझे डरने की, चिन्तित होने की क्या आवश्यकता है।

राजा उद्बुद्ध हुआ। पुत्र की मृत्यु हो गई। राजा पर उसका दुःखद प्रभाव नहीं हुआ। वह शोकाकुल नहीं बना, प्रत्युत सोचने लगा—संसार का स्वरूप ही ऐसा है।

यह है "हृत्तापहारकम्" का रहस्य। हृदय के ताप को हरने वाले गुरु ऐसे ही होते है, जो शिष्य को संसार के सही स्वरुप का उद्‌बोध देकर संकट से उवार लेते है।

हृदय ताप-हर्ता गुरु सच्चा, व्यास वचन सुखकार।
"चन्दन" तार जोड़ गुरुवर से, है मौका अविकार॥

इसलिए गुरु की शरण में जाओ। अनन्य भाव से गुरु से तार जोडो, तन्मय वनो। पावर हाउस से तार ज्यों ही जुड़ा, वल्व में रोशनी स्वयमेव आ जायेगी।



११

करुणा कर सत मधुरी तान सुणाई,
सोहणी आ अमृत वेला आई, प्यारा भवियाँ,
जागो अब जागो।

जागण री वेला आलस त्यागो, प्यारा भवियाँ, जागो०
जागो जीवन रै पथ पर लागो, प्यारा भवियाँ, जागो०।।ध्रुव।।

उभरी है लाली, दिन है ऊगण वालो,
देखो पंखीडा छोड्यो मालो, प्यारा भवियाँ, जागो० ।।१।।

साठ घड़ियाँ री लेकर भेट भानूडो,
आयो जगावण जग नै रूडो, प्यारा भवियाँ, जागो० ।।२।।

सोनै रो सूरज ओ है जो कुछ कर लेवो,
सुस्तीवश विधि नै दोष न देवो, प्यारा भवियाँ, जागो० ।।३।।

थारा साथी तो आगै बढग्या है केई,
जीवन शिखरां पर चढग्या केई, प्यारा भवियाँ, जागो० ।।४।।

पहलो इक कदम उठ्यो तो उठता ही जासी,
स्वागत स्यूं मंजिल साहमी आसी, प्यारा भवियाँ, जागो० ।।५।।

मनमूबै स्यूं तो काई होणो न जाणो,
मूछ मखणिये[1] रो ओखाणो, प्यारा भवियाँ, जागो० ।।६।।

थारा पगल्या रे पाछै वोहला जन आसी,
'चन्दन' वे थारी धन-धन गासी, प्यारा भवियाँ, जागो० ।।७।।

1—पीलो तो ओढ म्हारी जच्चा
कृपया 'तेरह-व्याख्यान' की पुस्तक में इस उदाहरण को देखें।

११.

करुणा कर सन्त मधुरी तान सुनाई

वैराग्य शतक में लिखा है—

> मा सुयह ! जग्गियव्वे, पलाइयव्वम्मि कीस वीसमेह ।
> तिण्णि जणा अणुलग्गा, रोगो य जरा य मच्चू य ॥
>
> —वै० श० ५

भव्यजनो ! सोओ मत ! "जग्गियव्वे"—यह जागने का समय है, तुम्हे अब जाग जाना चाहिए। "पलाइयव्वम्मि कीस वीसमेह"—यह तो पलायन का—द्रुत गति से दौड़ने का समय है, तुम विश्राम लिए कैसे बैठे हो ?

कारण स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते है—तुम्हारे पीछे तीन शत्रु लगे है—रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु। ये तीनों तुम्हारा पीछा किये आ रहे है।

ज्ञानियो की चेतावनी सही है। प्राणी मात्र इन तीन शत्रुओं से आक्रान्त है।

रोग ऐसा शत्रु है, जिसका कोई समय नही है। जन्मते बच्चे को भी रोग घेर लेता है, नौजवान पर भी वह आक्रमण कर सकता है और बुढ़ापा तो रोगों का घर है ही। ठीक ही कहा है—"शरीरं व्याधि-मन्दिरम्"। न जाने कब कौन रोग उभर आए। बड़े अनुभव-निष्णात स्थविर मन्त्री मुनिश्री मगनलाल जी फरमाया करते थे कि "रोग राजा को भी चन्द क्षणो में रंक बना देता है, रुला देता है।" भगवान महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए फरमाया—

रोग तुम्हारे शरीर का स्पर्श करते हैं, शरीर पर घात करते हैं। उनसे शरीर को गिरते, विध्वस्त होते, मिटते देर नहीं लगती। इसलिए गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत करो।

वर्तमान युग में चिकित्सा सम्बन्धी अनेक वैज्ञानिक उपकरण उपलब्ध हैं। ऐसे-ऐसे उपकरण निकल गए हैं, जो शरीर के भीतर की मशीनरी की सूक्ष्मतम जानकारी देते हैं। प्रतिदिन नये अनुसंधान हो रहे हैं, विविध प्रकार की औषधियों, इंजेक्शन, टेबलेट्स आदि का आविष्कार, निर्माण हो रहा है, फिर भी अनेक ऐसे रोग हैं, जो आज भी असाध्य माने जाते हैं। कैन्सर जैसी बीमारी से ग्रस्त लाखों लोग मृत्यु के ग्रास बन रहे हैं। एक प्राचीन उक्ति है कि मनुष्य के शरीर पर साढ़े तीन करोड़ रोम हैं और प्रत्येक रोम पर पौने दो-पौने दो रोग विद्यमान हैं। पता नहीं, कब कौन सा रोग प्रबल हो उठे और आदमी को आहत-पराभूत कर दे। बड़े-बड़े अनुभवी चिकित्सक भी वहाँ चक्कर में पड़ जाते हैं, क्या रोग है पकड़ में नहीं आ पाता। इसलिए रोग निःसन्देह मनुष्य का बहुत बड़ा शत्रु है, जो हर समय उसके पीछे लगा रहता है।

दूसरा शत्रु है—जरा—बुढ़ापा ! यह एक ऐसी अनिवार्य स्थिति है, जो व्यक्ति को धीरे-धीरे आक्रान्त करती जाती है। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है, जरा समीप आती जाती है। भगवान् महावीर गौतम को सम्बोधित कर कहते हैं—

> परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते।
> से सव्व-बले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥
>
> —उत्तरा० १०/२६

गौतम ! तुम्हारा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, काले बाल सफेद होने लगे हैं, इन्द्रियाँ अशक्त हो रही हैं, बल क्षीण हो रहा है। तुम समय मात्र भी प्रमाद मत करो।

रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि केशवदास बुढ़ापे को लक्षित कर एक बड़ी फवती कसते हैं—

> केसव केसनि अस करी, जस अरिहू न कराय।
> चन्द्रमुखी मृगलोचनी, बाबा कहि-कहि जायँ ॥

वास्तव में वृद्धावस्था बड़ी दुःखद एवं अपमानजनक है। वृद्ध सन्त राजस्थानी भापा का एक गीत सुनाया करते थे—

११.

करुणा कर सन्त मधुरी तान सुणाई

वैराग्य शतक में लिखा है—

> मा सुयह ! जग्गियव्वे, पलाइयव्वम्मि कीस वीसमेह ।
> तिण्णि जणा अणुलग्गा, रोगो य जरा य मच्चू य ॥
>
> —वै० श० ५

भव्यजनो ! सोओ मत ! "जग्गियव्वे"—यह जागने का समय है, तुम्हें अब जाग जाना चाहिए। "पलाइयव्वम्मि कीस वीसमेह"—यह तो पलायन का—द्रुत गति से दौड़ने का समय है, तुम विश्राम लिए कैसे बैठे हो ?

कारण स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं—तुम्हारे पीछे तीन जन लगे हैं—रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु। ये तीनों तुम्हारा पीछा किये आ रहे हैं।

ज्ञानियों की चेतावनी सही है। प्राणी मात्र इन तीन शत्रुओं से आक्रान्त है।

रोग ऐसा शत्रु है, जिसका कोई समय नहीं है। जन्मते बच्चे को भी रोग घेर लेता है, नौजवान पर भी वह आक्रमण कर सकता है और बुढ़ापा तो रोगों का घर है ही। ठीक ही कहा है—"शरीरं व्याधि-मन्दिरम्"। न जाने कब कौन रोग उभर आए। बड़े अनुभव-निष्णात स्वर्गीय मन्त्री मुनिश्री मगनलाल जी फरमाया करते थे कि "रोग राजा को भी चन्द क्षणों में रंक बना देता है, रुला देता है।" भगवान् महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए फरमाया—

रोग तुम्हारे शरीर [illegible] शरीर [illegible] । इनसे शरीर को गिरने, [illegible] देर नहीं लगती । इसलिए गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत करो ।

वर्तमान युग में चिकित्सा [illegible] उपकरण उपलब्ध हैं । ऐसे-ऐसे आधुनिक [illegible] की सूक्ष्मतम जानकारी [illegible] अनुसन्धान हो रहे हैं, विविध प्रकार की औषधियों, इंजेक्शन, टेबलेट्स आदि का आविष्कार, निर्माण हो रहा है, फिर भी अनेक ऐसे रोग हैं जो आज भी असाध्य माने जाते हैं । कैन्सर जैसी बीमारी से ग्रस्त लाखों लोग मृत्यु के ग्रास बन रहे हैं । एक प्राचीन उक्ति है कि मनुष्य के शरीर पर साढ़े तीन करोड़ रोम हैं और प्रत्येक रोम पर पौने दो-पौने दो रोग विद्यमान हैं । पता नहीं, कब कौन सा रोग प्रबल हो उठे और आदमी को आहत-पराभूत कर दे । बड़े-बड़े अनुभवी चिकित्सक भी वहाँ चक्कर में पड़ जाते हैं, कि क्या रोग है पकड़ में नहीं आ पाता । इसलिए रोग निःसन्देह मनुष्य का बहुत बड़ा शत्रु है, जो हर समय उसके पीछे लगा रहता है ।

दूसरा शत्रु है—जरा—बुढ़ापा ! यह एक ऐसी अनिवार्य स्थिति है, जो व्यक्ति को धीरे-धीरे आक्रान्त करती जाती है । ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है, जरा समीप आती जाती है । भगवान् महावीर गौतम को सम्बोधित कर कहते हैं—

> परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते ।
> से सव्व-बले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए ॥
>
> —उत्तरा० १०/२६

गौतम ! तुम्हारा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, काले बाल सफेद होने लगे हैं, इन्द्रियाँ अशक्त हो रही हैं, बल क्षीण हो रहा है । तुम समय मात्र भी प्रमाद मत करो ।

रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि केशवदास बुढ़ापे को लक्षित कर एक बड़ी फबती कसते हैं—

> केसव केसनि अस करी, जस अरिहू न कराय ।
> चन्द्रमुखी मृगलोचनी, बाबा कहि-कहि जायँ ॥

वास्तव में वृद्धावस्था बड़ी दुःखद एवं अपमानजनक है । वृद्ध सन्त राजस्थानी भाषा का एक गीत सुनाया करते थे—

११.

करुणा कर सन्त मधुरी तान सुनाई

वैराग्य शतक में लिखा है—

> मा सुयह ! जग्गियव्वे, पलाइयव्वम्मि कीस वीसमेह ।
> तिण्णि जणा अणुलग्गा, रोगो य जरा य मच्चू य ॥
>
> —वै० श० ५

भव्यजनो ! सोओ मत ! "जग्गियव्वे"—यह जागने का समय है, तुम्हें अब जाग जाना चाहिए। "पलाइयव्वम्मि कीस वीसमेह"—यह तो पलायन का—द्रुत गति से दौड़ने का समय है, तुम विश्राम लिए कैसे बैठे हो ?

कारण स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं—तुम्हारे पीछे तीन शत्रु लगे हैं—रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु। ये तीनों तुम्हारा पीछा किये आ रहे हैं।

ज्ञानियों की चेतावनी सही है। प्राणी मात्र इन तीन शत्रुओं से आक्रान्त है।

रोग ऐसा शत्रु है, जिसका कोई समय नहीं है। जन्मते बच्चे को भी रोग घेर लेता है, नौजवान पर भी वह आक्रमण कर सकता है और बुढ़ापा तो रोगों का घर है ही। ठीक ही कहा है—"शरीरं व्याधि-मन्दिरम्"। न जाने कब कौन रोग उभर आए। बड़े अनुभव-निष्णात स्थविर मन्त्री मुनिश्री मगनलाल जी फरमाया करते थे कि "रोग राजा को भी चन्द क्षणों में रंक बना देता है, रुला देता है।" भगवान महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए फरमाया—

रोग तुम्हारे शरीर का स्पर्श करते है, शरीर पर घेरा डाले है। उनसे शरीर को गिरते, विध्वस्त होते, मिटते देर नही लगती। इसलिए गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत करो।

वर्तमान युग में चिकित्सा सम्वन्धी अति श्रेष्ठ वैज्ञानिक उपकरण उपलब्ध है। ऐसे-ऐसे डॉक्टर विद्यमान है, जो शरीर के भीतर की मशीनरी की सूक्ष्मतम जानकारी रखते है। प्रतिदिन नये अनुसधान हो रहे है, विविध प्रकार की औषधियों, इन्जेक्शन्स, टेवलेट्स आदि का आविष्कार, निर्माण हो रहा है, फिर भी अनेक ऐसे रोग है, जो आज भी असाध्य माने जाते है। कैन्सर जैसी वीमारी से ग्रस्त लाखो लोग मृत्यु के ग्रास बन रहे है। एक प्राचीन उक्ति है कि मनुष्य के शरीर पर साढे तीन करोड रोम है और प्रत्येक रोम पर पौने दो-पौने दो रोग विद्यमान है। पता नही, कब कौन सा रोग प्रवल हो उठे और आदमी को आहत-पराभूत कर दे। वड़े-वड़े अनुभवी चिकित्सक भी वहाँ चक्कर में पड जाते है, ? क्या रोग है पकड में नही आ पाता। इसलिए रोग नि सन्देह मनुष्य का बहुत बडा शत्रु है, जो हर समय उसके पीछे लगा रहता है।

दूसरा शत्रु है—जरा—बुढापा ! यह एक ऐसी अनिवार्य स्थिति है, जो व्यक्ति को धीरे-धीरे आक्रान्त करती जाती है। ज्यो-ज्यो आयु वढती है, जरा समीप आती जाती है। भगवान् महावीर गौतम को सम्बोधित कर कहते है—

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते।
से सव्व-बले य हायई, समयं गोयम ! मा पमायए॥

—उत्तरा० १०/२६

गौतम ! तुम्हारा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, काले वाल सफेद होने लगे है, इन्द्रियाँ अशक्त हो रही है, बल क्षीण हो रहा है। तुम समय मात्र भी प्रमाद मत करो।

रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि केशवदास बुढापे को लक्षित कर एक बडी फब्ती कसते है—

केसव केसनि अस करी, जस अरिहू न कराय।
चन्द्रमुखी मृगलोचनी, बाबा कहि-कहि जायँ॥

वास्तव में वृद्धावस्था वडी दु खद एव अपमानजनक है। वृद्ध सन्त राजस्थानी भाषा का एक गीत सुनाया करते थे—

११.

करुणा कर सन्त मधुरी तान सुनाई

वैराग्य शतक में लिखा है—

मा सुयह ! जग्गियव्वे, पलाइयव्वम्मि कीस वीसमेह ।
तिण्णि जणा अणुलग्गा, रोगो य जरा य मच्चू य ।।
—वै० श० ५

भव्यजनो ! सोओ मत ! "जग्गियव्वे"—यह जागने का समय है, तुम्हे अब जाग जाना चाहिए । "पलाइयव्वम्मि कीस वीसमेह"—यह तो पलायन का—द्रुत गति से दौड़ने का समय है, तुम विश्राम लिए कैसे बैठे हो ?

कारण स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते है—तुम्हारे पीछे तीन शत्रु लगे है—रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु । ये तीनों तुम्हारा पीछा किये आ रहे हैं ।

ज्ञानियों की चेतावनी सही हैं । प्राणी मात्र इन तीन शत्रुओं से आक्रान्त है ।

रोग ऐसा शत्रु है, जिसका कोई समय नहीं है । जन्मते बच्चे को भी रोग घेर लेता है, नौजवान पर भी वह आक्रमण कर सकता है और बुढापा तो रोगों का घर है ही । ठीक ही कहा है—"शरीरं व्याधि-मन्दिरम्" । न जाने कब कौन रोग उभर आए । बड़े अनुभव-निष्णात स्थविर मन्त्री मुनिश्री मगनलाल जी फरमाया करते थे कि "रोग राजा को भी चन्द क्षणों में रंक बना देता है, रुला देता है ।" भगवान् महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए फरमाया—

अरई गण्ड विसूइया, आयंका विविहा फुसंति ते ।
विवडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम ! मा पमायए ।।
—उत्तरा० १०/२७

अरति-व्याकुलता, बेचैनी, फोड़े, विसूचिका—हैजा आदि विविध

रोग तुम्हारे शरीर का स्पर्श करते है, शरीर पर घेरा डाले है। उनसे शरीर को गिरते, विध्वस्त होते, मिटते देर नही लगती। इसलिए गौतम! समय मात्र भी प्रमाद मत करो।

वर्तमान युग में चिकित्सा सम्बन्धी अति श्रेष्ठ वैज्ञानिक उपकरण उपलब्ध है। ऐसे-ऐसे डॉक्टर विद्यमान है, जो शरीर के भीतर की मशीनरी की सूक्ष्मतम जानकारी रखते है। प्रतिदिन नये अनुसधान हो रहे है, विविध प्रकार की औषधियों, इन्जेक्शन्स, टेवलेट्स आदि का आविष्कार, निर्माण हो रहा है, फिर भी अनेक ऐसे रोग है, जो आज भी असाध्य माने जाते है। कैन्सर जैसी वीमारी से ग्रस्त लाखो लोग मृत्यु के ग्रास वन रहे है। एक प्राचीन उक्ति है कि मनुष्य के शरीर पर साढे तीन करोड़ रोम हैं और प्रत्येक रोम पर पौने दो-पौने दो रोग विद्यमान है। पता नही, कव कौन सा रोग प्रबल हो उठे और आदमी को आहत-पराभूत कर दे। वड़े-बड़े अनुभवी चिकित्सक भी वहाँ चक्कर में पड जाते है, ? क्या रोग है पकड़ में नही आ पाता। इसलिए रोग नि सन्देह मनुष्य का वहुत वडा शत्रु है, जो हर समय उसके पीछे लगा रहता है।

दूसरा शत्रु है—जरा—बुढापा! यह एक ऐसी अनिवार्य स्थिति है, जो व्यक्ति को धीरे-धीरे आक्रान्त करती जाती है। ज्यो-ज्यो आयु वढती है, जरा समीप आती जाती है। भगवान् महावीर गौतम को सम्वोधित कर कहते है—

परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पंडुरया हवंति ते।
से सव्व-बले य हायई, समयं गोयम! मा पमायए॥

—उत्तरा० १०/२६

गौतम! तुम्हारा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, काले वाल सफेद होने लगे है, इन्द्रियाँ अशक्त हो रही है, वल क्षीण हो रहा है। तुम समय मात्र भी प्रमाद मत करो।

रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि केशवदास वुढापे को लक्षित कर एक चुटीली फबती कसते है—

केसव केसनि अस करी, जस अरिहू न कराय।
चन्द्रमुखी मृगलोचनी, वावा कहि-कहि जायँ॥

वास्तव में वृद्धावस्था वडी दु खद एव अपमानजनक है। वृद्ध सन्त राजस्थानी भाषा का एक गीत सुनाया करते थे—

कुण थांनै बुढ़ापा तेड़ियो जी, कुण रे जोई थांरी वाट।
थां आयां अवगुण घणां रे भाई, जैसी माकड़ियां री खाट।
बुढ़ापो आवियो जीवां! बांधो धरम री पाल ॥ध्रु०॥
दूढां ने भावै खीचड़ी जी, घी रे सुगन्धो वास।
बहुआं घालै घाटड़ी जी, सांहे खाटी छाछ।
बुढ़ापो आवियो जीवां! बांधो धरम री पाल॥

बुढ़ापो आयां थकां जी, हुई अचुम्भै वात।
बहुआं छोड्या घूंघटा जी, बेटा लोपवियो तात॥
बुढ़ापो आवियो जीवां! बांधो धरम री पाल॥

इस विषय पर एक बहुत सुन्दर छप्पय है—

पुरुष भवे प्रायीक बरस चालीसां मीठो
कड़वो होय पचास, साठ तिहां क्रोध पइट्ठो।
सत्तरां सगो न कोय, असीआं आस न कोई,
नांह नव्वे में होय, हंसे तिहां लोग लुगाई।
सौ हुओ-सौ हुओ सबको कहै, सब तन हो गयो जोजरो।
घर की पतिव्रता यूं कहै, ओ मरै तो सुधरै डोकरो॥

—भाषा श्लोक सागर

तीसरा शत्रु तो और भी भयंकर है, वह कराल काल है। वह तो प्रतिक्षण मनुष्य के साथ घूम रहा है। उसका आक्रमण निश्चित है। कहा गया है—

छाया-मिसेण कालो, सयल-जीयाणं छल गवेसन्तो।
पासं कहवि न मुंचइ, ता धम्मे उज्जमं कुणह॥

—वै० श० ६

छाया के मिष से काल सभी जीवों के छिद्र देख रहा है। उन पर आक्रमण करने का मौका ताक रहा है। एक क्षण के लिए भी कभी पीछा नही छोडता। ज्ञानी कहते है, इसलिए तुम धर्म में उद्यम करो।

ऐसे भीषण तीन शत्रु जिसके पीछे लगे हों, अनवरत अनुगमन कर रहे हों, वह सुख की नीद कैसे सो सकता है? अतः कहा गया—जागो! इसी भावना को लेकर हमने एक गीत लिखा है—

करुणा कर सन्त मधुरी तान सुनाई
सोहणी आ अमृत वेला आई, प्यारा भवियां! जागो अब जागो।

जागण री बेला आलस त्यागो, प्यारा भवियां ! जागो अब जागो !
जागो जीवण रैं पथ पर लागो ·· · ···· · ·· ······ ॥

करुणा के सागर सन्त-भगवन्तों ने बडी मीठी तान सुनाकर सोये हुए लोगों को जगाने का प्रयास किया है।

प्राचीन काल मे राजाओं को जगाने के लिए कुछ वन्दीजन—मगल-पाठक नियुक्त किये जाते थे, जो प्रातः भैरवी, प्रभाती आदि रागों में मगल-गीत गाया करते थे। सीधी आवाज देकर जगाना असभ्यता-सूचक माना जाता है अतः कुछ ऐसे लयपूर्ण शब्द सुनाए जाएँ कि सोने वाला उनसे स्वत. जागृति की प्रेरणा पा जाए। इसी भाँति सन्त पुरुष भी वड़े मीठे स्वरों में सम्बोधित करते है कि भव्यात्माओ ! जागो, जागो ! यह जागरण की वेला है। इसलिए प्रमाद एव आलस्य को त्यागकर उठो ! जीवन-पथ पर आगे बढने का यही स्वर्णिम अवसर है। सोए-सोए आगे नही बढा जा सकता, इसलिए जागो। यह प्रात कालीन वेला अमृत-वेला कहलाती है। यह वडी सुहावनी है, अमृतपान करने की घड़ी है। एक पंजाबी भजन में कहा गया है—

मीठी लगदी गुरां दी बाणी, कि
बेले अमृत दे, मीठी लगदी ॥

वैदिक सस्कृति में इस समय को ब्राह्म-मुहूर्त कहा गया है। सूर्योदय से एक मुहूर्त— ४८ मिनट पहले का समय ब्राह्म-मुहूर्त कहलाता है। जैन मुनियों के लिए यह आवश्यक प्रतिक्रमण हेतु सुनिश्चित समय स्वीकृत किया गया है। अत ध्यान रहे, कही यह अमृत-वेला नीद में ही न बीत जाय। प्यारे वन्धुओ ! जागो ! जागो ! कुछ तो ध्यान दो !

उभरी है लाली, दिन है ऊगण वालो
देखो पंखीड़ा छोड्यो मालो, प्यारा भवियां ! जागो अब जागो ॥

प्राची दिशा में उषा फूट चुकी है, लालिमा विखर रही है। सूर्योदय के आसार प्रकट हो रहे है. चिड़ियो ने चहचहाना शुरू कर दिया है। वे अपने घोसले छोड़कर चुग्गे-पानी की तलाश मे जाने हेतु उद्यत हो रही है। एक सस्कृत-कवि ने उषाकाल का वड़ा मार्मिक चित्रण किया है। वह श्लोक पूज्य गुरुदेव कालूगणी "रामचरित" सुनाते समय प्रयुक्त किया करते थे। जिस समय वीर हनुमान को लंकासुन्दरी जगाती है, उस स्थान पर गुरुदेव यह पद्य फरमाते थे—

अभूत् पिंगा प्राची रसपतिमिवप्राप्य कनकं,
गतच्छायश्चन्द्रो बुधजन इव ग्राम्यसदसि ।
न दीपा राजन्ते द्रविण-रहितामिव गुणाः,
क्षणात् क्षीणास्तारा, नृपतयइवानुद्यमपराः ॥

जैसे रसपति पारद को पाकर स्वर्ण पीला पड़ जाता है, उसी प्रकार प्राची—पूर्व दिशा पीली पड़ गई है। जिस प्रकार ग्रामीण लोगों के बीच विद्वान हतप्रभ-सा वन जाता है, उसी प्रकार चन्द्रमा अपनी प्रभा खो चुका है। दीप निर्धनों के गुणों की ज्यों शोभित नहीं होते। तारे सर्वथा क्षीण हो गए हैं, जैसे निरुद्यमी राजा सभी तरह से क्षीण होते जाते है।

साठ घड़ियां री लेकर भेंट भानूड़ो,
आयो जगावण जग ने रूड़ो, प्यारा भवियां ! जागो अब जागो ॥

सोनै रो सूरज ओ है जो कुछ कर लेवो,
सुस्तीवश विधि नै दोष न देवो, प्यारा भवियां ! जागो अब जागो ॥

जागृति-प्रदायक गुरु फिर उद्‌बोधन देते है, कहते है—देखो, साठ घड़ियों की अनुपम भेंट लेकर सूर्य जगत् को जगाने के लिए उदित हुआ है। सूर्य का उदय जागरण का प्रतीक है। सूर्य उगते ही कमल खिल उठते है। सारा वनस्पति जगत् उल्लसित हो जाता है। आज के सूर्योदय से कल के सूर्योदय के पूर्व तक प्रत्येक व्यक्ति को चौवीस घण्टे—साठ घड़ियों का समय मिलता है। सभी के लिए यह एक ऐसा सुअवसर है, जो भी कुछ करना चाहते है, जो कुछ साधना चाहते है, साध सकते है। चौवीस मिनट की एक घडी होती है। तदनुसार रात-दिन की साठ घड़ियाँ होती है। एक अहोरात्रि में यह समय कोई कम नही होता। इस समय का सदुपयोग करने वाला कवि, लेखक, वक्ता, ज्ञानी, ध्यानी, साधक आदि वन सकता है। कभी-कभी मैं चौवीस घण्टों के समय को लेकर श्रोताओं के समक्ष एक गणित प्रस्तुत किया करता हूँ। चिन्तन यह है कि यदि समय का सुन्दर उपयोग किया जाय तो हर एक व्यक्ति साधना के लिए दो-तीन घण्टे का समय सरलता से निकाल सकता है। जैसे एक सामान्य गृहस्थ को अर्थ-पूर्ति या धनार्जन हेतु व्यापार या नौकरी आदि के लिए आठ घण्टे का समय अनिवार्य रूप से चाहिए। चौवीस घण्टों में से आठ घण्टे व्यापार या नौकरी के लिए निकाल देने पर शेष सोलह घण्टे बचते हैं। इसके बाद सात घण्टे का समय आप नींद के लिए निकाल लीजिए। एक सामान्य स्वस्थ व्यक्ति के लिए सात घण्टे की नींद पर्याप्त होती है। नींद के सात घण्टे कम

कर देने से नौ घण्टों का समय शेष बच जाता है। प्रात साय भोजन के लिए एक-एक घण्टा और निकाल दें तो सात घण्टो का समय बचता है। किसी को दिन में भोजनोपरान्त विश्राम की आवश्यकता पड़ती हो तो एक घण्टे का समय उसके लिए निकाला जा सकता है। शेष छह घण्टे बचे। यदि उसमें से एक घंटा प्रात' भ्रमण एवं एक घंटा मनोरंजन के लिए निकाल दें तो चार घंटा का समय फिर बच जाता है।

तात्पर्य यह है कि सारे कार्यो का विधिवत् निर्वाह करते हुए चौवीस घंटों में से कुछ समय आत्म-साधना के लिए निकाला जा सकता है। लेकिन जैसा ऊपर कहा गया, आलस्य का त्याग वहुत आवश्यक है। संस्कृत में एक सुभाषित आता है—

आलस्यं हि मनुष्याणां, शरीरस्थो महारिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यत्कृत्वा नावसीदति ॥

—भर्तृहरि नीतिशतक ८७

आलस्य मनुष्यों का यह महाशत्रु है, जो उनके शरीर में रहता है। और शत्रु तो बाहर रहकर घात लगाते है, पर यह भीतर रहता हुआ मार करता है। उद्यम के समान दूसरा कोई बन्धु-सखा नही है, स्वजन नही है। उद्यमरत व्यक्ति कभी अवसाद ग्रस्त नही बनता—खिन्न नही होता। कहा है—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं विहाय कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्नेकृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः ॥

—पचतन्त्र २/१३८

उद्योगी पुरुष सिह के सदृश है। उसे लक्ष्मी प्राप्त होती है। "भाग्य ही देता है" ऐसा कायरों—आलसी पुरुषों का वचन है। सुस्त लोग ही ऐसा सोचते हैं कि भाग्य में जो लिखा है, वह हो जाएगा। हमे करने की क्या आवश्यकता है? नीति कहती है, "दैवं विहाय" भाग्य की चिन्ता छोडकर तुम आत्म-शक्ति के सहारे पुरुषार्थ करो। पुरुषार्थ करने पर भी यदि कार्य सिद्ध न हो तो तुम्हारा कोई दोष नही है। तुमने तो उद्यम किया ही, अब उसका सफल होना न होना प्रकृति के अन्यान्य हेतुओं पर निर्भर है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को पुरुषार्थ नहीं छोड़ना चाहिए। क्योंकि आज का पुरुषार्थ ही कल का भाग्य बनता है। आज का

वोया हुआ वीज ही तो कल अंकुरित होगा। इसलिए उद्यम-विमुख होना कदापि उचित नहीं है।

सन्त कहते हैं—यह सूर्य स्वर्णिम है। व्यवहार में मगल-प्रसगों के अवसर पर लोग कहते हैं—आज सोने का सूरज उगा है अर्थात् आज का दिन हमारे लिए विशेष हर्ष का दिन है। वास्तव में प्रतिदिन का सूर्य स्वर्णिम ही होता है, यदि कुछ किया जाय। आलस्य के वशीभूत होकर विधि को कोसने वालों को, भाग्य पर दोषारोपण करने वालों को कुछ भी प्राप्त नही होता। आलसी मनुष्य जीवन-क्षेत्र में कभी आगे नही बढ़ पाता। वह तो जहाँ जाता है, दारिद्र्य उसका पीछा करता रहता है। एक चुटकला आता है।

एक दरिद्र व्यक्ति ने दारिद्र्य से हैरान होकर एक दिन प्रार्थना की—

रे दारिद्र्य सुलक्षणा ! इक मुझ दात सुणेह।
हम परदेसां संचरॉ, तुम घर सार करेह ॥

भाई दारिद्र्य ! हम कही परदेश-पर्यटन के लिए जाना चाहते हैं। घर की सार-सम्हाल के लिए तुम यहीं रहो। हम घूमेंगे-फिरेंगे, तुम पीछे घर की रखवाली करते रहना। तुरन्त दारिद्र्य ने कहा—

संचरवो सयणा तणो, लारै रहै अयाण।
तुम परदेशां संचरो, हम भी आगेवाण ॥

तुम मेरे परम स्वजन हो, साथी हो। तुम कही परदेश में घूमो और मैं यही रहूँ, यह मेरी बेवकूफी होगी। स्वजन को छोडकर कोई अज्ञानी ही पीछे रह सकता है। यदि तुम परदेश जाओगे तो मैं तुम्हारे आगे-आगे चलूंगा। जहां तुम पहुँचोगे, मैं तुमसे पहले वहाँ पहुँचूगा।

यह सुनकर उस दरिद्र व्यक्ति ने कहा—फिर मैं परदेश जाने का कष्ट ही क्यों करूँ ? तुमसे पीछा छुड़ाने के लिए तो मैं परदेश जा रहा हूँ। तुम्हारे ही साथ रहना है तो फिर यही ठीक हूँ।

तात्पर्य यह है कि दारिद्र्य अनुद्यमियों का साथ कभी नही छोड़ता। उद्यमशील व्यक्ति ही जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगतिशील बनते हैं।

थांरा साथी तो आगै बढ़्या है केई,
जीवन शिखरां पर चढ़्या केई, प्यारा भवियां,
जागो अब जागो ॥

फिर कहा गया कि कुछ ध्यान दो, तुम्हारे बचपन के साथी कहाँ-कहाँ कितने-कितने आगे बढ गए है। किस प्रकार जीवन के उच्चातिउच्च शिखरों पर आरूढ हो गए है। कुछ व्यक्ति कहते है, अमुक व्यक्ति हमारा बचपन का साथी था, हम साथ-साथ पढते-खेलते थे, अब वह करोडपति बन गया है या प्रकाण्ड विद्वान बन गया है या प्रख्यात नेता बन गया है या विश्वविख्यात साहसिक बन गया है। यह क्या है ? जब तुम्हारे साथी इतने आगे बढ गए, तुम क्यों नही बढ पाते ? क्या तुम्हे कोई अवसर नही मिला, गोल्डन चास नही मिला ? नही, अवसर प्रत्येक व्यक्ति को मिलते है। उनका उपयोग लेने की क्षमता होनी चाहिए। अवसर का लाभ उठाने की कला आनी चाहिए अवसर के साथ कदम बढाने की शक्ति स्वय में होनी चाहिए। महाकवि माघ लिखते है—

सम्पदा सुस्थिरमन्यो, भवति स्वल्पाऽपि य· ।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये, न वर्धयति तस्य ताम् ॥

जो व्यक्ति थोडी सी सम्पत्ति प्राप्तकर अपने को सुस्थिर मानने लगते है—बस, हमे तो बहुत मिल गया और क्या चाहिए ? हम तो "राजा-भोज" है—इस प्रकार छोटी सी सम्पदा पाकर जो सन्तुष्ट हो जाता है, महाकवि कहते है, उसका भाग्य भी कृतकृत्य हो जाता है। इसके बाद उस सम्पदा के बढने का कोई अवकाश ही नही रहता, उसकी वृद्धि नही हो पाती, क्योकि उस दिशा में अग्रसर होने का उसका उत्साह कुठित हो जाता है। एक कवि लिखता है—

नाल्पीयसि निबध्नन्ति, पदमुन्नतचेतसः ।
तेषां भुवनलाभेऽपि, निस्सीमानो मनोरथाः ॥

उन्नतचित्तयुक्त उद्यमी व्यक्ति अत्यन्त अल्प वस्तु पर अपना ध्यान केन्द्रित नही करते। तुच्छ वस्तु को अपना लक्ष्य नही बनाते। ससार का सम्पूर्ण वैभव मिलने पर भी उनके मनोरथ असीम बने रहते है। अर्थात् जिस किसी क्षेत्र में आगे बढने का अवसर होता है, वहाँ वे अपने को सीमित नही बनाते, आगे ही आगे बढते जाते है। एक उर्दू शायर का कहना है—

जहाँ में जहाँ तक जगह पाइये,
इमारत बनाते चले जाइये ॥

उद्यमी पुरुषों का चित्त हर क्षेत्र मे आगे बढने को तत्पर बना रहता है।

पहलो इक कदम उठ्यो तो उठता ही जासी,
स्वागत स्यूं मंजिल साहमी आसी, प्यारा भवियां ॥
मनसूबै स्यूं तो कांई होणो न जाणो,
मूंछ मखणिये रो ओखाणो, प्यारा भवियां, जागो अब जागो ॥

यदि किसी कार्य को सम्पन्न करने हेतु आपका एक चरण उठ गया तो दूसरा चरण उठने के लिए स्वतः तत्पर हो जाएगा। फिर तो दोनों में मानो स्पर्धा हो जायेगी—एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद पहला। यह होड़ आपको निरन्तर आगे बढ़ाती जाएगी और परिणाम यह होगा कि मंजिल सामने आ जाएगी। आपका स्वागत करेगी।

भगवती सूत्र में प्रसंग है, स्कन्दक संन्यासी भगवान महावीर के पास कुछ जिज्ञासा लेकर आता है। भगवान् महावीर के परम अन्तेवासी इन्द्र-भूति गौतम स्कन्दक की अगवानी के लिए सामने जाते है। वहाँ स्वागत के लिए वे तीन शब्दों का प्रयोग करते हैं—"**सागयं खंदया, सुसागयं खंदया, अनुआगयं खंदया।**"

स्कन्दक ! तुम्हारा स्वागत है, सुस्वागत है, अन्वागत है। तुम्हारा आना बहुत शुभ हुआ है। इसी भाँति उद्यमशील व्यक्ति का मंजिल सुस्वा-गत करती है, पर वस्तुत. जिनके चरण बढते है, उनका स्वागत होता है। जो केवल घर बैठे मंसूबे बाँधते रहते हैं. उनका न स्वागत होता है, न अन्वागत होता है। घर बैठे घड़े लगाना, आकाशी उड़ानें भरना, कल्पना के किले बनाना अज्ञानियों का काम है। प्राचीन ग्रन्थों की टीकाओं में एक मूंछ-मखनिए का उदाहरण मिलता है। वह इस प्रकार है—

एक बड़ा सेठ था। उसके पास धन-सम्पत्ति तो बहुत थी पर वह बडी कृपण-वृत्ति का था। आखिर "दानं भोगो नाश." उक्ति के अनुसार उस पर तीसरी बात चरितार्थ हुई। सारी सम्पत्ति नष्ट हो गई। जो कुछ पास में था, सब चला गया। घर-बार, हवेली, मकान. दूकान सब बिक गए। सारे पारिवारिक जन भी उसे छोड़ गए। वह शहर से बाहर एक छोटी-सी घास-फूस की झोपडी बनाकर रहने लगा। स्थिति बहुत दयनीय हो गई।

एक दिन वह अहीरों की बस्ती में से गुजर रहा था। यह जाति गो-पालन का, दूध बेचने का धन्धा करती है। सेठ को प्यास लगी। उसने एक अहीर से पानी माँगा। अहीर ने पानी न पिलाकर उसे एक लोटा छाछ पीने को दी। अच्छा जमाना था। छाछ काफी गाढी थी। मक्खन का कुछ अंश भी उसमें विद्यमान था। सेठ की मूछे बड़ी-बड़ी थी। छाछ पीकर

जब उसने मूछों पर हाथ फेरा तो कुछ मक्खन के अंश उसके हाथ मे लग गए। कृपण ने सोचा—अब तो यही धन्धा करना चाहिए। क्यो नही मक्खन का सग्रह शुरू कर दू ? रोजाना दो-चार घरो मे जाकर छाछ पीऊँगा और मूछों पर जो मक्खन लगेगा, उसे एकत्र किये जाऊँगा। बस, उसी दिन से वह इस काम मे लग गया। सुबह से शाम तक जहाँ-तहाँ छाछ पी लेता और मूछों वाला मक्खन उतार-उतार कर इकट्ठा किये जाता। लोगो ने इसका नाम मूछ-मखनिया निकाल दिया। यो सचित करते-करते इसके पास एक सेर मक्खन हो गया। कहावत है—"बूँद-बूँद से घट भरे"। उसने वह मक्खन एक हाँडी मे डालकर छीके मे लटका दिया। गर्मियो के दिन थे, मध्याह्न का समय था। कृपण पुरानी-टूटी खाट पर लेटा आराम कर रहा था। छीके पर लटकी मक्खन की हाँडी उसके पैरों से थोडी ही दूर थी। सेठ को नीद नही आ रही थी। वह सोया-सोया कल्पना-लोक मे विचरण करने लगा। मन ही मन कहने लगा कि अब तो मेरा मक्खन बढने लगा है। यह तो पूरा गाँव जानता है कि मूछ-मखनिये का मक्खन बिलकुल असली है, इसलिए जब यह एक सेर मक्खन बेचूगा तो मुझे सवाया मूल्य प्राप्त होगा। प्राप्त रकम से मै सस्ता मक्खन ले आऊँगा और मूछ-मखनिये के मार्के से फिर ऊँचे दामो मे बेच दूँगा। ऐसा करते-करते मेरा घी वाला काम जोर से चल निकलेगा। काफी रुपये हाथ में आ जाएँगे तो दस-बीस गउएँ और पाँच-सात भैंसे ले आऊँगा। फिर एक डेयरी फार्म खोल लूगा। "मूछ-मखनिया" मार्का देश-विदेशो मे प्रसिद्ध हो जाएगा। मेरे पास घी के भारी-भारी आर्डर आने लगेगे।

जब घी का काम खूब जोर से चलने लगेगा, तब मैं जमीन की खरीद शुरू कर दूँगा। सस्ते भाव जमीन खरीदकर ऊँचे भावो में वापस बेचूगा। इस प्रकार मेरे पास लाखो रुपये हो जाएँगे। फिर तो मैं कई गाँव खरीद लूँगा। दस-बीस गाँवो का जागीरदार बन जाऊँगा। फिर कुछ सैन्य बल सगृहीत कर, सुदृढ कर बड़े राज्य—रियासते जीत लूँगा और बडा राजा बन जाऊँगा। तदनन्तर सारे भारतवर्ष के राजाओं को विजित कर चक्रवर्ती सम्राट पद पर प्रतिष्ठित हूँगा। मेरे चौसठ भौमिक महल होगे। श्रीदेवी मेरी महारानी होगी। मै जब रात को सोऊँगा तो दिव्य रूपवती, लावण्यमयी श्रीदेवी मेरे पास आएगी। एक [illegible] देवी द्वारा सेवित वह देवी मेरी सेवा करना चाहेगी, कहेगी—नाथ! मैं [illegible] पाँव दबा देती हूँ। मेरे इन्कार करते हुए भी जब वह मेरी [illegible]

करेगी तो मैं कुछ कृत्रिम क्रोध दिखलाकर कहूँगा—बेसमझ कहीं की! अभी तक पाँव दवाना भी नही जानती ? यों कहकर उसके सिर पर लात मारूँगा।

उस मूर्ख ने चक्रवर्तित्व के मोद में सोए-सोए ऐसी लात चलाई कि उसका पैर घी की हँडिया में जा लगा। गर्मी के कारण घी पिघला हुआ था। पैर का आघात लगते ही हाँडी उछली और पास बने चूल्हे में जा गिरी। सेठ ने थोड़ी ही देर पहले रोटी बनाकर खाई थी इसलिए चूल्हे में अब तक आग शेष थी। ज्योंही घी चूल्हे में गिरा, आग भभक उठी और उसने झोपड़ी को अपनी लपेट में ले लिया। स्वयं मूंछ-मखनिये के साथ उसका सब कुछ जलकर राख हो गया।

तात्पर्य यह है कि केवल कल्पना से कुछ भी नहीं सधता। कुछ करना है तो आगे कदम रखो और बढ़ो।

> थारा पगल्यां रे पाछै बोहला जन आसी,
>
> "चन्दन" वै थांरी धन-धन गासी, प्यारा भवियां,
>
> जागो अब जागो ॥

यदि किसी विशिष्ट कार्य-दिशा में तुम्हारे चरण बढ़े तो बहुत जन उनके पीछे चलने को स्वतः प्रेरित होंगे। सुप्रसिद्ध सुभाषित है—"महाजनो येन गतः स पन्थाः" तुम्हारा अनुगमन करने वाले तुम्हारा जयनाद करेंगे, धन्य-धन्य के उच्चारण से तुम्हारा गुणगान करेंगे। पर शर्त एक ही है, प्रमाद को त्यागकर आगे बढ़ो, आलस्य छोडो, जागो, जागो, जागो!



१२

जीवा जी ! थांरो असली रूप बतावो
जनम-जनम रा रूप घणा है, साचो स्वरूप बतावो हो,
जीवा जी ॥ध्रुव॥

[1]चन्द, लाल, मल, सिह जुड़ेड़ा, थारा नाम घणेरा ।
कुणसो साचो नाम तुम्हारो, किण विध थांनै हेरां हो,
जीवा जी ॥१॥

कदे नरक अरु कदे देव में, कदे मनुष्य बण जावो ।
कदे-कदे तिर्यंच गति में, एक ठिकाणो जणावो हो,
जीवा जी ॥२॥

पुरुष वेद में कदे अवतरो, कदे बणो थे नारी ।
कदे नपुसक बणकर घूमो, के पहचान तुम्हारी हो,
जीवा जी ॥३॥

कदे बाललीला में लागो, कदे युवक बण राचो ।
बुढापे में कुड़कर चालो, किसो रूप है साचो हो,
जीवा जी ॥४॥

कदे राव अरु राजा किण दिन, किण दिन रक भिखारी ।
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र पण, ओलख कठिन तुम्हारी हो,
जीवा जी ॥५॥

त्रस, स्थावर, सज्ञी व असंज्ञी, बादर सूक्ष्म कहावो ।
अपर्याप्त-पर्याप्त भेद बहु, नव-नव नाम धरावो हो,
जीवा जी ॥६॥

चार गति चौरासी लख में, अभिनेता बण नाचो ।
'चन्दन' सारा भेद मिटै, जो चिदानन्द में राचो हो,
जीवा जी ॥७॥

तर्ज—जीवा जी ! म्हांनै एकड़ली मत मेल्हो

[1] चद-लालचन्द, बालचन्द, महालचन्द आदि, लाल-सोहनलाल मोहन लाल आदि, मल-मानमल, पानमल, आदि; सिह-रामसिह केशरी सिह आदि ।

१२.

जीवा जी ! थांरो असली रूप बतावो

समाधिशतक में आचार्य पूज्यपाद लिखते है—

नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यंते नरम् ।
तिर्यचं तिर्यगंगस्थं, सुरांगस्थं सुरं तथा ॥
नारकं नारकांगस्थं, न स्वयं तत्त्वतस्तथा ।
अनन्तानन्तधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥

समाधि शतक ७, ८

अविद्वान्-अज्ञानी नर-देह में स्थित अपनी आत्मा को नर मानता है, तिर्यच-शरीर में स्थित आत्मा को तिर्यच मानता है, देव-भव में स्थित आत्मा को देव मानता है। इसी प्रकार नरक-योनि में स्थित आत्मा को नारक मानता है। तात्त्विक दृष्टि से चिन्तन किया जाए तो आत्मा न नर है, न देव है, न तिर्यच है और न नारक ही है। वह तो अनन्त-ज्ञान-शक्ति-सम्पन्न, अविचल-स्थिति-प्राप्त व स्व-सवेद्य है।

अनन्त काल से हम इस भ्रान्ति में भूले है, नर-तिर्यच आदि योनियों में विद्यमान अपने आपको नर-तिर्यंच आदि ही स्वीकारते रहे हैं। वास्तव में इन योनियों से, शरीर के विविध रूपों से, जाति, वर्ण आदि भेदो से हमारी आत्मा में कोई भेद नहीं आता। वह तो ज्ञाता-द्रष्टा के रूप में पहले अवस्थित थी, आज अवस्थित है और भविष्य में भी रहेगी। कुछ वर्षों पूर्व इसी भावना का एक गीत हमने लिखा। अध्यात्म-चेता ज्ञानी स्वयं अपनी आत्मा से ही प्रश्न पूछता है—

जीवा जी ! थांरो असली रूप बतावो !
जनम-जनम रा रूप घणां है, साचो स्वरूप बतावो ॥ध्रु०॥

चन्द, लाल, मल, मिर जुड़ेड़ा थांरा नाम घणेरा ।
कुणसो साचो नाम तुम्हारो, किण विध थांनै हेरां, हो जीवा जी ॥

प्रथम पंक्ति में जीवा जी ! कहकर जीवात्मा को सम्बोधित किया

गया है। जीव शब्द अपने आप में अनूठा है। वैयाकरणो ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—"**जीवति, जीविष्यति, अजीजिवत् इति जीवः**" जो जीवित है, जीवित रहेगा, जीवित था—उसे जीव कहा जाता है। यानी जीव कभी अजीव नही वनता। वह जीव के रूप में ही परिणत होता रहता है।

यहाँ जीव को सम्बोधित कर पूछा गया है—जीव ! तुम्हारा असली रूप क्या है ? प्रत्येक जन्म में तुम नवीन रूप धारण करते हो , कहो न, फिर तुम्हारा यथार्थ स्वरूप कौन सा है ? उसे हम जानना चाहते है।

प्रश्न सीधा नही है, वड़ा टेढा है। स्वरूप एक हो तो वतलाया जाए। जिसने अनन्त जन्मो मे अनन्त रूप धारण किए है, वह कौन से रूप को असली समझे ? कौन से रूप को अपना सच्चा रूप वतलाए ? हमारे वृद्ध सन्त एक सुन्दर कथानक सुनाया करते थे—

एक युवक किसी वेश्या के प्रेम-जाल में फँस गया। उस गणिका पर वह ऐसा मुग्ध हुआ कि उस पर प्राण तक न्यौछावर करने को तैयार रहता। वेश्या भी ऊपर से ऐसा दिखलाती, मानो वह उसके प्रति असीम प्यार लिये है। हितचिन्तक वन्धुओ ने, मित्रों ने उसको वहुत कुछ समझाया कि वेश्या के पीछे इस प्रकार पागल होना ठीक नही, पर युवक तो किसी की बात मानने को तैयार ही नही था। वह तो यही कहता कि वेश्या होने से क्या हुआ, अब तो मेरे प्रति वह सर्वथा समर्पित है, उसका सर्वस्व मुझ पर न्यौछावर है। उसके पास जो धन-सम्पत्ति थी, वारागना ने वह धीरे-धीरे समेट ली। अब वह युवक उसे रसहीन गन्ने की भांति प्रतीत होने लगा और वह उसे निकालने की युक्ति सोचने लगी। एक दिन वहुत मधुर स्वर में वेश्या ने कहा—प्रियवर ! आप मुझे प्राणों से भी प्रिय है, मैं आपके विना एक दिन भी नही रह सकती। मेरा जो कुछ भी है, सव आपका ही है, परन्तु धन के विना मेरा इतना भारी खर्च कैसे निभे ? इसलिए आप कोई अर्थ का साधन जुटाएँ। मैं तो आपकी वनी ही रहूँगी। आप एक वार कही जाकर कुछ धन अर्जित कर लाइये। कामान्ध युवक उसकी चाल को न समझ पाया और वोला—प्रिये ! तेरा कथन सत्य है। मैं भी ऐसा ही सोचता हूँ कि एक वार परदेश जाकर कुछ धन सचय कर फिर यहाँ लौट आऊँ और फिर हम वैभव-विलासपूर्ण जीवन का आनन्द लें। इस प्रकार उस भोले युवक को वेश्या ने वडी चालाकी से वाहर धकेल दिया। वह उसके फरेव को भाँप नही सका।

युवक धन की आशा में कही दूर देश चला गया तथा वहाँ अर्थार्जन करने लगा। कार्य में लगे रहते हुए भी उसे अपनी प्रेमिका—वह गणिका प्रतिक्षण याद आती रहती। उसकी आँखों में उसी का मादक रूप तैरता रहता। इस तरह काफी लम्बा समय वीत गया। एक दिन उस युवक ने सोचा कि मेरे पास कुछ धन संग्रहीत हो गया है। उसे अपनी प्रेयसी के पास भेज दू तो उसे असुविधा नहीं होगी तथा मेरे प्रेम पर अविश्वास भी नही होगा। मुझे तो यहाँ से जाते-जाते ही कुछ समय लग जाएगा। यों सोचकर उसने कुछ अर्थ-राशि अपने एक घनिष्ठ मित्र के नाम पर प्रेपित कर दी और साथ में एक पत्र लिख दिया कि मेरी प्रेयसी के पास मेरी ओर से यह राशि उपहार-स्वरूप पहुँचा देना।

युवक का मित्र वड़ा समझदार और विवेकशील था। उसने सोचा, इस अर्थ को क्यों कूएँ में डाला जाय ? इसकी घरवाली तो अर्थाभाव के कारण वड़े संकट में दिन काट रही है और यह नासमझ उस वेश्या को रिझाने के लिए आतुर हो रहा है। पर जिसके लिए यह अर्थ-राशि भेजी गई थी, उसे न सौंपकर दूसरे को सौंपा भी कैसे जाए।

आखिर वह मित्र उस अर्थ-राशि को लेकर गणिका के पास गया और कहा—तुम्हारे प्रेमी की ओर से कुछ धन मेरे नाम से आया है, पर वह मैं तुम्हें तभी दूगा, जव तुम उस प्रेमी का नाम वतलाओगी। वेश्या हैरान थी। किसका नाम वतलाये ? वहाँ तो प्रतिदिन नये-नये व्यक्तियों का आगमन होता रहता था, कोई दो दिन के लिए आता, कोई पांच दिन के लिए। वेश्या का ध्यान तो अर्थ पर टिका रहता था। कौन व्यक्ति कहाँ से आया, कहाँ गया, वह क्यों ध्यान देती ? वेश्या ने कई नाम गिनाये पर उस युवक का नाम उसकी जुवान पर नही आया। वेश्या ने कहा—आज सोच-कर मैं कल तक एक सूची आपके सामने पेश कर दूगी। वेश्या ने काफी याद कर, सोच-विचार कर सत्तर नामों की एक लिस्ट वना डाली। दूसरे दिन युवक का मित्र आया तो वेश्या ने वह सूची सामने रख दी। मित्र चकित था कि सत्तर चुनिन्दा नामों में उस युवक का नाम नही था ही नहीं। उसने कहा—तुम्हारी सूची में मेरे मित्र का नाम नही आया है। वेश्या ने कहा—कृपया आप मुझे आज-आज का समय और दीजिए। वेश्या ने दिमाग पर खूब जोर डालकर एक सूची फिर तैयार की। उसमें वहत्तर नाम आए। दूसरे दिन वह सूची फिर मित्र के सामने उपस्थित की। मित्र मुस्कराने लगा। अभी भी उसका नाम उसमें नही आ सका है। वह उन

सत्तर और बहत्तर नामों की सूचियाँ अपने साथ घर ले आया तथा उसने अपने मित्र को वे दोनों सूची-पत्र प्रेषित करते हुए लिखा—

रे रे ! मित्र काहे को रोवे,
भर-भर नैन काहे को खोवे।
लिख-लिख भेज्या पत्तर में,
तू सत्तर मे न बहत्तर मे ॥

यह उक्ति यहां बिलकुल घटित होती है। जीव का सच्चा रूप, असली स्वरूप कौन सा है—इसका उत्तर दे पाना बहुत कठिन है। अगला प्रश्न पूछा गया कि जीवराज ! तुम्हारा सही नाम क्या है ? चन्द, लाल, मल, सिह आदि शब्दो से जुड़े हुए तुम्हारे अनेक नाम है अर्थात् किसी जन्म में तुम्हारा नाम लालचन्द, बालचन्द, खुशालचन्द सा फतेहचन्द रहा है तो किसी जन्म में सोहनलाल, मोहनलाल, भवरलाल या बशीलाल आदि नामो से तुमको पुकारा जाता रहा है। किसी जन्म में तुम्हारे नाम के साथ "मल" शब्द जुडा था—जैसे गणेशमल, जीवनमल, मुल्तानमल आदि तथा कही तुम "सिह" से सम्बोधित हुए हो, जैसे केसरीसिह, नाहरसिह, दरबारा सिह, शार्दूलसिह आदि और कभी गुजरात मे पैदा हुए तो कांतिभाई, शातिभाई नामों से पुकारे जाते रहे, पर तुम्हारा सच्चा नाम कौन सा है ? यदि तुम्हे पुकारना हो तो किस नाम से पुकारे, किस नाम से खोजे ? बडी विचित्र स्थिति है, नामो की कोई सख्या नही है। कितने नाम हमने अपनाये और कितने छोड़े, पर कोई स्थायी नाम हमारा नहीं हुआ।

अज्ञानी जीव नाम के लिए जी रहे है और मर रहे है। वे चाहते है, किसी प्रकार हमारा नाम अमर हो जाए और इसके लिए अनेक प्रयत्न करते है, नाना प्रकार के दाँव-पेच खेलते है। इस युग का यह एक भीषण रोग है—हमारा नाम किसी प्रकार अखबार की सुर्खियों में आ जाए या हमारा चित्र समाचार पत्रों में छप जाए। बस, हम तो निहाल हो जाये। कृतकृत्य हो जाये। हमारा परिश्रम सार्थक हो जाए। लेकिन उनको यह पता नही कि कल ये ही अखबार रद्दी के भाव मे बिकेंगे। उनकी पन्नियां फाड़कर वैद्य दवा की पुड़िया बाँधेंगे या ठूगे—लिफाफे बनाकर हलवाई मिठाई बेचने के काम मे लेगे, पसारी लौंग, सौंठ या जीरा तोलकर उस अखबार में लपेट देगे। कही-कही तो ये अखबार गदगी साफ करने में भी काम आ जाते है। वहां आपका नाम कौन देखेगा, कौन पढ़ेगा ?

एक सन्त अपने नाम की खबरे अखबारो मे से काट-काट कर उनकी कतरने इकट्ठी करते थे। उनके पास उनका पुलिन्दा सा बन गया था।

हमने उनसे पूछा कि आप इन्हें क्यों एकत्र कर रहे है ? उन्होंने कहा—यह इतिहास है। कभी लोगों को यह पता चलेगा कि अमुक सन्त का नाम इस भाँति अखबारों में छपता था। वास्तव में यह बड़ा व्यामोह है। बड़े-बड़े संत और पूजनीय महात्मा भी इस चक्कर में आ जाते है। लेकिन नाम संसार में किनके स्थिर रहे है। प्राचीन ग्रन्थों में एक बड़ा मार्मिक वर्णन मिलता है—

कहा जाता है कि प्रत्येक चक्रवर्ती छह खण्ड साध लेने के पश्चात् अपने दल-वल सहित ऋषभकूट पर्वत पर जाता है तथा वहाँ बनी तमिस्रा नामक गुफा में अपना नामांकन करता है। इसी परम्परा के अनुसार प्रथम चक्रवर्ती भरत भी छह खण्ड साधने के अनन्तर ऋषभकूट पर्वत पर गया। नामांकन के लिए गुफा का द्वार खोला गया। भरत काकिनी रत्न लेकर अपना नाम लिखने के लिए आगे बढा तो उसके पाँव ठिटक गए। पूरी गुफा नामों से भरी थी। एक इंच भी स्थान खाली नहीं था, जहाँ किसी चक्रवर्ती का नाम न लिखा हो ? चक्रवर्ती ने ऊपर-नीचे, आगे-पीछे दृष्टि दौड़ाई। भरत का अभिमान, दर्प खण्डित हो गया। अहो ! मैं समझता था कि मैं ही चक्रवर्ती हूँ। मेरे से पहले तो इतने चक्रवर्ती हो चुके है कि मेरे नामांकन के लिए ठौर ही नही बची। चक्रवर्ती ने सेनापति से कहा—मुझे अपना नाम कहाँ अकित करना चाहिए ? सेनापति ने कहा—सम्राट ! पहले लिखे नामों में से कोई एक नाम मिटा दीजिए और उस स्थान पर अपना नाम अकित करिए। भरत ने कहा—यदि हमने किसी का नाम मिटा दिया तो आगे आने वाला कोई चक्रवर्ती हमारा नाम भी मिटा देगा।

यह है नामों का अमरत्व ! संसार में किसी का नाम अमर या अविचल नही है। किसी की स्मृति लम्वे समय तक नही रहती। जव तीर्थकरों को भी लोग भूल जाते है तो औरों की वात ही क्या है ? तीर्थकरों की अनन्त चौवीसियाँ हो चुकी है, आप कितनी चौवीसियों के नाम वता सकते हैं ? हम अक्सर पूछा करते है कि आपकी आठवीं, दसवीं पीढ़ी का नाम क्या था ? प्रायः श्रोता-जन मौन हो जाते है। कइयों के तो पाँचवी पीढ़ी तक के नाम भी कठिनाई से याद रहते है। जिनके वेटे-पोते आप विद्यमान है, फिर भी आपके पूर्वजों के नाम अन्धकार में विलीन हो गये तो फिर यह मानना कि वेटों-पोतों से नाम चलता है—नितान्त भ्रामक है, अज्ञान-मूलक है। आजकल कुछ ऐसी हवा चली है कि लोग सडकों पर अपने नाम लिखवाते है, अमुक मार्ग, अमुक पथ आदि। वे

सोचते है, इससे हमारा नाम अमर हो जायेगा । ऊँचे-ऊँचे कीर्ति-स्तम्भो पर उत्कीर्ण नाम भी जव काल के प्रवाह मे वह गए तो फिर सडक पर रोपा हुआ एक पत्थर कव तक आपके नाम को उजागर करता रहेगा ?

यहाँ तो वे नाम अलवत्ता कालजयी होते है, जिनके सवाहक अपने जीवन से कोई प्रकाश जगत् को दे जाते है । उन्हे सहस्रो वर्षो तक लोग आदर एव श्रद्धा के साथ स्मरण करते है, जैसे राम, बुद्ध महावीर आदि ।

वास्तविकता यह है कि इस आत्मा का कोई नाम है ही नही, यह तो सर्वथा अनामी है । अनाम पर जो नाम हम आरोपित करते है, वह सायोगिक है, उसका वियोग निश्चित है । हम जव यह नारा सुनते है—

जव तक सूरज, चाँद रहेगा
… … तेरा नाम रहेगा ।

तो मन ही मन वडी हँसी आती है । मानव का अहकार कहाँ चढ़कर बोलता है । सूरज, चाँद तो आज भी विद्यमान है पर उन नाम वालो की कही भनक तक नही है । इसीलिए ज्ञानी पूछते है जीवा भाई ! तुम्हारा सच्चा नाम कौन सा है ?

कदे नरक अरु कदे देव मे, कदे मनुष्य वण जावो ।
कदे-कदे तिर्यंच-गति मे, एक ठिकाणो जणावो हो ॥
ओ जीवा जी ! थांरो असली रूप वतावो ॥

यह जीव कभी नरक गति में स्थान पाता है तो कभी देवगति मे, कभी तिर्यच-योनि मे पैदा होता है तो कभी मनुष्य-योनि में । सन्त पूछते है—अपना एक स्थायी पता तो वतलाओ ।

सामान्यत जिन लोगों का अधिक घूमने-फिरने का, पर्यटन का काम पडता है, वे अपना एक स्थायी पता अलग रखते है, जहाँ पहुँचे हुए पत्र, तार, समाचार आदि उन्हें विश्वस्त रूप से प्राप्त हो जाते है, पर आश्चर्य है इस ससारी प्राणी का कोई निश्चित पता ठिकाना है ही नही कोई स्थायी वास-स्थान है ही नही ।

टिहरी गढवाल नरेश उच्च शिक्षित थे । अपने आपको वे काफी सुपठित व तत्त्ववेत्ता मानते थे । उनकी तर्क-बुद्धि बहुत तीव्र थी । साधु-महात्माओं के वे घोर विरोधी थे । कोई भी साधु-सन्यासी उनके पास मे आता तो नरेश एक ही प्रश्न पूछते कि क्या आपने ईश्वर का साक्षात्कार किया है ? वेचारे सन्यासी अवाक् रह जाते, क्या उत्तर दे ? [illegible]

महात्मा कह देते कि हमने अभी तक ईश्वर का साक्षात्कार नही किया है तो तुरन्त नरेश कहते कि फिर आपको साधु वनने का क्या अधिकार है ? जिसको आपने देखा नही, जिसका कोई चिह्न विद्यमान नहीं, वह है, इसका आपको कैसे पता है ? केवल शास्त्रों की वात मानकर घर से भाग निकलना कायरता है ।

यदि कोई विशेषज्ञ संन्यासी यह कह देते कि हमने उस परम प्रभु का साक्षात्कार किया है तो नरेश तत्क्षण कहते कि जो आपने देखा, वह मुझे भी दिखलाइये। क्योंकि जो वस्तु देखी जा सकती है, वह दिखलाई भी जा सकती है। यह तर्क सुनते ही महात्मा निरुत्तर हो जाते। इस तरह वे अपने यहाँ किसी सन्त महात्मा को टिकने नही देते, सम्मान नहीं देते और ढोंगी कहकर राज्य से निकाल देते ।

एक वार स्वामी रामतीर्थ वहाँ पहुँच गए। गढवाल नरेश एक पहुँचे हुए योगी के रूप में उनकी ख्याति सुन चुके थे। स्वामी रामतीर्थ से भी उन्होंने वही सवाल पूछा कि क्या आपने ईश्वर का साक्षात्कार किया है ? रामतीर्थ ने वडी दृढता से जवाव दिया कि —हाँ, किया है।

नरेश—यदि किया है तो मुझे भी करवाइये !

रामतीर्थ—क्या तुम ''उसका'' साक्षात्कार करना चाहते हो ?

नरेश—जी हाँ, अवश्य चाहता हूँ। किसी वस्तु को साक्षात् देखकर ही मैं उस पर विश्वास कर सकता हूँ, सुनी-सुनाई बात पर मुझे विश्वास नहीं ।

रामतीर्थ—तो फिर ऐसा करो कि तुम अपना नाम, पता पूरे विवरण सहित लिखकर मुझे दे दो। क्योंकि ईश्वर के दरवार में तुम्हारा एप्वाइटमेंट लेना होगा, समय निर्धारित करना होगा।

राजा आश्चर्य चकित था कि रामतीर्थ कैसी वात कर रहे है। वहाँ भी साक्षात्कार के लिए समय निर्धारित करना होगा ?

अस्तु, गढवालनरेश ने कहा—मै अभी पूरे विवरण सहित अपना परिचय-पत्र आपको तैयार करवा देता हूँ।

रामतीर्थ-परन्तु एक वात का ध्यान रहे, परिचय-पत्र विलकुल सही होना चाहिए। स्थायी पता होना चाहिए, वहाँ जरा सी भूल भी नही चलेगी।

गढवाल-नरेश ने अपना नाम, स्थान, आयु, शिक्षा आदि का पूरा विवरण लिखकर परिचय पत्र स्वामी रामतीर्थ के हाथों में थमा दिया। उसे देखकर स्वामीजी ने पूछा-इसमें तुमने लिखा है ''टिहरी

गढवाल नरेश" ! यदि आज-कल में किसी शत्रु ने तुम्हारे राज्य पर आक्रमण कर दिया और तुम्हे अपदस्थ कर दिया तो क्या फिर भी तुम "टिहरी गढवाल नरेश" रहोगे ?

नरेश—यदि ऐसा हुआ तो नरेश कैसे रह सकता हूँ ?

रामतीर्थ—तुम नरेश रहो या न रहो, तुम्हारा अस्तित्व तो रहेगा या नही रहेगा ?

नरेश—आप भी कैसा प्रश्न पूछते है, मैं तो रहूँगा ही ।

रामतीर्थ—तो फिर "टिहरी गढवाल नरेश" तुम्हारा यह विशेपण सही कहाँ हुआ ? स्थायी पता कैसे हुआ ? पहला ही शब्द गलत लिखा हुआ है इस परिचय पत्र मे ।

आगे तुमने अपना नाम लिखा है । यदि परिस्थितिवश तुम्हे अपना नाम बदलना पड गया तो तुम स्वय भी बदल जाओगे या इसी रूप में रहोगे ?

नरेश—नाम बदलने पर भी तो मै वही रहूँगा ।

रामतीर्थ—तो फिर तुम्हारा नाम भी सुनिश्चित नही है । इसमें भी परिवर्तन की सम्भावना है । इस परिचय-पत्र में तो ऐसा नाम जाना चाहिए, जो सर्वथा अपरिवर्तनीय हो ।

नरेश—महात्मन् ! यह कैसे सम्भव है ?

रामतीर्थ—इस प्रपत्र में जो तुम्हारी आयु लिखी गई है, क्या यह सदा इतनी ही बनी रहेगी ? क्या कोई हमेशा ३० वर्ष का, ३५ वर्ष का या ४० वर्ष का ही बना रह सकता है ?

नरेश हैरान थे । रामतीर्थ तो पूरा परिचय-पत्र ही गलत सिद्ध करने पर तुले थे । उन्होंने कहा—महाराज ! आयुष्य तो प्रतिक्षण परिवर्तनीय है । यह तो एक रह ही कैसे सकता है ?

रामतीर्थ—फिर यह प्रकोष्ठ भी गलत भरा गया है ।

स्वामी रामतीर्थ ने नरेश से इस प्रकार सवाल पूछे कि स्वय उसे भी अपना परिचय-पत्र निरर्थक प्रतीत होने लगा । नरेश ऐसे चक्कर मे फँसा, ऐसा उलझा कि अपने प्रश्न का उत्तर उसकी समझ मे बिल्कुल नहीं आ रहा था । आखिर उसने स्वामी रामतीर्थ से पूछा—फिर आप ही बतलाइये कि परिचय-पत्र कैसे तैयार किया जाय ?

स्वामीजी ने कहा—बस, यही समझना है, पहले अपने को समझो,

स्वयं को जानो। अपने को पहचान लोगे तो परमात्मा को पहचानना सरल हो जायेगा। आत्मा का साक्षात्कार ही परमात्मा का साक्षात्कार है। परमात्मा का साक्षात्कार कोई दूसरा नही करवा सकता, इस कार्य के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता नही रहती। स्व को समझ गए तो प्रभु को समझ जाओगे।

वास्तव में स्थायी पता-ठिकाना बतलाना शक्य ही नहीं है। इसी आशय से कहा गया है—जीवात्मन्! जरा कहो तो सही—

पुरुष-वेद में कदे अवतरो, कदे बणो थे नारी।
कदे नपुंसक बणकर घूमो, के पहचाण तुम्हारी हो॥
जीवा जी! थांरो असली रूप बतावो॥

कभी तुम पुरुष-रूप में अवतरित होते हो, कभी स्त्री-शरीर को धारण करते हो तो कभी नपुंसक के रूप में जन्म लेकर घूमते हो। आखिर तुम्हारी असली पहचान क्या है? तुम्हें पुरुष कहें, स्त्री कहे या नपुंसक कहें?

वास्तव में ये सारे भेद ही आरोपित है। जैनागमों के अनुसार नवम गुणस्थान के अन्त में अवेदी अवस्था आ जाती है। नवां गुणस्थान प्रारम्भ में सवेदी और अन्त में अवेदी होता है। उसके वाद दसवाँ, ग्यारहवाँ तथा बारहवां आदि आगे के गुणस्थान अवेदी होते है। वहाँ स्त्री, पुरुप, नपुसक आदि के भेद समाप्त हो जाते है। लिग परिवर्तित नहीं होता, स्त्रीत्व या पुरुषत्व में परिवर्तन नही होता, लेकिन वेद अवेद में परिणत हो जाता है। विकार समाप्त हो जाता है। वहाँ न स्त्री स्त्री है और न पुरुष पुरुष है। प्रभु अरिष्टनेमि की स्तुति में हमने लिखा है—

कारण विषय-विकार नो, नर-नारी रो भेद।
प्रभुजी भेद मिटायने, पोते बण्या अवेद॥

विषय-विकार का कारण वस्तुतः स्त्री-पुरुप का भेद ही है। प्रभु ने उस भेद को समाप्त कर अभेद अवस्था को प्राप्त कर लिया, अतः वे अवेद—निर्विकार वन गए। भागवत में एक वहुत मार्मिक प्रसग आता है—

एक वार महर्पि वेदव्यास और उनके युवा पुत्र शुकदेव मार्ग से गुजर रहे थे। जंगल का रास्ता था। वेदव्यास आगे-आगे चल रहे थे, शुकदेव कुछ कदम पीछे-पीछे आ रहे थे। मार्ग में एक सरोवर आया। उसका पानी वहुत स्वच्छ था। कुछ गन्धर्व-कन्याएँ वहाँ स्नान के लिए आई हुई थीं। निर्जन वन, एकान्त स्थल, किसी प्रकार का आवागमन नही था, इस लिए वे निःसंकोच भाव से सरोवर में जल-क्रीड़ा का आनन्द लेने लगी।

कुछ कन्याएँ स्नान कर रही थी, कुछ तैर रही थी, कुछ वस्त्र धो रही थी, कुछ तट पर खडी बाल सुखा रही थी। अचानक वेदव्यास आते दिखाई दिए तो सारी की सारी संकोचवश तिरोहित होने की चेष्टा करने लगी। कोई पानी में नीचे पैठ गई, कोई तट पर खड़े वृक्षों की ओट में हो गई, कइयों ने वस्त्र अपने ऊपर डाल लिए। वेदव्यास बिना उनकी तरफ ध्यान दिए सहज भाव से आगे बढ गए। थोड़ी ही दूर पीछे से शुकदेव आ रहे थे। वे भी सरोवर के पास से गुजरने लगे। उन्हे देखकर गन्धर्व-कन्याओं ने कोई पर्दा नही किया। वे निःसंकोच-भाव से जल-क्रीड़ा में लगी रही। उनमें किसी प्रकार की हलचल नही हुई, मानो कोई वहाँ से गुजरा ही न हो। अनायास वेदव्यास ने पीछे मुड़कर देखा। उस समय शुकदेव बिलकुल सरोवर के पास से ही गुजर रहे थे। गन्धर्व-कन्याओं का यह व्यवहार देखकर वेदव्यास चकित रह गए। यह क्या ? मैं इतना वृद्ध, अठारह पुराणों का कर्ता, तत्वमर्मज्ञ, मुझ से इन कन्याओं ने पर्दा किया, संकोच अनुभव किया और तरुण शुकदेव से कोई लज्जा नही, कोई संकोच नही। आश्चर्य है, स्त्री-चरित्र को समझ पाना अत्यन्त दुष्कर है।

वे अपने मन की उथल-पुथल को रोक नही पाए। वापस उस सरोवर पर आए। गन्धर्व-कन्याएँ पहले की ज्यों संकोच करने लगी। वेदव्यास ने कहा—तुम मेरी पुत्रियों के सदृश हो तथा मैं तुम्हारे पिता—पितामह के समान हूँ। मैं तुमसे एक प्रश्न पूछने आया हूँ। मैं इस मार्ग से गुजरा, तुमने संकोच किया, वह स्वाभाविक था। परन्तु शुकदेव के आने पर तुम निःशंक भाव से अपना कार्य करती रहीं, मानो जैसे कोई पुरुष वहाँ हो ही नही—इसके पीछे क्या रहस्य है ? मै यह देखकर संशय में पड़ गया। तुमसे इसका कारण जानना चाहता हूँ। गन्धर्व-कन्याएँ बोली—महर्षे ! आपका प्रश्न यथार्थ है। यह भी सत्य है कि आप परम ज्ञानी, उत्कृष्ट साधक तथा असाधारण तत्त्वज्ञ है। फिर भी आपकी आँखो में स्त्री-पुरुष का भेद तो विद्यमान है ही। यदि भेद नही होता तो यह प्रश्न पूछने आप वापस क्यो आते ? ऋषिवर ! शुकदेव एक शिशु की ज्यो सर्वथा और निर्विकार और निर्वेद है। उसके मन मे स्त्री-पुरुष का अन्तर ही नही है। वह केवल आत्मा को ही देखता है। उसकी आँखो मे न कोई स्त्री है, न पुरुष है, न नपुसक है। जहा भेद है, वहाँ पर्दा है। अभेद मे पर्दा नही होता। शिशु से माँ कब पर्दा करती है ? क्योंकि बालक की आँखो में केवल माँ ही माँ है, दूसरा भेद उसकी दृष्टि मे है ही नही। वेदव्यास उनके उत्तर से बहुत सन्तुष्ट हुए। गन्धर्व-कन्याओ का यह कथन

उन्हें यथार्थ प्रतीत हुआ कि शुकदेव बालक की तरह निर्लेप हैं, सम्पूर्णतः विकारशून्य है और स्वयं उनकी दृष्टि में अब तक भेद विद्यमान है।

ये सारे भेद औपचारिक हैं। वास्तव में आत्मा इन भेदों से ऊपर है, अतीत है।

कदे बाल-लीला में लागो, कदे युवक बण राचो।
बुढ़ापे में कुड़कर चालो, किसो रूप है साचो हो ॥
जीवा जी ! थांरो असली रूप बतावो ॥

ज्ञानी पूछते है जीवात्मन् ! कभी तुम बालक के रूप में दृष्टिगोचर होते हो, कभी यौवन के उन्माद से भरे दिखाई देते हो और कभी वृद्धावस्था तुम पर हावी नजर आती है। आखिर इनमें तुम्हारा सच्चा रूप कौन सा है ? वस्तुत तुम बालक हो, युवक हो अथवा वृद्ध हो ?

तत्त्वतः ये अवस्थाएँ भी क्षणिक हैं। एक बालक को देखते है, उसमें कितनी चंचलता होती है, कितना अल्हडपन होता है। जवानी आते ही खून गर्म हो उठता है। बात-बात में गर्मी आती है, चलते हैं तो जमीन थर्राती है, किन्तु अवस्था ढलते ही सारी स्थितियाँ परिवर्तित होने लगती हैं।

एक बार राजा भोज घोड़े पर बैठा घूम रहा था। सामने से एक वृद्धा आती दिखाई दी। बुढापे के कारण उसकी कमर झुक चुकी थी। हाथ में लाठी लिए बड़ी कठिनाई से वह रास्ता पार कर रही थी। राजा भोज ने व्यंगपूर्ण भाषा में उससे पूछा—

कांई गांठ स्यूं गिर पड़्यो, किणरो काढै खोज ?
कुड़कर चालै डोकरी, पूछे राजा भोज !

वह वृद्धा बडी ज्ञानवती थी। उसने कहा—

म्हां स्यूं तो था मै गई, उणरो काढ़ूं खोज !
थॉं स्यूं पण जासी परी, सुण रे राजा भोज !

बुढिया ने कहा—एक दिन यही जवानी मुझ में थी और मैं भी इसी तरह अकड़ कर चला करती थी, लेकिन वह मेरे से फिसल कर तुम जवानों के शरीर में चली गई है। मैं उसे ही खोज रही हूँ। पर, तुम भी गर्व मत करो। यह एक दिन तुम्हारे हाथ से भी खिसक जाएगी। तुम भी मेरी तरह जवानी के वक्त को ढूंढ़ते फिरोगे।

संस्कृत में इसी आशय की बड़ी सुन्दर उक्ति है—

"अधः पश्यसि किं वृद्धे ! पतितं तव किं भुवि।
रे रे मूढ ! न जानासि गतं तारुण्य-मौक्तिकम् ॥"

एक उद्धत युवक मार्ग चलती वृद्धा से कहने लगा, जिसकी कमर कमान की ज्यों झुकी थी—

बुढिया ! तू नीचे जमीन पर क्या देख रही है ? तुम्हारा क्या गिर गया है ?

वृद्धा कडकती आवाज में बोली—मूर्ख ! तू नही जानता, मेरे यौवन का मोती खो गया है। उसे ढूढ रही हूँ।

वृद्धावस्था को लेकर और भी बहुत उक्तियाँ प्रचलित है। एक बुढिया जहाँ कही जाती, उसे सब लोग बुढिया, डोकरी, डोसी, माँ आदि शब्दों से सम्बोधित करते। बुढिया वडी हैरान थी कि सब मुझे मेरे अपने नाम से क्यो नही पुकारते ? मुझे बुढिया या डोकरी नाम से क्यों बुलाते है ? उसने एक पद्य कहा—

यही आंगन यही देहरी, यही ससुर को गाम।
दुलहिन-दुलहिन टेरता, बुढ़िया पड़ग्यो नाम ॥

यानी जब मेरा विवाह हुआ था, यही आगन था, यही देहली थी, और यही मेरे श्वसुर का गाँव था। मै जब नई-नई आई, सब मुझे लाड-पूर्वक दुलहन-दुलहन कहकर बुलाते थे और आज सब मुझे डोकरी कहकर पुकारने लगे है। न गाँव बदला, न घर वदला, केवल मेरा नाम वदल गया है।

गीता में कहा गया है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे, कौमार यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

—भ. गीता २/१३

जैसे मनुष्य के शरीर मे क्रमश शैशव, यौवन और वृद्धावस्था आती है, उसी प्रकार मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति होती है। धीर पुरुष, विवेकशील पुरुप इस स्थिति में मोहित नही होता।

कदे राव अरु राजा किण दिन किण दिन रांक भिखारी।
ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य पण, ओलख कठिन तुम्हारी हो ॥
जीवा जी ! थांरो असली रूप बतावो।

ज्ञानी कहते है, जीव की पहचान अत्यन्त कठिन है। वह कभी राव की पदवी प्राप्त करता है, कभी राजा होता है। कभी वही जीव भिखारी के रूप में दर-दर की ठोकरे खाता दिखाई देता है। इसी भांति यह

विभिन्न वर्णों में चक्कर लगाता है। कभी ब्राह्मण, कभी क्षत्रिय, कभी वैश्य और कभी शूद्र के रूप में जन्मता है। भेदों की यह स्थिति बड़ी विषम है, उलझनपूर्ण है। इतना ही नहीं—

त्रस-स्थावर, संज्ञी व असंज्ञी, बादर-सूक्ष्म कहावो।
अपर्याप्त-पर्याप्त भेद बहु, नव-नव नाम धरावो।।
जीवा जी ! थांरो असली रूप बतावो।।

कभी त्रस, कभी स्थावर, कभी संज्ञी (समनस्क), कभी असंज्ञी, कभी सूक्ष्म, कभी बादर (दृश्य) अनेक संज्ञाओं से यह जीव अभिहित होता मे। अनेक रूपों में इसकी अभिव्यक्ति होती है। सही नाम, रूप, स्थान आदि का कोई पता नही लग पाता। अन्त में सारी स्थिति को समेटते हुए लिखा गया है—

चार गति चौरासी लख में, अभिनेता बण नाचो।
"चन्दन" सारा भेद मिटै, जो चिदानन्द में राचो हो।।
जीवा जी ! थारो असली रूप बतावो।।

जिस प्रकार अभिनय करने वाला पात्र अनेक रूप धारण करता हुआ अनेक व्यक्तियों की भूमिका निभाता है, उसी तरह यह जीव चार गतियों और चौरासी लाख जीवयोनियों में नये-नये रूप और नाम धारण कर प्रस्तुत होता है। भगवान् महावीर कहते हैं—

न सा जाइ न सा जोणी, न तं ठाण न तं कुलं।
न जाया न मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणतसो।।

—वै. श. २३

ऐसी कोई जाति नही, कोई योनि नही, कोई स्थान नहीं, कोई कुल नहीं, जहाँ संसारी जीव न जन्मा हो, न मरा हो। वह भी एक वार नहीं, अनन्त-अनन्त वार ! संसार का क्या अत है ? इसलिए कहा गया—

"चन्दन" सारा भेद मिटै जो चिदानन्द मे राचो।

ये सारे भेद, यह सारा चक्र, ये सारे जन्म-मरण के क्लेश, ये सारी उत्तम अधम अवस्थाएँ तभी मिट सकती है जव जीवात्मा चिदानन्द में लीन हो जाए। चिदानन्दमय स्वरूप को पहचान ले। जव सारे क्लेश परिसमाप्त हो जाते हैं तो स्वरूपस्थ होता हुआ जीव अजर-अमर पद प्राप्त कर लेता है। हमारा अन्तिम ध्येय—साध्य यही है जिसे प्राप्त करने के लिए हमें अनवरत प्रयत्न करना है।

--※--

१३

म्हारी साधना में शक्ति कैया आवै, म्हारा प्रभुजी !
म्हारी भावना में भक्ति कैयाँ आवै, म्हारा प्रभुजी !
समावै म्हारा प्रभुजी ! मैं पथ थानै पूछूजी ।।ध्रुव?।।

हे सोचू भोर में तो आज भूल नही करणी,
पण भोले-भोले भूल होय जावै, म्हारा प्रभुजी ।।मैं० १।।

हे जाणू आज अल्प-भाषी वणकर रहस्यू
पण बोलणै में जोश चढ जावै, म्हारा प्रभुजी ।।मैं० २।।

हे धारूं आज जीभडी नै खुल्ली नही छोड़ू,
पण स्वाद मिल्याँ खूब-खूब भावै, म्हारा प्रभुजी ।।मैं० ३।।

हे सोचू आज दूसराँ री सुणस्यू न निन्दा,
पण सुणणै में कान सुख पावै, म्हारा प्रभुजी ।।मैं० ४।।

हे चिन्तूँ आज आंखडी रो पाप नही लागै,
पण चूपकै सी चोट लग जावै, म्हारा प्रभुजी ।।मैं० ५।।

हे वातों तो है सोहरी पण पालणै में दोहरी,
वासना रो वेग बल खावै, म्हारा प्रभुजी ।।मैं० ६।।

हे धन्य वाँ सन्ताँ नै खड्ग धार पर जो चालै,
म्हाँस्यू पूरो चाल्यो नही जावै, म्हारा प्रभुजी ।।मैं० ७।।

हे आछो सो उपाय कोई सूचवो रे स्वामी !
वारी थारी 'चन्दन मुनि' जावै, म्हारा प्रभुजी ।।मैं० ८।।

तर्ज—म्हारी हथेल्या रै वीच छाला पड़ग्या म्हारा मारूजी

१३.

म्हांरी साधना में शक्ति कैयां आवे म्हांरा प्रभजी !

त्वं नाथ ! दुःखिजन-वत्सल ! हे शरण्य !
कारुण्य-पुण्यवसते ! वशिनां वरेण्य !
भक्त्या नते मयि महेश ! दयां विधाय,
दुःखांकुरोद्दलन-तत्परतां विधेहि ॥

—कल्याण-मदिर ३९

नाथ ! दुःखी जनों के प्रति आप में वात्सल्य है, आप शरणागतों के प्रतिपालक हैं, करुणा के पवित्र धाम हैं और जितेन्द्रिय पुरुषों में श्रेष्ठ हैं।

हे महेश ! भक्तिभाव के कारण विनम्र हुए मुझ सेवक पर दया-दृष्टि कीजिए, मेरे दुःखांकुर के उद्दलन में—उसे जड़ से उखाड़ डालने में शीघ्र ही तत्परता दिखाइये।

अपनी दुर्वलताओं से उत्पीड़ित होकर भक्त प्रभु के समक्ष अपनी स्थिति व्यक्त करता है, क्योंकि अन्य स्थान पर अपनी कमजोरियाँ कैसे जाहिर की जा सकती है ? प्रभु तो सर्वज्ञ हैं, अन्तर्यामी हैं, उनसे कुछ भी छिपा कहाँ हैं ? इसलिए उनके सामने सारी स्थिति खुलकर रखी जा सकती है। "रत्नाकरपंचविंशतिका" में आचार्य लिखते है—

किं वाललीला कलितो न वालः
पित्रोः पुरो जल्पति निर्विकल्पः ?
तथा यथार्थं कथयामि नाथ !
निजाशयं सानुशयस्तवाग्रे ॥३॥

क्या वाल-लीला में संलग्न वालक अपने माता-पिता के सामने विना किसी विकल्प के निःसंकोच सव कुछ ज्यों का त्यों नही कह देता ? उसे

कहने में कोई सकोच नही होता। उसी प्रकार भक्त पश्चात्ताप-पूर्वक अपनी स्थिति व्यक्त करता है। यथास्थिति की अभिव्यक्ति को प्रायश्चित्त का पूर्व रूप कहा जाता है। भूल को भूल के रूप मे स्वीकारना भी साधक की आन्तरिक उज्ज्वलता का द्योतक है। हमारे यहाँ सामायिक के पाठ में कहा जाता है—"निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि।" यानी अपने द्वारा किये गये पापों की निन्दा करता हूँ, गुरु की साक्षी से गर्हा करता हूँ, पापमय आत्मा का व्युत्सर्जन करता हूँ अर्थात् छोडता हूँ।

साधक प्रभु से पूछता है कि मेरी साधना कैसे वलवती वन सकती है ? इसी भावना से अनुप्राणित एक गीत हमने लिखा है—

म्हांरी साधना में शक्ति कंयां आवै म्हांरा प्रभुजी !
म्हांरी भावना में भक्ति कंयां आवै म्हांरा प्रभुजी !
समावे म्हांरा प्रभुजी, मै पंथ थांने पूछूंजी ॥

बड़ी गहरी वात है, दिङ्मूढ व्यक्ति दूसरे से पंथ पूछता है। जिसको सही-सही दिशानुमान हो, जो "नेशनल हाइवे" पर चल रहा हो, वह क्यो किसी से रास्ता पूछेगा ? जव सही मार्ग छूट जाता है तो किसी जानकार से मार्ग पूछना पड़ता है। साधक के लिए यह समस्या है कि निरन्तर आचार-क्रिया में निरत रहते हुए भी साधना वलवती नही वनती, गति-शालिनी नही होती, सही रूप मे नही सधती। भावना में जो भक्ति उद्दीप्त होनी चाहिए, वह नही हो पाती। "साधना में शक्ति आना और भावना मे भक्ति आना"—ये दोनो शब्द एक-दूसरे के पूरक है। यदि साधना शक्ति-शालिनी वन गई तो भक्ति-भावना स्वतः तेजस्विनी वन जायेगी। यदि भक्ति अविच्छिन्न रूप से सधने लगी तो साधना स्वयं ओजस्विनी हो जायेगी। प्रभो ! न तो मेरी साधना मे शक्ति है, न भावना मे भक्ति है। अव मैं क्या करूँ ? आप ही मुझ कोई रास्ता वतलाये। क्योकि आपका विरुद अधमो-द्धारक और पतितपावन है। दूसरे सारे सहारे मेरे लिए गौण हैं, वस्तुत. आप ही मेरे शरण्य-आश्रयभूत है।

हे, सोचूं भोर मे तो आज भूल नहीं करणी।
पण भोले-भोले भूल होय जावै म्हारा प्रभुजी।
मै पंथ थाने पूछूंजी ॥

सुवह-सुवह जव उठता हूँ तो सोचता हूँ कि आज मुझे विल्कुल भूल नही करनी है. प्रत्येक क्रिया मे जागरूक रहना है, लेकिन वह केवल

शब्दों का मूक आवर्तन मात्र ही रह जाता है। अवसर आने पर फिर वैसी ही भूलें मुझसे हो जाती है।

"श्रमणसूत्र" की पाँचवी पाटी में साधक आठ संकल्प करता है—

असंजमं परियाणामि, संजमं उवसंपज्जामि।
अबंभं परियाणामि, बंभं उवसंपज्जामि।
अकप्पं परियाणामि, कप्पं उवसंपज्जामि।
अण्णाणं परियाणामि, णाणं उवसंपज्जामि।
अकिरियं परियाणामि, किरियं उवसंपज्जामि।
मिच्छत्तं परियाणामि, सम्मत्तं उवसंपज्जामि।
अबोहिं परियाणामि, बोहिं उवसंपज्जामि।
अमग्गं परियाणामि, मग्गं उवसंपज्जामि।

अर्थात् मैं असंयम को छोड़ता हूँ, संयम को स्वीकार करता हूँ। अब्रह्मचर्य को छोड़ता हूँ, ब्रह्मचर्य को स्वीकार करता हूँ। अकल्प्य—जो मेरे लिए कल्पनीय—स्वीकार्य नही है, उसे छोड़ता हूँ, कल्प्य को स्वीकार करता हूँ। अज्ञान को छोड़ता हूँ, ज्ञान को स्वीकार करता हूँ। अक्रिया को छोड़ता हूँ, क्रिया को स्वीकार करता हूँ। मिथ्यात्व को छोड़ता हूँ, सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूँ। अबोधि को छोड़ता हूँ, बोधि को स्वीकार करता हूँ तथा अमार्ग को छोड़ता हूँ, मार्ग को स्वीकार करता हूँ।

परन्तु प्रभो ! ऐसी प्रतिज्ञाएँ प्रतिदिन दोहराते हुए भी पुनः-पुनः वे ही भूले हो रही हैं, इसका उपचार क्या हो ? आप ही कृपया सुझाएँ। दुर्योधन कहता है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।

मैं धर्म को जानता हूँ, किन्तु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। अधर्म को भी जानता हूँ, किन्तु उससे मैं निवृत्त नही हो पाता। ऐसी स्थिति में जानने न जानने का लाभ ही क्या है ?

आदमी का मन बहुत दुर्बल है। चिन्तन के अनुरूप आचरण नहीं हो पाता।

हे, जाणूं आज अल्पभाषी बणकर रहस्यूं,
पण बोलणं में जोश चढ़ ज्यावै म्हारा प्रभुजी।
मै पंथ थांनै पूछूंजी॥

प्रभो ! प्रातः उठकर संकल्प करता हूँ कि आज अल्पभाषी रहूँगा,

बहुत कम बोलूगा, वाणी पर नियन्त्रण रखूंगा पर ज्यो ही बोलने का प्रसंग आता है, प्रतिज्ञा विस्मृत हो जाती है।

वाणी का संयम साधक का विशेष गुण है। साधक को कैसा होना चाहिए, इस विषय को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर कहते हैं—

"अतितिणे, अचवले, अप्पभासी मियासणे"

साधक चिड़चिड़े स्वभाव का न हो। उसे तुनक मिजाज नही होना चाहिए। वह "अचवले"—अचपल हो, चपलता का परित्याग करे। साथ ही साथ वह "अप्पभासी" अल्पभाषी हो, परिमितभोजी हो।

यद्यपि विना बोले हमारा व्यवहार चल नही पाता, बोलना आवश्यक है, पर उसमे भाषा-समिति का ध्यान रहे। **"ना पुट्ठो वागरे किंचि"**—विना पूछे कुछ नही बोले—यह एक सूत्र हमारे जीवनक्रम को परिवर्तित कर सकता है। पर सामान्यत लोगो को बोलने का नशा सा होता है। बोले बिना रहा नही जाता। इसलिए ज्ञानियों ने कहा—**"वाचो वेगं"** वाणी का भी वेग होता है। वह प्रवाह रुकना नही चाहता। हम प्रत्यक्ष देखते है, बिलकुल छोटे बच्चे जो बोलने में असमर्थ होते है, वे भी होठों-होठों में कुछ बुदबुदाते रहते है। बुजुर्ग सन्त एक रूपक फरमाया करते थे—

एक बार देवलोक की गौ नन्दिनी आकाश-मार्ग से विहरण कर रही थी। पृथ्वी पर उसे जौ का खेत लहलहाता नजर आया। हरा-भरा खेत देखकर नन्दिनी के मुँह में पानी भर आया। वह खेत में आई और जो चरने लगी। जी भर कर जौ चरे और वापस देवलोक लौट गई। जौ का उसे ऐसा स्वाद आया कि वह प्रतिदिन उसी खेत मे आने लगी। रात के अंधेरे में कोई उसे देख भी नही पाता। जाट का पुत्र खेत की रखवाली के लिए खेत में ही सोया करता था। उसने सुबह जब चरा हुआ खेत देखा तो हैरान रह गया। खेत के सारे रास्ते पूर्ववत् बन्द थे, सारी रात वह पहरा देता रहा था, फिर यह सब कैसे हुआ? आखिर जौ चुराकर कौन ले गया? तीन-चार दिन निरन्तर ऐसा हुआ तो बहुत सारा खेत खाली हो गया। जाट का बेटा पूरी तरह चौकन्ना हो गया तथा उसने निश्चय कर लिया कि अब रात में एक मिनट भी नीद नही लूगा। रात को वह घूम रहा था और नन्दिनी आ उतरी। वह मस्ती से जौ चरने लगी। जाट के बेटे ने ज्यो ही देखा, वह लाठी लेकर उसे मारने दौड़ा। मनुष्य की भाषा में नन्दिनी ने कहा—अरे किसान! यह तो तेरा परम सौभाग्य है कि मैं

स्वर्ग का नन्दन वन छोड़कर तेरे खेत में आई हूँ। क्रोध में आकर जाट के बेटे ने कहा—जौ तू खायेगी तो हम क्या खायेंगे ? हमने खेत तेरे लिए तो नही वोया है ? भले ही तू देवलोक की गौ हो, मुझे इससे क्या मतलव ? नन्दिनी ने कहा—देवलोक में और सब कुछ उपलब्ध है, किन्तु ये हरे-भरे जौ के बूँटे नही। इनके बदले मैं तुम्हें कुछ भी दे सकती हूँ, पर जौ तो मैं अवश्य खाऊँगी।

मूर्ख जाट-पुत्र ने कहा—क्या जौ के बदले मुझे कुछ दे सकती हो ? नन्दिनी ने कहा—क्यों नहीं, जो इच्छा हो माँग लो। जाट-पुत्र ने कहा—मेरा मन लड्डू खाने को वहुत ललचाता है। हमारे यहाँ तो जौ-वाजरे की सूखी रोटी और छाछ ही नसीव होती है। यदि तुम मुझे लड्डू खिलाओ तो मैं तुम्हें जौ खाने की छूट दे सकता हूँ। दोनों के वीच समझौता हो गया। जब नन्दिनी जौ खाकर तृप्त हो गई तो वह अपनी पूँछ के सहारे आकाशमार्ग की सैर करवाती हुई उस जाट-पुत्र को स्वर्ग ले गई तथा वहाँ ऐसी मिठाइयाँ खिलाईं, जिनका उसने नाम तक भी नहीं सुना था। वह तृप्त हो गया तो नन्दिनी पूँछ के सहारे ही उसे वापस छोड गई।

अव यह रोज का क्रम वन गया। नन्दिनी जौ खाती और वह लड्डू जलेवी आदि स्वादिष्ट पकवान।

कुछ दिनों वाद एक दिन जाट स्वयं खेत पर आया। उसने देखा, लगभग आधा खेत खाली पड़ा है। फसल कहाँ गई ? उसने वेटे से कहा—खेत के इतने जौ कौन काट ले गया ? तुझे ढंग से चौकसी करनी चाहिए। यह हमारे पूरे परिवार के पेट पालने का साधन है। वेटा वोले तो क्या ? चुपचाप सुनता रहा। कोई सन्तोपजनक उत्तर न पाने से जाट समझ गया कि चोरी इसकी जानकारी में हुई है। उसने लट्ठ उठा लिया तो घवरा कर जाट के वेटे ने सारी वात उगल दी कि किस प्रकार उसका नन्दिनी के साथ सौदा तय हुआ है। किसान ने धमकाते हुए कहा—वेवकूफ ! खेत तो सवका है और लड्डू तू अकेला खाता है। यदि हम सवको लड्डू खिलाये तो वात वन सकती है अन्यथा नहीं। पुत्र ने कहा—मैं आज नन्दिनी से वात कर लूंगा।

रात को जव नन्दिनी खेत में उतरी तो किसान के वेटे ने सारी स्थिति सामने रखी और कहा कि खेत मेरा अकेले का नहीं, सवके साझे का है इसलिए लड्डू सवको खिलाने पड़ेंगे। नन्दिनी ने कहा—तुमने तो

देखा ही है, स्वर्ग में मिष्टान्नों की कोई कमी नहीं, चाहे सवको खिला दिए जाएँ । कल सवको बुला लेना ।

अगले दिन परिवार के छोटे-वड़े सभी सदस्य खेत मे इकट्ठे होकर वड़ी उमंग एव आतुरता से नन्दिनी की प्रतीक्षा करने लगे ।

इतने में नन्दिनी उतर आई । जौ चरने के पश्चात् सवको स्वर्ग ले जाने की व्यवस्था हुई । नन्दिनी ने कहा—किसान पुत्र ! तू सदा की भाँति मेरी पूँछ पकड लेना । उसके वाद एक व्यक्ति तेरे पाँव पकड़ लेगा, दूसरा उसके, तीसरा उस दूसरे के, इस भाति कतार वाँधकर सव चलेगे । जव नन्दिनी ऊँची उठी, उसने पूँछ पकड ली । वड़े भाई ने उसके पाँव पकड लिए, छोटे ने बड़े के पाँव पकड लिए । इस प्रकार वडी लम्बी पक्ति वन गई । नन्दिनी वायु वेग से आगे वढने लगी । जो व्यक्ति कुछ नीचे था, उसने किसान के पुत्र से पूछा कि हम सवको कहाँ ले जाया जा रहा है ? वहाँ के लड्डू कितने वड़े-वड़े है ? हम भूखे तो नही रह जाएँगे ? मूर्ख किसान-पुत्र को अपनी स्थिति का भान नही रहा । उसने शेखी वघारते हुए दोनों हाथों को खुला कर दिया कि—"इतने-इतने वड़े लड्डू वहाँ है ।" लड्डुओ का आकार वतलाने के उत्साह में नन्दिनी की पूँछ हाथ से छूट गई, सवके सव नीचे गिर पड़े, काल के गर्त मे समा गए । अनावश्यक वाचालता के कारण सवको प्राणो से हाथ धोने पडे ।

वाणी के प्रवाह में लोग इस प्रकार वह जाते है कि न कहने वाली वात भी कह डालते है तथा न प्रकट करने वाले रहस्य प्रकट कर देते है । उससे कभी-कभी भयकर अनर्थ हो जाता है । राजस्थानी भापा में एक कहावत है—

"निकली हलक से तो गई खलक से"

जो वात एक वार मुंह से निकल जाती है, वह सारी दुनिया मे फैल जाती है । जो निकल गई, उसे वापस नही लौटाया जा सकता । मनुष्य मर जाते है पर शब्द नही मरते । आज न द्रौपदी विद्यमान है, न दुर्योधन विद्यमान है, पर द्रौपदी के द्वारा दुर्योधन को कहे गए शब्द "अंधे वाप के वेटे भी अन्धे" अभी तक विद्यमान है और भविष्य मे भी जव-जव लोग महाभारत का इतिहास पढेगे इस वात को याद करेंगे । शताब्दियों तक ये शब्द विद्यमान रहेगे ।

इसलिए भापा का संयम अत्यन्त आवश्यक है । भगवन् ! आप कोई ऐसा सुगम रास्ता सुझाये कि मेरी यह साधना उज्ज्वलता को प्राप्त कर सके ।

हे धारू आज जीभड़ी ने खुल्ली नहीं छोड़ूं,
पण स्वाद मिल्यां खूब खूब भावै म्हारा प्रभुजी !
मै पंथ थांने पूछूंजी ।।

प्रतिदिन सोचता हूँ, आज खाद्य-संयम का प्रयत्न करूँगा, अपनी जिह्वा को उन्मुक्त नही रखूंगा, पर अवसर आने पर नियन्त्रण नही रह पाता। स्वादिष्ट वस्तु दिखाई देते ही यह अनियन्त्रित हो जाती है।

जिह्वा का बोलने में और खाने में—दोनों में उपयोग होता है। संस्कृत मे एक उक्ति है—

"जिह्वे ! प्रमाणं जानीहि, भोजने वचने तथा।"

जिह्वे ! भोजन में और वचन में तुझे प्रमाण जानना चाहिए। तुझे भान रहना चाहिए कि कितना खाना है तथा कहाँ कितना बोलना है ? इसलिए मुनियों के लिए वचन सम्वन्धी दो नियम है—वचन-गुप्ति और भाषा-समिति। मुनि मौन का आचरण करे तथा जहाँ बोलना पड़े, वहाँ अत्यन्त संयत व सीमित बोले। आप देखिए, जितने तत्त्व-चिन्तक होते है, वे कम बोलते है।

कहा जाता है कि महात्मा लाओत्से प्रतिदिन सुवह सैर करने जाते थे। उनका एक मित्र भी उनके साथ जाता था। मार्ग में जहाँ वह मित्र लाओत्से से मिलता, अभिवादन करता और साथ चल पडता। मीलों दूर वे दोनों साथ चलते पर विना वात किये मस्ती में घूमते रहते। जव वे वापस लौटते तो मित्र जहाँ से अलग होता, विदासूचक कोई शब्द बोलता और दोनों अपने-अपने रास्ते पर चल पड़ते। इन दो शब्दों के अतिरिक्त कभी उनका कोई वार्तालाप नहीं होता।

एक वार मित्र के यहाँ कोई मेहमान आया। उसने जब जाना कि मेजवान महात्मा लाओत्से के साथ सैर को जाते है तो उसने भी साथ में चलने की इच्छा व्यक्त की। मेजवान ने कहा—लाओत्से अपने नियमों के वड़े दृढ हैं। मैं उन्हें पूछकर ही आपको साथ चलने की स्वीकृति दे सकता हूँ। दूसरे दिन, जव वे अपने घर की ओर मुड़ने लगे तो मित्र ने पूछा कि मेरे एक मेहमान आपके साथ सैर का आनन्द लेना चाहते हैं। लाओत्से ने कहा—साथ चले, कोई वात नही पर अनावश्यक वात न करे। मित्र ने अपने मेहमान को वता दिया कि कल से आप हमारे साथ घूमने के लिए चल सकते है परन्तु इस एक वात का ध्यान रखें कि अनावश्यक वार्तालाप न करे। मेहमान ने हाँ भर ली और दूसरे दिन सवेरे वह भी साथ चल

पड़ा। जंगल के सुहावने वातावरण में प्रवेश करते ही नवागन्तुक का मन उछाले मारने लगा। उसने चाहा, कुछ बोलू, कुछ पूछू कुछ अपनी सुनाऊँ परन्तु अपने मेजवान की सख्त हिदायत होने के कारण वह एक शब्द भी नही बोला। आखिर वे एक पहाडी पर पहुँच गए। ठण्डी हवा का सुखद स्पर्श हुआ तो उसके मुह से सहसा निकल ही गया—"कैसी सुहावनी हवा आ रही है।" लाओत्से तथा उनके मित्र ने सुन लिया पर कोई उत्तर नही दिया। बात आगे नही बढी। वे आगे बढे। थोडी देर मे सूर्योदय हुआ। बालसूर्य का मोहक रूप देखकर फिर नवागन्तुक अपने आपको रोक नही पाया और उसने कहा—"कैसा स्वर्णिम सूर्य उदित हुआ है।" फिर भी दोनो साथी चुप रहे।

जब वापस लौटे और अलविदा कहकर अपनी राह पर मुडने लगे, तब लाओत्से ने कहा—कल इसे साथ मत लाना, बहुत बातूनी है।

यद्यपि उसने दो शब्द कहे थे, पर गहराई से सोचे तो उसे बोलने की आवश्यकता क्या थी। वायु का सुख-स्पर्श वे भी अनुभव कर रहे थे। सूर्योदय का दृश्य वे भी देख रहे थे। हम सदा ध्यान रखे, हम कितना सार्थक बोलते है और कितना निरर्थक! इस दृष्टि से देखा जाय तो हम बहुत अधिक बोलते है, जो सार्थक नही होता।

हमारे तीर्थकरों, गणधरों एवं आचार्यो के वचनो के लिए एक विशेषण आता है। "**आदेयवचन**" उनका वचन नितान्त आदेय—स्वीकार करने योग्य होता है। यह तभी सम्भव है, जब वह शब्द बिलकुल नपा-तुला, शिक्षाप्रद, सत्यपरक और सामयिक हो। वास्तव मे तो जोश या आवेग के साथ बोलना ही अपराध है। व्यक्ति को शान्त, नम्र शब्दो मे बोलना चाहिए।

जिह्वा के लिए दूसरी बात कही गई है कि वह भोजन की मात्रा को जाने। अक्सर स्वादिष्ट भोजन मिलने पर विज्ञ जन भी खाने का प्रमाण नही रख पाते। खाद्य पदार्थ देखते ही खाने की आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। जिह्वा का नियमन बहुत कठिन है। जैनागमो मे अन्त-प्रान्त-भोजी धन्ना मुनि को चौदह हजार सन्तो मे उत्कृष्ट स्थान प्राप्त हुआ। क्योंकि जीभ के नखरे अनेक है। उसे आम्ल, लवण, मधुर आदि अनेक रस चाहिए जो उसे जीत लेता है, वही उत्कृष्ट साधना कर सकता है।

कुछ लोग कहते है—जब तक भोजन मे तीन-चार सब्जियां न हो, चटनी-अचार न हो, पापड न हो, खाने का मजा नही आता। भोजनोत्तर-रात मुख-शोधन के लिए खाटा, गोली, चूर्ण, पान, सुपारी आदि भी

चाहिए। यह सब भोजन की आसक्ति का ही परिणाम है। कुछ भोजन-भट्ट तो स्वादिष्ट पदार्थ मिलने पर खाने की सीमा ही लाँघ जाते है। एक चौधरी का चुटकुला आता है—

एक बार एक ग्रामीण जाट किसी बड़े शहर में आ गया। सर्दी का मौसम था। एक हलवाई गरम-गरम जलेबियाँ उतार रहा था। उस चौधरी ने कभी वह मिठाई देखी नहीं थी। इसलिए हलवाई से पूछ लिया—भाई! तुम हाथों से गोल-गोल घुमाकर यह क्या मिठाई बना रहे हो? इसका नाम क्या है? ग्रामीण के अज्ञान का लाभ उठाते हुए हलवाई ने कहा-- इसका नाम "आकण-माकण" चक्रीदार है। चौधरी ने कहा—क्या तू मुझे इसका थोड़ा सा स्वाद चखाएगा? हलवाई ने जलेबी की एक मोटी सी साँख तोडकर चौधरी के हाथ पर रख दी। जलेबी का स्वाद चखते ही जाट उसे पेट भर खाने के लिए उद्यत हो गया। चौधरी ने कहा—भाई! यह आकण-माकण तो बड़ी रसदार है। अगर पेट भर खाना चाहूँ तो क्या दाम लेगा? उस जमाने में एक रुपया बहुत बड़ा होता था। एक रुपये में आठ-दस सेर मिठाई आ जाती थी। हलवाई ने सोचा—चौधरी आखिर कितनी खा सकेगा? अधिक से अधिक दो-तीन सेर खा जायेगा। हलवाई ने कहा—चौधरी! एक रुपया निकालकर इस ऊँचे पाटे पर रख दो, जब तुम्हारा पेट भर जाएगा, मैं यह रुपया उठा लूंगा। चौधरी ने कहा—शर्त मंजूर है। वह आसन जमा कर बैठ गया। जलेबी के "पावे" उतरने लगे। एक साथ आठ-दस गरम जलेबियाँ तैयार होती। चौधरी तो दबादब पत्तल साफ करने लगा। अगला "पावा" उतरने से पहले-पहले वह पिछली जलेबियाँ साफ कर जाता। इस प्रकार वह लगभग आठ-दस सेर जलेबियाँ खा गया। हलवाई हैरान था। उसने पूछा—चौधरी! क्या सलाह है? कितनी और खायेगा? चौधरी ने कहा—जल्दी कर, अगला पावा आने दे, अभी तो भूख "चेतनी" शुरू हुई है। हलवाई चक्कर में पड गया पर विवश था। शर्त के अनुसार बोल तो पाता नही। चौधरी चार-पाँच सेर जलेबियाँ और खा गया। आखिर जब चौधरी के उठने के कोई आसार नही दिखाई दिए तो हलवाई से रहा नहीं गया। उसने कहा—बेवकूफ! और कितनी खायेगा? चौधरी ने कहा—

आ तो चीज है आकण-माकण, इणमे पूरो रस।
आगे ही खल छह मण खायो, आ खास्यूं मण दस॥

तू क्या कहता है? एक बार खल (तेल निकालने के बाद तिल, सरसों आदि का बचा हुआ अंश) खाने की प्रतियोगिता मे मैं छह मन खा गया

था, तो यह तो आकण-माकण है, खूब रसदार है, यह तो पूरी दस मन खाऊँगा। हलवाई के धैर्य का वाँध टूट गया। उसने रुपया उठाकर फेंकते हुए कहा—चल उठ यहाँ से ! तू कोई आदमी है ? तू तो पूरा राक्षस है।

वात विनोद की है, पर इससे श्रोताओ को, पाठको को शिक्षा लेनी चाहिए।

इसलिए कहा—"स्वाद मिल्याँ खूब-खूब भावै म्हांरा प्रभुजी !" अव इस समस्या का समाधान आप ही सुझाइये। गीत आगे वढता है—

हे, सोचूं आज दूसरां री सूणस्यूं न निन्दा,
पण सुणणै मे कान सुख पावै म्हांरा प्रभुजी !
मै पंथ थांने पूछूंजी ॥

जव अध्यात्म की गहराई में गोता लगाता हूँ, सोचता हूँ किसी की निन्दा सुनूगा नही, पर प्रसंग आने पर वैसी वाते वड़े रस के साथ सुनने लगता हूँ। निन्दा करना और सुनना वहुत वडा पाप माना गया है, किन्तु पता नही क्या वात है ? पराई निन्दा सुनने में कानों को वड़ी तृप्ति मिलती है। यह ऐसा मीठा विष है कि खाना न चाहते हुए भी खाया जाता है। यह दुर्बलता वड़े-वड़े साधको में भी दृष्टिगोचर होती है।

हमने सुना, लन्दन में एक निन्दा-निषेधक सोसायटी है। जो उसका सदस्य वनता है, उसको ताला तीन वार खोलकर वन्द करने की विधि का निर्वाह करना पड़ता है। वह तीन वार यह सकल्प दोहराता है कि न मैं किसी की निन्दा वोलूगा और न सुनूँगा। निन्दा करना और सुनना दोनों महापाप माने गये है। कवीर साहव कहते है—"जुग-जुग जीओ निन्दक म्हांरा।" हमारे निन्दक युग-युग जीएँ, उनका कल्याण हो क्योकि वे हमारी शुद्धि का, सफाई का काम करते है। इसीलिए कवि ने कहा—

निन्दक नियरे राखिए, आंगन कुटी छवाय।
विन सावुन, पानी विना, निर्मल करे सुभाव ॥

एक संस्कृत के कवि ने तो व्याजस्तुति अलकार में वोलते हुए कमाल ही कर दिया। कहा है—

कुम्भभिन्नयुगलेन किल्विषम्, वालकस्य जननी व्यपोहति।
कण्ठ-तालु-रसनाभिरुज्झता, दुर्जनेन जननी व्यपाकृता: ॥

कवि कहता है कि दुर्जन ने, मेरे निन्दक ने तो मेरी माँ को भी पीछे छोड दिया है। माँ तो वच्चे की गन्दगी को फूटे घडे की "ठीकरियों" द्वारा वाहर गिराती है, पर दुर्जन कण्ठ, तालु और जीभ से गन्दगी वाहर

फैंकता है। यों वह कितना वडा हित करता है। अग्लान अव से गन्दगी उठाकर फेंकने में तो उसने मेरी माँ से भी वढ़कर आत्मीयता का परिचय दिया है।

साधारण आदमी की वात और है, साधक के लिए इस महापातक से वचना अत्यन्त आवश्यक है। आगे कहा गया—

> **हे, चिन्तूं आज आंखड़ी रो पाप नहीं लागै,**
> **पण चुपके सी चोट लग जावै म्हारा प्रभुजी !**
> **मै पंथ थांने पूछूंजी ॥**

चिन्तन करता हूँ कि आज आँखों का, कुत्सित दृष्टि का पाप न लगे, नेत्र-संयम रखू, पर हैरान हूँ कि चुपके से न जानते हुए भी चोट लग ही जाती है। आँखों में विकार आ ही जाता है। यह वहुत गहरी वात है। अक्षि-संयम साधक के लिए परमावश्यक है। आँखे वाहर के जितने पदार्थ देखती है फौरन उनका प्रतिविम्व भीतर जाता है। यह ऐसा प्रकृतिदत्त दर्पण है, जिसमें लाखों वस्तुएँ प्रतिविम्वित होती है और रील की तरह स्थायी रूप से अंकित हो जाती है। इसीलिये हम पूर्वदृष्ट वस्तु को देखते ही पहचान लेते है। वस्तु का दिखाई देना एक वात है और उन दृश्यों के पीछे सविकार वन जाना दूसरी वात है। दृष्टि-संयम का तात्पर्य यही है कि देखकर भी दृश्य के प्रति राग-द्वेषमय विकार उत्पन्न न होने देना। दृष्टि-संयम की साधना साधक के लिए वहुत उपयोगी है। देखना बुरा नहीं है, यदि आँखें निर्मल हों।

जैनागमों में एक शव्द आता है "दृष्टिकुशील"। जिसकी दृष्टि सविकार है, वह दृष्टिकुशील कहलाता है। "कुशील" शव्द वैसे अव्रह्मचर्य की कोटि में आता है। विकृत दृष्टियुक्त पुरुष शरीर से व्रह्मचर्य का पालन करता हुआ भी अव्रह्मचर्य का दोपी वन जाता है। दृष्टिकुशील व्यक्ति को प्रतिक्षण वासना घेरे रहती है। उसकी दृष्टि जहाँ टिकती है, वही रागासक्त, भोगासक्त हो जाती है। आँखों का वहुत वड़ा उपयोग है, पर ये ही आँखें मनुष्य को घोर पतन की ओर भी ले जाती है। एक पंजावी कवि ने वहुत सुन्दर गीत लिखा है—

> **ओ बन्दे ! रास्ता वेख के चल,**
> **मालिक ने दित्तियां अखियांने।**
> **पया थां थां ठोकर खांदा है,**
> **फिर अखियां किस लइ रखियाने।**
> **ओ बन्दे रास्ता .... ॥**

एक अक्ख कोडी दे मूलदी ए,
इक सोने नाल तुलदी ए,
है जहर ते अमरित अखियां विच
ए मरजां किसे न लखियां ने ।
ओ वन्दे रास्ता ……… ॥

कई मारे मर गए अखियां दे,
कई तारे तर गए अखियां दे ।
मै कुरवान उन्हां दीआं अखियां तो,
जिन्हां रव्व उत्ते आशा रखियाँने ।
ओ वन्दे रास्ता ………… ॥

ये आँखे मारने वाली भी हैं तारने वाली भी । साधक इस दुर्वलता से व्यथित होकर भगवान् से मार्ग पूछता है कि इस सूक्ष्म आघात से वचने का कोई उपाय वतलाइये ।

है, वातां तो है सोहरी, पण पालणे में दोहरी,
वासना रो वेग वल खावे म्हारा प्रभुजी,
मै पंथ थाँने पूछूंजी ॥

वोलना, चलना, सुनना, देखना आदि वाते वहुत साधारण सी लगती है । इन्हें वडा सुख-साध्य माना जाता है, पर आचरण मे ये वास्तव में दु:साध्य है । दुर्गम है । यदि गहराई से देखा जाय तो वड़े नियमो की अपेक्षा छोटे नियमो का पालन-आराधन कहीं कठिन होता है । मनुष्य वड़े झूठ से तो वच सकता है, पर भयहास्यवश वोली जाने वाली छोटी झूठ से वचना अत्यन्त कठिन है । शरीर से तो ब्रह्मचारी वना रहता है, पर मानस विकार प्रतिपल उद्वेलित करते रहते है । ताला तोड़कर चोरी तो चोर ही करते है, पर सामान्यत. किसी की छोटी वस्तु को इधर-उधर करना, किसी का हक-हिस्सा छीनना जैसी वातों से वचना कठिन होता है । खेत में हिरण, साभर, रोझ, गाय, वैल आदि को घुसने मे रोकना तो शक्य है लेकिन चूहे, टिड्डी, फाका आदि को रोकना दु.शक्य है । इसीलिए भगवान् महावीर शिष्य को शिक्षा फरमाते है—

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे, जयंसए ।
जयं भुञ्जन्तो भासंतो, पावं कम्मं न वंधइ ॥ —दश. ४/८

साधक यतनापूर्वक चले, ठहरे, बैठे, सोए, बोले, खाए। ऐसा करता हुआ वह पापकर्म का बन्ध नहीं करता। इसके लिए प्रत्येक क्रिया में सावधानी रखना, तन्मय होना अत्यन्त आवश्यक है। पर इसमें एक बड़ा अवरोध है—

वासना रो वेग बल खावै म्हांरा प्रभुजी !

बाह्य आचार-क्रिया का पालन करते हुए भी वासना का वेग मन्द नही पड़ता। वास्तव में वासना का निरसन अत्यन्त दुरूह है। वह सहजता से पकड़ में नही आती। वृत्तियाँ इस प्रकार चंचल बनती है, भावों में इस प्रकार उभार आता है कि सधे हुए योगी भी विचलित हो जाते है। अष्टावक्र ऋषि ने तो यहां तक कह दिया कि "वासना-मुक्ति ही मुक्ति है।" वासना-मुक्ति की असि-धारा पर चलते हुए जो पार हो जाते है, वे ही मुक्ति प्राप्त कर सकते है।

है, धन्य वॉ सन्तॉ नै, खड्‌गधार पर जो चालै,
म्हास्यूं पूरो चाल्यो नहीं जावै म्हांरा प्रभुजी ॥
मै पंथ थांने पूछूंजी ॥

उन सन्तों को "धन्य" है, वे परम वन्दनीय, श्लाघनीय एवं महनीय है जो इस वासनामुक्तिरूपी खड्ग धारा पर चलते हुए बिना डगमगाए पार हो जाते है। साधक कहता है—"म्हांस्यूं पूरो चाल्यो नहीं जावै" भगवन् ! मैं इस खड्‌गधारा को भलीभाँति पार करने में अक्षम हूँ, असमर्थ हूँ। इस पर मुझसे पूरी तरह चला नहीं जाता। जिसके पैर कमजोर होते है, वह बच्चा चलता-चलता ही गिर पडता है या बैठा-बैठा ही लुढ़क जाता है। ऐसी ही मेरी स्थिति है। प्रायः हम ऊपरी क्रियाओं पर अधिक ध्यान देते है। शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा, विहारचर्या आदि सभी को प्रत्यक्ष कष्टरूप लगते है। उपवास, अठाई, मासखमण आदि तप करने वालों को लोग गौरव की दृष्टि से देखते हैं। किन्तु ज्ञानियों की दृष्टि में ये सारे मात्र बाह्य तप है। प्रायश्चित्त, विनय, स्वाध्याय, ध्यान आदि को आभ्यन्तर तप माना गया है। ये सीधे आत्मा के साथ जुड़े है। वास्तव में ये आन्तरिक तप साधक के आत्माभिमुख बनने में बड़े सहायक है।

इसलिए यहाँ "खड्‌गधार" शब्द का प्रयोग किया गया है। वासना की तीक्ष्ण धारा से पीछा छुड़ाना अत्यन्त कठिन है। कबीर कहते है—

जोगारम को मारग वाँको,

सुई सारखो नाको ।

अर्थात् यह योग का मार्ग बहुत वक्र है, बड़ा टेढ़ा है, सूई की नोक जैसा तीक्ष्ण-सूक्ष्म है अथवा सूई की नोंक पर नाचने जैसा विपम है—दुष्कर है। योग की साधना वडी दुरूह है, यह वही साधना है जो—

वासनानुदयो भोग्ये, वैराग्यस्य परोऽवधिः ।

वैराग्य की उत्कृष्ट अवधि—चरम पराकाष्ठा यही है कि भोग्य पदार्थों में वासना का अनुदय वना रहे—वासना उदित न हो। भोग्य वस्तुएँ सामने होते हुए भी मन मे चचलता—अस्थिरता न आए। महा कवि कालिदास "कुमारसम्भवम्" में लिखते है—

"विकारहेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीरा"

विकार के हेतुओ के होते हुए भी जिनके चित्त विकृत नहीं होते, जो विकार के प्रवाह में नही वहते, वे ही वास्तव मे धीर है।

इसलिए वे सन्त, महात्मा, योगीजन धन्य है, जो अनुकूल भोग-सामग्री सम्मुख होने पर भी चंचल नही वनते।

महासती राजीमती को आज जो इतना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है, उसके पीछे उनकी इसी महानता के दर्शन होते है। एकान्त निर्जन वन, वर्पा ऋतु, गुफा का गुप्त स्थान और कुमार रथनेमि द्वारा भोग की याचना ! लेकिन इन सारी परिस्थितियो में महासती ने अपना नियन्त्रण नही खोया, प्रत्युत प्रवोधमय वाणी द्वारा कामविह्वल साधक रथनेमि को साधनाभिमुख वना दिया। यह अनूठा और चिरस्मरणीय उदाहरण है। आगमकार कहते है—

"अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवायओ"

जिस प्रकार उन्मत्त हाथी अकुश द्वारा नियन्त्रित किया जाता है, उसी प्रकार राजीमती ने उन्मत्त रथनेमि को धर्म मे सप्रतिष्ठ, सुस्थिर किया। उसे तत्क्षण अपने साधुत्व का भान हो गया। इसलिए यह पक्ति लिखी गई कि—

"धन्य वां सन्तां ने खड्गधार पर जो चालै ।"

पर प्रभो ! कृपया कोई ऐसा उपाय मुझे वतलाइए कि मैं इस खड्ग—तीक्ष्ण धार से पार हो सकूं।

अन्तिम पद्य है—

हे, आछो सो उपाय कोई सूचवो रे स्वामी।
वारी थांरी "चन्दनमुनि" जावं म्हांरा प्रभुजी!
मै पंथ थांने पूछूंजी ॥

स्वामी ! कोई अच्छा सा उपाय सूचित कीजिए, जिससे मेरी पूर्वोक्त समस्याएँ समाहित हो जाएँ। इसके लिए मैं वार-वार आपकी वलिहारी जाता हूँ।

इन जटिल उलझनों को कोई अनुभवी ही सुलझा सकता है। जो इस पथ से गुजरा हो, वही इसके घुमावों से पार होने का मार्ग दिखा सकता है। अनुभवी की सूझ वास्तव में बड़ी उपयोगी होती है।

एक गर्भवती महिला का प्रसवकाल समीप था। एक दिन पड़ौस में वन्दूक चलने की तेज आवाज आई और वह एकाएक वेहोश होकर गिर पड़ी। हृदय की गति मन्द होने लगी, शरीर ठण्ड होने लगा। महिला का जीवन वचने के आसार धूमिल पड़ने लगे। सारे परिजन घवरा गये। मिनटों में ही डॉक्टर-वैद्य इकट्ठे हो गये। डॉक्टरों ने परीक्षण किया पर कुछ समझ में नहीं आया। एक वृद्ध अनुभवी हकीम बैठा था। उसे वताया गया कि महिला ने ज्यों ही वन्दूक की आवाज सुनी, वह वेहोश हो गई। स्थिति का रहस्य उसकी पकड़ में आ गया। उसने कहा, इसके समीप एक वार फिर वन्दूक चलाओ। लोग समझ नहीं पाये कि यह क्या इलाज है ? पर और कोई चारा न देखकर उसके समीप वन्दूक छोड़ी गई और सचमुच महिला की स्थिति सुधरने लगी। कुछ ही क्षणों में वह पूर्व-स्थिति में लौट आई। होश आ गया। सव हैरान थे। यह कैसी रहस्यमय वीमारी है। हकीम ने कहा—वास्तव में यह कोई वीमारी नहीं है। जव जोर से शव्द हुआ, गर्भस्थ शिशु भय से कम्पित हुआ। उसकी मुट्ठियाँ खुलीं और जव वापस वन्द हुई तो माँ की कतिपय महत्वपूर्ण नसें उसकी मुट्ठी में आ गई, जिससे इसका रक्तप्रवाह अवरुद्ध हो गया। फलत. शरीर की यह स्थिति वन गई। जव वन्दूक का दुवारा शव्द किया गया तो वच्चे की मुट्ठियां खुली और वे नसें मुक्त हो गई। पुनः रक्त का प्रवाह चालू हो गया। यह होश में आ गई।

अनुभवी व्यक्ति इस प्रकार समस्या का समाधान पा लेते हैं, इन

खोज निकालते है। इसलिए स्वामी ! मुझे भी ऐसा उपाय बतलाइए कि यह वासना समाप्त हो जाए और साधना का मार्ग प्रशस्त बन जाए।

जहाँ हम उपायों की खोज करते है, प्रभु से मार्ग माँगते है, अपनी दुर्बलताओं को सरलता से उनके सामने रख देते है। वहाँ कोई न कोई अदृष्ट सकेत अवश्य प्राप्त हो जाता है।

जीसस क्राइस्ट कहते है—माँगो, मिलेगा। द्वार खटखटाओ, दरवाजा अवश्य खुलेगा। पर तुम्हारी पुकार अतरग होनी चाहिए। रोम-रोम की माग होनी चाहिए।

अतः हम अपनी माँग समर्पण-भाव से प्रभु के समक्ष रखते है और मार्ग प्राप्त होने की प्रतीक्षा करते है। □

१४

जीवा भक्त री कुटी में आकर चोर वड़ग्या ।
चोर वड़ग्या रे, वधारा पड़ग्या ।। जीवा० ध्रुव ।।

सारा खुल्ला मिलग्या द्वार, थो कुटिया में घोर अंधार ।
छा नीदा में चौकीदार, मन चाह्या फलग्या ।।जीवा०१।।

साच भाई रै मारी लात, दया वहिनी री कर दी घात ।
घर में खूब मच्यो उत्पात, गुण रा पूला जलग्या ।।जीवा०२।।

शील रो सोनो लीधो चोर, सुगुण रा जेवर लिया वहोर ।
चीज नहीं छोड़ी नई नकोर, हद नुकसान करग्या ।।जीवा०३।।

भूलग्या सगला घर को भान, देण लाग्या चोरां ने मान ।
गमाई चिदानन्द री शान, चोरां भेला रलग्या ।।जीवा०४।।

हुओ 'चन्दन' जब आत्मिक भान, पड़ी निज पर री जब पहचान।
चोरटा स्वयं थया हैरान, नौ-दो-ग्यारह करग्या ।।जीवा०५।।

तर्ज—म्हारा लाडला जंवाई

१४.

जीवा भक्त री कुटी में आकर चोर बड़ग्या

कहा गया है—

> **कामः क्रोधश्च लोभश्च देहे तिष्ठन्ति तस्कराः ।**
> **ज्ञानरत्नं हरन्त्याशु, तस्मात् जाग्रत ! जाग्रत ॥**

काम, क्रोध और लोभ—ये देह मे रहने वाले चोर है। चोरों का काम तो चोरी करना ही होता है। ये चोर ज्ञानरूपी जवाहरात चुराते रहते है। इसलिए जागो, जागो !

इसी भावना को उद्दिष्ट कर हमारा एक राजस्थानी गीत है, जो राजस्थान में प्रचलित एक राग के स्वरो में बँधा है—

> **जीवा भक्त री कुटी में आकर चोर बड़ग्या ।**
> **चोर बड़ग्या रे वघारा पड़ग्या ॥ ध्रुव ॥**
> **सारा खुल्ला मिलग्या द्वार, थो कुटिया मे घोर अधार ।**
> **छा नींदा में चौकीदार, मन चाह्या फलग्या ॥ १ ॥**

"जीवा भक्त" की कुटिया मे चोर घुस गये। उन्होने इस प्रकार चतुराई से सेंध लगाई कि दीवारों में वड़े-वड़े "वघारे" पड गये यानी सेध लगाकर चोरों ने दीवारो में से आने-जाने के वड़े-वड़े छिद्र—रास्ते वना लिये। चोरी वही होती है, जहाँ तीन प्रकार की असावधानी हो—सवसे पहले कोई द्वार खुला रह जाए, दूसरे मकान मे अन्धकार व्याप्त हो और तीसरे प्रहरी को नीद आ जाए।

जीवात्मा के घर मे भी चोरों का प्रवेश इन्ही तीन कारणो से हुआ है। प्रथम कारण है, सारे द्वारों का खुला रहना। इसका तात्पर्य है कि विना त्याग-प्रत्याख्यान किये जीव के पाचो आस्रव द्वार खुले रहते है। आस्रव वहते हुए झरनो का सूचक है। महोपाध्याय विनयविजयजी "आस्रव" की भीषणता व्यक्त करते हुए शान्त-सुधारस भावना मे कहते है—

यथा सर्वतो निर्झरैरापतद्भिः, प्रपूर्येत सद्यः पयोभिस्तटाकः ।
तथैवास्रवैः कर्मभिः संभृतोंगी, भवेद् व्याकुलश्चंचलः पङ्किलश्च ॥

—शा. सु. भा. ७/१

जिस प्रकार चारों ओर से गिरने वाले झरनों के जल से तालाव तुरन्त भर जाता है, परिपूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार आस्रव-रूप निर्झरों से कर्म-रूप जल के निरन्तर आगमन से यह अंगी—अपनी आत्मा व्याकुल, चंचल और पंकिल बन जाती है ।

सही अर्थ में कर्म-वन्ध के हेतु आस्रव ही हैं । वाचक-मुख्य उमा स्वाति "तत्वार्थ सूत्र" में लिखते है—

"मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्धहेतवः[1] ।"

मुख्य रूप से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग—ये पाँच आस्रव हैं । अवान्तर-भेदों के विस्तार में जाएँ तो आस्रव के २० और ४२ भेद भी किये गये है ।

द्वार जव तक खुले रहेंगे, नाले जव तक चालू रहेंगे, तव तक जल का आगमन होता रहेगा । जल-स्रोतों के खुले रहते तालाव रिक्त कैसे हो सकता है ? आने वाले स्रोतों के वन्द होने पर तालाव में रहे पानी को वाहर निकालने या सुखाने की कोई व्यवस्था की जा सकती है । ये आस्रव प्रतिक्षण आत्मा रूपी तालाव को पुण्य-पाप रूपी जल से भरते जाते है । अज्ञानी प्राणी हैरान है, तालाव खाली होने का कोई रास्ता नही सूझता । पुण्य और पाप के रूप में निरन्तर कर्म आत्मा के साथ सम्वद्ध होते है । कर्म पुण्य के रूप में वँधते है या पाप के रूप में । शुभ कर्म पुण्य कहे जाते है और अशुभ कर्म पाप । वन्धन का कारण दोनों ही है । इसलिए दोनों ही हेय है, त्याज्य है । पानी चाहे स्वच्छ हो या मलिन, तालाव के सूखने में दोनों समान रूप से वाधक है । जिस प्रकार तालाव मे जल के स्रोतों के गिरने से तालाव आन्दोलित, चंचल और पंकिल वनता है, उसी प्रकार पुण्य-पाप के कारण आत्मा व्याकुल, चंचल वनती है ।

संवर आस्रवों का निरोधक माना गया है अर्थात् आस्रवों के रुकने का नाम संवर है । कहा है—

"आस्रव-निरोधः संवरः[2] ।"

---

१. तत्वार्थ ८ सूत्र १   २. तत्वार्थ सूत्र ९. १

ये स्रोत जब बन्द हो जाते है, सवरण हो जाता है। "सवरणं संवरः"—जहाँ किसी प्रकार से शुभाशुभ कर्मो का आगमन नही होता। चौदहवे गुणस्थान में शैलेशी-अवस्था प्राप्त होने पर पूर्ण सवर होता है। यथार्थतया सवर की प्राप्ति सम्यक्त्व प्राप्त होने पर होती है। मिथ्या-दृष्टियों के किसी भी स्थिति में सवर नही होता। क्योकि जब तक मिथ्यात्व की गाँठ नही खुलती, ग्रन्थि-भेद नही होता, तब तक वह त्याग की यथार्थता कैसे समझ सकता है ?

आर्त्त रौद्रपरिणाम—पावक-प्लुष्ट-भावुक विवेकसौष्ठवे।
मानसे विषयलोलुपात्मनां, क्व प्ररोहति-तमां शमाङ्कुर ॥

—शा सु १/५

आर्त-रौद्र परिणाम रूप अग्निसे जिसका कल्याणप्रद विवेक दग्ध हो चुका हो, वैसी विषयासक्त मनोभूमि में वैराग्य का अकुर कैसे फूट सकता है ?

सतप्त भूमि मे कोई बीज पनप नही सकता। वहाँ वह तो दग्ध हो जाता है, जल जाता है। जिस मनोभूमि में—मानस मे राग-द्वेष की आग जल रही हो, मिथ्यात्व और अज्ञान की ज्वाला सुलग रही हो, उसमे शम का, वैराग्य का, ज्ञान का अकुर कैसे पनप सकता है ?

पाँचो आस्रवों में मिथ्यात्व को सबसे भीषण, कष्टदायक तथा भव-भ्रमण का मुख्य हेतु माना गया है। कहा भी है—

अज्ञानं खलु कष्टं, हिंसादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः।

प्राणातिपात आदि अठारह पापों में "मिथ्यादर्शन शल्य" पाप को महाकष्टकारक माना गया है। उसके हटे बिना सम्यक्दर्शन की प्राप्ति नही होती तथा सम्यक्दर्शन के प्राप्त हुए बिना सम्यक्ज्ञान की प्राप्ति असम्भव है। फिर सम्यक्चारित्र की तो कल्पना ही कहाँ की जा सकती है ?

इसलिए कहा गया कि आत्म-मन्दिर के द्वार खुले रह जाने के कारण उसमे काम, क्रोध आदि चोरो का प्रवेश हो गया है। एक दूसरा आशय और भी ध्वनित होता है कि अविरति-आस्रव के कारण आत्मा किसी प्रकार की विरति—त्याग या प्रत्याख्यान की ओर प्रवृत्त नही होती। उसको त्याग की बात ही नही सुहाती। वास्तव मे द्वार जहाँ खुले रहते है, वहाँ किसी भी अवाछित व्यक्ति का प्रवेश हो सकता है। तेरह द्वार के थोकड़े मे कहा गया है—

तालाव रे नालो ज्यूं जीव रे आस्रव ।
हवेली रे वारणो ज्यूं जीव रे आस्रव ।
नौका रे छेद ज्यूं जीव रे आस्रव ।

हवेली का द्वार यदि खुला पड़ा है तो उसमें कुत्ता भी घुस सकता है, गधा भी घुस सकता है, चोर-उचक्के भी घुस सकते है। नौका में छेद हो तो उसे डूबते क्या देर लगती है ? त्याग द्वारों का अवरोध है।

कई आधुनिक विचारों के व्यक्ति त्याग को, संकल्प को व्यर्थ मानते हैं। उनके अनुसार जिस कार्य को हम करते ही नही, उसका त्याग क्या है ? वह तो स्वतः ही त्यक्त है। पर ऐसी वात नही है। खुले और वन्द दरवाजे में वड़ा अन्तर है। खुले द्वार से आपको पता भी नही चलता कि कव कौन आया ? इसी प्रकार जिसे कोई नियम, सकल्प नहीं, वह कभी भी किसी संगति में या परिस्थितिवश फिसल सकता है। सकल्प में वड़ा वल है। वन्द दरवाजे को खोलकर हर व्यक्ति अन्दर घुसने का साहस नही कर सकता। संकल्प-शक्ति के तेज से हम वलवान् वनते है। दूसरे, जिस गुरु की साक्षी से त्याग किया गया है, उसका आत्मवल भी दुर्वल व्यक्ति को सुदृढ वनाने में सहायक होता है। सकल्प मे वडी चामत्कारिक शक्ति है, यदि उसका दृढता से पालन किया जाय। प्रतिकूलता आने पर भी जो कोई मार्ग न निकालकर सकल्प पर अडिग रहता है, उसकी प्रतिज्ञा नि सन्देह फलित होती है।

एक वार एक गाँव में सन्त आए। वहुत से लोग सत्सग का लाभ लेने वहाँ पहुँचे। नित्य सत्सग चलता, काफी व्यक्ति कथा-वार्ता—धर्मोपदेश सुनने वहाँ आते। एक दिन महात्मा ने सन्त-दर्शन के क्या लाभ है, तथा उसका क्या महत्त्व है—इस विषय पर प्रकाश डालते हुए कहा—यदि वास्तव में सन्त, सन्त है तो उनका दर्शन निदर्शन वन जाता है। उनके दर्शन से सात्त्विक जीवन जीने का मार्ग प्राप्त हो जाता है। जब आप दर्पण के सामने खड़े होते है तो आप अपना दर्शन करते है या दर्पण का दर्शन करते है ? दर्पण के सामने जाते ही वह आपको आपका चेहरा दिखला देता है। यही स्थिति सन्तो की है। उनके पास जाते है तो वे आपकी शक्तियों को, गुणावगुणो को आपके सामने स्पष्ट कर देते है। इसलिए दिन मे कम से कम एक वार सन्त-दर्शन अवश्य करना चाहिए।

सन्तों का उपदेश सुनकर वहुत से भक्तों ने प्रतिदिन सन्त-दर्शन का सकल्प लिया। कुछेक लोगों ने तो ऐसा नियम भी लिया कि हम सन्त-

दर्शन किये विना अन्न-जल ग्रहण नही करेंगे । उस दिन एक ऐसा आलसी सेठ भी व्याख्यान में आ गया था, जिसकी धर्म मे कोई रुचि नही थी । सभी साथियों ने उसको प्रेरित किया कि यह छोटा-सा नियम तो आप भी स्वीकार करे । सेठ सकल्प लेने को तैयार नही था । वह सोचने लगा—कौन एक नई आफत मोल ले । प्रतिदिन सवेरे उठते ही भाग-दौड करना अपने वश की वात नही । जव मित्रों ने वार-वार वाध्य किया तो उसने कहा—अच्छा, तुम लोग इतना कहते हो तो मैं एक नियम ले लेता हूँ । सन्तों को सम्वोधित करते हुए सेठ ने कहा—महाराज ! मैं दर्शन का नियम तो लूगा पर सन्त-दर्शन का नही । मेरी हवेली के सामने एक कुम्हार रहता है । उसके सिर के वाल उड गए है । उसकी चाँद के दर्शन मैं प्रतिदिन प्रात. अवश्य करूँगा और वैसा किये विना अन्न-जल ग्रहण नही करूँगा । सेठ की विचित्र प्रतिज्ञा सुनकर परिपद् खिलखिला उठी, पर सन्त वड़े अनुभवी थे । उन्होंने सोचा—प्रतिज्ञा तो प्रतिज्ञा ही होनी है । यदि सही रूप से पालन किया जाय तो अनाडी व्यक्ति भी रास्ते पर आ जाता है । इसलिए उन्होंने कहा—कोई वात नही, आप इसी सकल्प पर दृढ रहिए, शर्त एक ही है कि व्रत कभी खण्डित नही होना चाहिए । सेठ ने कहा—इसके खण्डित होने का कोई प्रश्न ही नही उठता । उसके सिर के दर्शन तो मुझे घर वैठे ही हो जाते है । मेरी हवेली कुछ ऊँची है, उसका घर नीचा है । जहाँ मैं सोता हूँ, वहाँ से उसका पूरा घर साफ दिखाई देता है । इसलिए प्राय उठते ही मुझे उसकी चाँद के दर्शन अनायास हो जाते है । सन्तो ने कहा—ठीक है, पर आप प्रतिज्ञा पर सदा दृढ रहिएगा । "अच्छा"—कहकर सेठ ने प्रतिज्ञा स्वीकार कर ली ।

समय वीतने लगा । प्रतिदिन सेठ प्रात उठते ही कुम्हार के घर की ओर झाँकता और प्रतिज्ञा पूर्ण हुई मानकर सन्तुष्ट हो जाता । मन ही मन अपनी बुद्धिमानी पर प्रसन्न होता कि मैंने कैसा सस्ता नियम लिया कि मुझे कुछ करना भी नही पडता है और सन्तों की वात भी रह गई ।

गर्मियो के दिन थे । एक सुवह कुम्हार चार वजे ही गधों को लेकर मिट्टी लाने के लिए तीन-चार मील दूर खदानों पर चला गया । वह गहरे गड्ढो मे उतरकर मिट्टी खोदने लगा । दैवयोग से कुम्हार को मिट्टी खोदते हुए एक "चरु" (धातु के घड़े) की नोक दिखाई दी । वह सोचा, यह क्या ? वह "चरु" के आस-पास की मिट्टी हटाने लगा । ज्यो ही मिट्टी हटते ही वह "चरु"—भारी वर्तन साफ दिखाई देने लगा । उसका [illegible]

हटाने पर ज्ञात हुआ कि वह अशर्फियों-स्वर्णमुद्राओं से भरा है। कुम्हार के हर्ष का पार नही रहा। वह सोचने लगा कि अब मेरा दारिद्र्य धुल गया। कोई दूसरा व्यक्ति यहाँ न पहुँच जाए, यह ध्यान रखते हुए वह चरु निकालने हेतु उसके पास की मिट्टी खोदने लगा। थोड़ी-थोड़ी देर में वह गड्ढे से बाहर निकलकर इधर-उधर झाँक भी लेता।

इधर सेठ यथासमय पर उठा। आँख खुलते ही कुम्हार के घर की ओर झाँका, पर कुम्हार नजर नही आया। दस-पाँच मिनट तो सेठ प्रतीक्षा करता रहा, फिर खड़े होकर उसकी स्त्री से पूछा—कुम्हारिन! आज कुम्हार कहाँ चला गया? कुम्हारिन बोली—वे तो आज मुह अँधेरे ही मिट्टी लाने के लिए खदानों पर चले गये है। सेठ ने पूछा—फिर वापस कब आएगा? कुम्हारिन ने कहा—खदाने यहाँ से तीन-चार मील दूर है. आते-आते साढे आठ या नौ तो बज ही जायेगे।

आज सेठ चक्कर में पड़ गया। बिस्तर में ही चाय पीने की आदत थी। चाय न पी सकने के कारण सेठ परेशान हो उठा। दो-ढाई घण्टे कुम्हार की प्रतीक्षा करना उसे असह्य प्रतीत होने लगा। सोचने लगा—इन सन्तो के पास तो जाना ही खतरे से खाली नही है। ये कही न कही उलझा ही देते है। आखिर सेठ ने निर्णय किया कि सकल्प तोडना तो ठीक नही, कुछ और उपाय सोचना चाहिए। सेठ की हवेली में घोड़ा बंधा था। उसने सोचा अभी घोड़े पर बैठकर उसे दौडाता ले जाऊँ, कुम्हार की नाँद देख आऊँ। सेठ घोड़े पर सवार होकर खदानों की ओर चल पड़ा। सेठ का तो खदानों के पास पहुँचना हुआ, इधर कुम्हार का चौकसी के लिए गड्ढे के बाहर निकलना हुआ। सेठ ने दूर से उसे देखते ही हाथ उठाकर हर्ष से कहा—बस, देख लिया, देख लिया, देख लिया। इतना सुनते ही कुम्हार भौचक्का रह गया। उसे लगा, मेरा "चरु" सेठ ने देख लिया है। अब यह जाकर सारे गाँव को खबर दे देगा तो गजब हो जाएगा। इतने श्रम से निकाली हुई सम्पत्ति राजा के घर चली जायेगी। क्योंकि भूमिगत द्रव्य का अधिकारी राजा को ही माना जाता है। कुम्हार ने सेठजी के पीछे दौड़ते हुए आवाज लगाई—सेठ! ठहरो! ठहरो! सेठ ने कहा—नही, मैंने तो देख लिया, देख लिया। कुम्हार ने जोर से कहा—अरे! मेरी बात तो सुनो मैं पास आता हूँ। चिल्ला क्यों रहे हो? सेठ रुका। कुम्हार समीप आया। कहा- सेठ! इस प्रकार शोर मचाकर मुझ गरीब को क्यों मरवाते हो? देख लिया देख लिया क्यों करते हो? आधा आपका और

आधा मेरा, बात को बढाओ मत। सेठ फौरन कुम्हार की बात ताड गया कि मामला कुछ दूसरा ही है। अनायास कुछ लाभ मिल रहा है। सेठ ने कुछ सोचकर कहा—यह कैसे हो सकता है ? कुम्हार ने कहा—मैं आधा हिस्सा आपको दे दूगा पर आप किसी के सामने बात मत कीजियेगा। चुपचाप दोनों खदान आये। स्वर्ण-मुद्राओ के रूप में भारी सम्पत्ति देखकर सेठ के हर्ष का पार न रहा। सेठ सोचने लगा—कि गुरु महाराज के नियम ने निहाल कर दिया। उन दिनो सेठ की आर्थिक स्थिति कुछ कमजोर चल रही थी। स्वर्ण-मुद्राओं का कोप मिल जाने से कुछ राहत मिली। सेठ एक दिन कुछ समय निकालकर उन्ही सन्तो के पास आया और कहने लगा—महाराज ! मुझे प्रतिदिन गुरुदर्शन का नियम दिला दीजिए। सन्तों ने मुस्कराते हुए पूछा—आज ऐसी क्या बात बनी ? आप नियम लेने के लिए कैसे आ गए ? सेठ ने सारी घटना सुनाई।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रतिज्ञाएँ हर दृष्टि से लाभप्रद सिद्ध होती है। अत जीवन में कुछ छोटे-मोटे ही सही, त्यागों का होना नितात आवश्यक है। जैसे पर्व-तिथियों में नवकारसी, प्रहर, एकाशन, उपवास, रात्रि-भोजन का त्याग आदि सब, द्वारो के अवरोध का ही प्रयास है। इससे साधक को स्मरण रहता है कि अमुक पर्व-तिथि है, मुझे कुछ सवर करना है, कुछ नियमन करना है। यदि यह विवेक नही है तो "सारा खुल्ला रहग्या द्वार" पद चरितार्थ हो जाता है।

चोरों के घुसने में दूसरा सहयोगी हेतु बना है—"थो कुटिया मे घोर अन्धार" घर में अन्धकार होना भी चोर के चोरी करने मे सहायक बनता है। अन्धकार में तो आँखों वाला भी अन्धा बन जाता है। पास पडी वस्तु भी दिखाई नही देती। चोर अक्सर अँधेरे का लाभ उठाकर ही घर मे प्रवेश करते है और अँधेरे में ही भागकर गायब होते है। इसीलिए कहावत चल पडी कि "चोर ने चानणो नही सुहावै" चोर को प्रकाश नही सुहाता, उसे तो अँधेरा ही अच्छा लगता है। आत्म-मन्दिर मे भी अज्ञान रूपी अन्धकार के कारण काम-क्रोध आदि तस्कर घुसते है। जब ज्योति प्रदायक गुरुओं का सयोग मिलता है, तभी इन चोरो से छुटकारा हो सकता है।

तीसरा हेतु है—"छा नीदा मे चौकीदार।" आत्म-सदन मे पहरा देने वाले प्रहरी निद्राघूर्णित हो रहे थे। यहाँ तो पहरा या चौकीदारी स्वय की ही काम आती है, किराये के चौकीदार यहाँ रखवाली नही कर सकते। हमने एक गीत में लिखा है—

थाँरी नींद तने ही उडाणी पड़सी।
चौकीदारी चन्दन लगाणी पड़सी॥

चेतन ! तुझे स्वयं जाग्रत रहकर इन तस्करों का सामना करना होगा। यह बिल्कुल सत्य है—

"नत्थि जागरतो भयं" —धम्मपद ३९

जागने वाले को भय नही है। चोर चाहे कितने ही भयंकर क्यों न हों, जागते हुए मनुष्य के यहाँ चोरी का साहस नही कर सकते।

घटना उस समय की है, जब हम बम्बई चातुर्मासिक प्रवास में थे। एक बार हम चुरू के रावतमलजी बाँठिया के फ्लैट मे कुछ दिनों के लिए ठहरे। यह फ्लैट नेपियनसी रोड पर बनी भावेश्वर बिल्डिंग की सातवी मंजिल पर है। बाँठियाजी ने उस समय उसे खरीदा ही था। उसी मजिल पर दो फ्लैट्स बीदासर के चोरड़िया बन्धुओं के भी थे। बम्बई में ऐसी सघन बस्ती है कि वहाँ प्रायः जगह का अभाव ही रहता है। वहाँ के लिए यह आम कहावत है कि "अहियाँ रोटलो मले पण ओटलो न मले।"

जिस फ्लैट मे हम रुके थे, उसके ठीक सामने के फ्लैट में एक भाई रहता था, जो फिल्मो मे हास्य-अभिनेता का काम करता था। एक दिन वह रात के समय हमारे पास आ बैठा। हँसोड़ तो हँसोड ही होते है। उनका तो धन्धा ही लोगों को हँसाने का है। प्रत्येक बात को वे ऐसे ढग से बोलते है कि सुनने वाले खिलखिला पड़ते है। हमारे सामने भी एक ऐसा ही प्रसग सुनाया। कहने लगा कि महाराजश्री ! एक बार मै अपने फ्लैट में अकेला सो रहा था। मध्य रात्रि मे दो चोर मेरे मकान मे घुस आये। दरवाजा बन्द करने में रही जरा-सी असावधानी के कारण, उन्हें मौका मिल गया। उनके पैरो की हलकी-सी आहट से ही मेरी आंख खुल गई। मैंने समझ लिया, ये दो आदमी चोरी के लिए आये है। मै नींद का बहाना किये पडा रहा। जिस गद्दे पर मैं सो रहा था, उसके पास ही चोरों ने चादर बिछाई और घर का कीमती सामान ला-लाकर वे उस पर रखने लगे। दोनों चोर बडी स्फूर्ति और दक्षता से बहुमूल्य सामान बटोर रहे थे। मैं उनसे आंख बचाकर थोड़ा-सा देख लेता और आंखे फिर बन्द कर लेता। बडी मुसीबत थी। यदि शोर मचाता तो मैं अकेला और वे दो, फिर बम्बई जैसे शहर में शोर सुनता भी कौन ? मेरा दिल [illegible] घबरा रहा था कि आज तो सब-कुछ चोर ले जायेंगे। मुझे एक युक्ति

सूझी । मैं सोया-सोया ही जैसे कोई नीद में "आलोट" रहा हो, थोडा-थोडा सरकता रहा और खिसकता-खिसकता वह गद्दा छोडकर चादर के ऊपर जा पहुँचा । करवट बदली और चद्दर पर चित्त पसर गया । चारों हाथ-पाँव इस प्रकार लम्बा दिये कि सारा सामान मेरे अपने नियन्त्रण में आ गया । चोर हैरान रह गये । मन ही मन तो मुझे गालियाँ भी दी होंगी कि कैसा बेअक्ल, बेहूदा आदमी है । नीद में सोया हुआ कहाँ तक सरक आया परन्तु उनका यह साहस नही हो सका कि मुझे दूसरी तरफ खिसकाकर वे सामान समेट लें । आखिर वे चादर को भी वही छोड़कर रफा-दफा हो गये । मुनि श्री ! मालिक के जागते हुए चोरी नही हो सकती ।

हमारे "आत्मभवन" में जो चोर घुसे है, वे भी इन स्थितियो के कारण ही प्रवेश कर पाए है—आस्रवरूप द्वार खुले रह गए, अज्ञान का घोर अन्धकार व्याप्त था तथा हम स्वय जागरित नही थे । अब यहा चोरो ने कैसा उत्पात मचाया, उसका वर्णन अगले पद मे किया गया है—

सांच भाई रे मारी लात, दया बहिनी री कर दी घात ।
घर में खूब मच्यो उत्पात, गुण रा पूला जलग्या ।
जीवा भक्त री कुटी मे आकर चोर वड़ग्या ।।

क्रोध, लोभ, मोह आदि तस्करो ने घर में प्रवेश पाते ही "सत्य भाई" पर लात का प्रहार किया । लात से मारना घृणापूर्ण अपमान का सूचक है । लोभरूपी चोर जहाँ आसन जमाना चाहता है, वह सत्य को लात मारता ही है । क्योकि उसे तो असत्याचरण पर ही फलना-फूलना है ।

क्रूरता रूपी राक्षस ने दया भगिनी की घात कर डाली । क्योंकि जहाँ हिंसा का प्रभुत्व स्थापित हो जाता है, वहाँ दया जीवित नहीं रह सकती । तस्करो ने सारे घर को अस्त-व्यस्त कर दिया तथा सद्गुणो की जो "बागर" एकत्र की हुई थी, उसमे आग लगा दी । अर्थात् इन दुर्गुणो के आते ही सद्गुण स्वय जलकर राख हो गये ।

शील रो सोनो लीधो चोर, सुगुण रा जेवर लिया बहोर ।
चीज नहीं छोड़ी नई नकोर, हद नुकसान करग्या ।
जीवा भक्त री कुटी में आकर चोर बड़ग्या ।।

जो शीलरूपी स्वर्ण था, उसे कामरूपी तस्कर ने चुरा लिया। सद्‌गुणरूपी आभूषण बटोर लिए। अधिक क्या कहा जाए, इन चोरों ने कोई काम की वस्तु नहीं छोड़ी। इस प्रकार इन्होंने आत्म-मन्दिर में भारी नुकसान किया। "आचार्य रत्नप्रभ रत्नाकर पंचविंशति का" में प्रभु के समक्ष आत्म-निवेदन करते हुए कहते हैं—

> दग्धोऽग्निना क्रोधमयेन दष्टो,
> दुष्टेन लोभाख्य-महोरगेण।
> ग्रस्तोऽभिमानाजगरेण माया—
> जालेन बद्धोऽस्मि कथं भजे त्वाम्।
>
> —रत्ना. पंच श्लोक ५

प्रभो! मैं आपका भजन कैसे करूँ? क्रोधरूपी अग्नि ने मुझे दग्ध कर डाला है। लोभ रूपी दुर्दान्त महासर्प ने मुझे डस लिया है, अभिमान रूपी अजगर ने मुझे निगल लिया है, मायारूपी जाल से मैं परिबद्ध हूँ, परिवेष्ठित हूँ। अब आपके भजन का अवसर ही कहाँ है? वास्तव में ये अन्तरंग-शत्रु निरन्तर भीषण उपद्रव मचाते रहते हैं और साधक को व्यथित करते रहते हैं। भक्त कवि सूरदास बड़े मार्मिक शब्दों में कहते हैं—

मो सो कौन कुटिल, खल कामी?

प्रभो! मेरा जैसा कुटिल, खल और कामी संसार में दूसरा कौन हो सकता है? कुटिलता, खलता और कामुकता—ये तीन दुर्गुण ऐसे हैं, जिनके द्वारा साधक प्रतिपद उत्पीड़ित होता रहता है। सनातन धर्म में षड्रिपुओं का वर्णन आता है। काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह एवं मत्सर[1] आत्मा के ये छह शत्रु माने गए हैं। जैनागमों में चार कषायों—क्रोध, मान, माया एवं लोभ को विशेष रूप से आत्मघाती माना गया है।

इन चोरों का घर में घुसना वास्तव में बड़ा अनर्थकारी सिद्ध हुआ है। चोरों का प्रवेश हुआ सो तो हुआ लेकिन साथ ही साथ एक बात और बड़ी शोचनीय बन गई। वह यह कि चोर घर के स्वामी बन बैठे। जो घर के स्वामी हैं, वे भी चोरों को अपना परम मित्र और निकट सम्बन्धी मानने लगे। अतः लिखा गया—

---

१ काम: क्रोधस्तथा लोभो मदमोहौ च मत्सरः।

[illegible]

भूलग्या सगला घर को भान, देण लाग्या चोरां ने मान।
गंवाई चिदानन्द री शान, चोरां भेला रलग्या।
जीवा भक्त री कुटी मे आकर चोर बड़ग्या।।

जव भी साधना के सम्वन्ध मे कोई चर्चा-प्रसंग चलता है तो कुछ लोग कहते है कि क्रोध तो मेरा स्वभाव है। उसे मै छोड़ ही नही सकता, या वासना को छोडना शक्य नही है अथवा लोभ को छोडना तो विल्कुल ही सम्भव नही है। यानी काम, क्रोध, लोभ आदि को हमने जीवन का अनन्य अंग मान लिया है।

जैनागम के दो शब्द है—स्वभाव और विभाव! जो तीनों काल साथ रहता है, कभी पृथक् नही होता, वह स्वभाव है। जो केवल कुछ समय के संयोग से साथ है, वह विभाव है। विभाव कभी आत्मा के साथ एकरूप नही हो सकता। वह विकृति उत्पन्न करता है। आत्मा के साथ कभी उसका तादात्म्य नही होता। पानी की आपने वर्फ जमा दी। परन्तु वह वर्फ रूप उसका स्वभाव नही है। वह उसकी वैभाविक परिणति है। धीरे-धीरे पानी फिर मूल रूप में आ जायेगा। स्वभाव-विभाव को हम गहराई से पकड़े। जीव का स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा है। ज्ञान-दर्शन से वह कभी पृथक् हुआ नही, है नही, होगा नही। काम, क्रोध आदि चाहे किसी पर कितने ही हावी हों, फिर भी वह क्षणिक है। उनको छोड़े विना आप सुख से खा नही सकते, चैन से सो नही सकते। विभाव कितने ही भीषण रूप में साथ जुड़े हो, पर आखिर इनका पृथग्भाव निश्चित है। मनुष्य शान्ति से सौ राते काट सकता है, पर क्रोध के आवेग मे एक रात कटना कठिन हो जाता है।

वम्वई प्रवास के समय एक वार हम पारला मे श्री नगीनभाई-सुशीला वहिन के बंगले में ठहरे। उसी वगले के पास सुशीला वहिन के मामाजी भी रहते थे। रात के समय वे धार्मिक वार्तालाप हेतु हमारे पास आए। तेरापथ की मान्यता के सन्दर्भ मे दान-दया पर चर्चा चली। उन्होंने कुछ प्रश्न पूछे। हमने वतलाने की, समझाने की चेष्टा की, पर हमारा उत्तर सुनते ही वे एकदम उत्तेजित हो उठे। आवेग के साथ वे कुछ ऐसे शब्द वोल गए, जो उन्हें नही वोलने चाहिए थे। हम शान्त भाव से सुनते रहे। वे उसी उत्तेजना की स्थिति में वहाँ से उठकर अपने घर चले गए। दूसरे दिन उनकी गृहिणी हमारे पास आई तो हमने पूछा—आज सेठ कैसे नही आए? वहिन ने कहा—क्या आएँ? कल वे इतने उत्तेजित हो गए

जो शीलरूपी स्वर्ण था, उसे कामरूपी तस्कर ने चुरा लिया। सद्‌गुणरूपी आभूषण बटोर लिए। अधिक क्या कहा जाए, इन चोरो ने कोई काम की वस्तु नही छोड़ी। इस प्रकार इन्होंने आत्म-मन्दिर में भारी नुकसान किया। "आचार्य रत्नप्रभ रत्नाकर पचविंशति का" में प्रभु के समक्ष आत्म-निवेदन करते हुए कहते हैं—

दग्धोऽग्निना क्रोधमयेन दष्टो,
दुष्टेन लोभाख्य-महोरगेण।
ग्रस्तोऽभिमानाजगरेण माया—
जालेन बद्धोऽस्मि कथं भजे त्वाम्।

—रत्ना. पंच. श्लोक ५

प्रभो! मैं आपका भजन कैसे करूँ? क्रोधरूपी अग्नि ने मुझे दग्ध कर डाला है। लोभ रूपी दुर्दान्त महासर्प ने मुझे डस लिया है, अभिमान रूपी अजगर ने मुझे निगल लिया है, मायारूपी जाल से मै परिवद्ध हूँ, परिवेष्ठित हूँ। अब आपके भजन का अवसर ही कहाँ है? वास्तव में ये अन्तरंग-शत्रु निरन्तर भीषण उपद्रव मचाते रहते है और साधक को व्यथित करते रहते है। भक्त कवि सूरदास बड़े मार्मिक शब्दो में कहते है—

मो सो कौन कुटिल, खल कामी ?

प्रभो! मेरा जैसा कुटिल, खल और कामी ससार में दूसरा कौन हो सकता है? कुटिलता, खलता और कामुकता—ये तीन दुर्गुण ऐसे हैं, जिनके द्वारा साधक प्रतिपद उत्पीड़ित होता रहता है। सनातन धर्म में षड्‌रिपुओं का वर्णन आता है। काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह एवं मत्सर[1] आतमा के ये छह शत्रु माने गए है। जैनागमों में चार कषायों—क्रोध, मान, माया एव लोभ को विशेष रूप से आत्मघाती माना गया है।

इन चोरों का घर में घुसना वास्तव मे बडा अनर्थकारी सिद्ध हुआ है। चोरों का प्रवेश हुआ सो तो हुआ लेकिन साथ ही साथ एक वात और बड़ी शोचनीय वन गई। वह यह कि चोर घर के स्वामी वन वैठे। जो घर के स्वामी है, वे भी चोरों को अपना परम मित्र और निकट सम्वन्धी मानने लगे। अतः लिखा गया—

---

१. कामः क्रोधस्तथा लोभो मदमोहौ चमत्सरः।
सं. हि. कोष, आप्टे पृ. १०४४

भूलग्या सगला घर को भान, देण लाग्या चोरां ने मान।
गंवाई चिदानन्द री शान, चोरां भेला रलग्या।
जीवा भक्त री कुटी मे आकर चोर वड़ग्या ।।

जव भी साधना के सम्वन्ध में कोई चर्चा-प्रसंग चलता है तो कुछ लोग कहते है कि क्रोध तो मेरा स्वभाव है। उसे मैं छोड ही नही सकता, या वासना को छोड़ना शक्य नही है अथवा लोभ को छोड़ना तो विल्कुल ही सम्भव नही है। यानी काम, क्रोध, लोभ आदि को हमने जीवन का अनन्य अंग मान लिया है।

जैनागम के दो शब्द है—स्वभाव और विभाव। जो तीनों काल साथ रहता है, कभी पृथक् नही होता, वह स्वभाव है। जो केवल कुछ समय के सयोग से साथ है, वह विभाव है। विभाव कभी आत्मा के साथ एकरूप नही हो सकता। वह विकृति उत्पन्न करता है। आत्मा के साथ कभी उसका तादात्म्य नही होता। पानी की आपने बर्फ जमा दी। परन्तु वह बर्फ रूप उसका स्वभाव नही है। वह उसकी वैभाविक परिणति है। धीरे-धीरे पानी फिर मूल रूप में आ जायेगा। स्वभाव-विभाव को हम गहराई से पकड़े। जीव का स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा है। ज्ञान-दर्शन से वह कभी पृथक् हुआ नही, है नही, होगा नही। काम, क्रोध आदि चाहे किसी पर कितने ही हावी हों, फिर भी वह क्षणिक है। उनको छोड़े बिना आप सुख से खा नही सकते, चैन से सो नही सकते। विभाव कितने ही भीषण रूप में साथ जुड़े हों, पर आखिर इनका पृथग्भाव निश्चित है। मनुष्य शान्ति से सौ राते काट सकता है, पर क्रोध के आवेग मे एक रात कटना कठिन हो जाता है।

बम्वई प्रवास के समय एक बार हम पारला मे श्री नगीनभाई-सुशीला बहिन के बगले में ठहरे। उसी बगले के पास सुशीला बहिन के मामाजी भी रहते थे। रात के समय वे धार्मिक वार्तालाप हेतु हमारे पास आए। तेरापथ की मान्यता के सन्दर्भ मे दान-दया पर चर्चा चली। उन्होने कुछ प्रश्न पूछे। हमने बतलाने की, समझाने की चेष्टा की, पर हमारा उत्तर सुनते ही वे एकदम उत्तेजित हो उठे। आवेग के साथ वे कुछ ऐसे शब्द बोल गए, जो उन्हें नही बोलने चाहिए थे। हम शान्त भाव से सुनते रहे। वे उसी उत्तेजना की स्थिति में वहाँ से उठकर अपने घर चले गए। दूसरे दिन उनकी गृहिणी हमारे पास आई तो हमने पूछा—आज सेठ कैसे नही आए? बहिन ने कहा—क्या आएँ? कल वे इतने उत्तेजित हो गए

कि उनको सारी रात नींद नहीं आई। हमने कहा—हम तो बड़े सुख से सोए, मीठी नींद आई। जो कुछ कहा गया, वह तो हमको कहा गया था, उन्हें नींद क्यों नहीं आई ?

मूल आशय यही है कि वैभाविक आवेगों से व्यक्ति स्वयं उत्पीड़ित होता है, दुःखी बनता है। जितने ही हम सहज स्थिति में रहते है, सुखी एवं शान्त बन जाते हैं। यह कहना नितान्त मिथ्या है कि हमसे बीड़ी छूटना या शराब छूटना असम्भव है अथवा क्रोध आदि के आवेग से बच पाना असाध्य है। हम कहते हैं—असाध्य, असम्भव कुछ नहीं। हाँ, दुःसाध्य हो सकता है। पर यदि कोई सुगुरु मिल जाए, कोई युक्ति बतला दे तो इन आवेगों का भी उपचार हो सकता है।

चोरों के साथ यदि हम स्वयं भी सम्मिलित हो जाएँ तो फिर स्थिति दयनीय होनी ही है, फिर तो चौरासी के चक्रों का अन्त आना सचमुच कठिन है। लोहे के साथ एक हो जाने के बाद अग्नि को घनों की भारी चोटें सहनी ही पडती हैं। शुद्ध अग्नि पर चोट कौन कर सकता है, पर लुहार जब लोह-पिण्ड को तपाकर अग्निमय बना देता है तो लोहे के साथ-साथ अग्नि भी पीटी जाती है। इसी प्रकार वैभाविक तत्त्वों के संयोग के कारण आत्मा को क्लेश उठाना पड़ता है।

अन्तिम पद्य में कहा गया—

हुओ "चन्दन" जब आत्मिक ज्ञान, पड़ी निज पर री जब पहचान।
चोरटा स्वयं थया हैरान, नौ दो ग्यारह करग्या।
जीवा भक्त री कुटी में आकर चोर बड़ग्या॥

जब भव-परिणति का परिपाक होता है या सद्गुरु का सयोग मिलता है, आत्मा को अपने स्वरूप का भान हो जाता है। आचार्य उमास्वाति तत्त्वार्थ सूत्र में लिखते हैं—सम्यक्त्व प्राप्ति के दो कारण है—

"तन्निसर्गादधिगमाद् वा[1]।"

सम्यक्त्व निसर्ग से और अधिगम से प्राप्त होता है। जैसे घिसता-घिसता कोई पत्थर स्वयं शंकर बन जाए, वैसे ही अनुद्दिष्ट प्रयत्न के फलस्वरूप सहजतया सद्दर्शन, सद्बोधमूलक ज्योति—किरण का उद्गम निसर्गज सम्यक्त्व है। मरुदेवी माता जैसी कुछ आत्माएँ ऐसी होती हैं,

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र १.३

जो सहजरूप में ऊंची उठती-उठती उस स्थिति में पहुँच जाती है, जहाँ मिथ्यात्व, मोह एव अज्ञान के आवरण स्वत टूट जाते है।

कुछ राजा प्रदेशी जैसी आत्माएँ होती है जो परोपकारी गुरुओं की चोट खाकर ग्रन्थिभेद में सक्षम हो जाती है। प्रदेशी क्रूर, हिसक, आततायी और नास्तिक राजा था। केशी स्वामी का सान्निध्य पाकर वह सम्यक्त्व के योग्य बना, श्रावक-धर्म स्वीकार कर पचम गुणस्थान का अधिकारी बना। यहाँ से मृत्यु प्राप्तकर सूर्याभदेव बना तथा आगे भव-परम्परा का अन्त कर सिद्ध-बुद्ध मुक्त बनेगा।

इसे अधिगम सम्यक्त्व कहते है। स्व-पर का विभाजन होने पर ही आत्मा की यह स्थिति बनती है। वास्तव में स्व-पर का भेद ही सम्यक्त्व है। यह भेद-ज्ञान होते ही चोर स्वय हताश होकर भाग छूटते है। फिर उनको अवकाश कहाँ? मालिक की बिना सम्हाल ही दूसरो का कब्जा रह पाता है। मालिक जागरूक हो जाए, फिर चोरों की दाल नही गल सकती। उस द्वारा अधिकृत वस्तुओ पर किसी का अवैध अधिकार नही रह सकता।

एक बडा सेठ था। खूब बडा बहुमजिला भवन था। सेठ स्वयं परिवार सहित कही परदेश में रहता था और उस मकान मे कई किरायेदार रहते थे। बहुत वर्षो तक सेठ मकान की सम्हाल के लिए नही आ सका। किराया भी वसूल नही हुआ। धीरे-धीरे किरायेदारों ने मकान पर अपना हक जताना शुरू कर दिया। वे मालिक बनने के स्वप्न देखने लगे। एक बार सेठ वहाँ आया, देखा कि किरायेदार तो अपने आपको मकान मालिक मानने लगे है। सेठ ने न्यायालय में अपील की, अपने प्रमाण-पट्टे आदि प्रस्तुत किए। आखिर अवैध अधिकार जमाये बैठे उन किरायेदारों को मकान छोडकर जाना पडा।

यही स्थिति आत्मा की है। हम जब तक बेभान है, तब तक यह चोर अधिकार जमाए बैठे रहते है। हमारे जागते ही इन्हें भागना पड़ता है। अत. हमें जागरित होकर, अपने स्वरूप में स्थित होकर इन चोरो को बाहर धकेलना चाहिए। इस बात को कभी सोचना तक नही चाहिए कि यह चोर कैसे जायेगे या नही जायेगे। हमारा पुरुषार्थ जाग जायेगा तो इन्हें हटना ही होगा। इसलिए हम अपने पुरुषार्थ को जगाये, आत्म-सदन में आ जमें और इन चोरों को धकेल कर बाहर करे।



१५

थाँरों जीतव है दिन चार, भगत बणज्या रे भाई !
है जाणो आखिकार, भगत बणज्या रे भाई !
सन्त करै पड़कार, मिनख देही नहिं बारम्बार ।।
भगत····।।ध्रुव।।

आ दुनियाँ धोके की टाटी, रंग रंगीली लागै ।
खेल तणी माखी री उपमा, सन्त लगाई आगै रे ।
सन्त लगाई आगै ।
ओ संसार असार, सार मानै वो खावै हार ।
भगत ··।।१।।

धन भूमि में, पशु बाड़ा में, रही द्वार पर नारी ।
परिजन सब श्मशान भूमि में, देह चिता में छारी रे।
देह चिता में छारी ।
पुण्य-पाप ही लार, और नहिं चलै साथ में तार ।।
भगत ···।।२।।

सुणस्यू-सुणस्यू कहता साहजी, मर्‌या एक-दिन सटकै ।
विचलै वासे व्यास कहै अब, कथा सुणो वेखटकै रे ।
कथा सुणो वेखटकै ।
पूर्ण हुया सब कार, आज ही अवसर लियो उदार ।।
भगत ··।।३।।

आसी काल सभां जाणै, कुण जाणै कद ओ आवै ।
आखी रात चोर रो पहरो, पण राख्यो ही चावै ।
पण राख्यो ही चावै ।
तूं बण रे पहरेदार, नींदवश मत बण वेदरकार ।।
भगत ··।।४।।

'चन्दन' की मानो तो अब ही करल्यो जो है करणो ।
एक मिनट नहिं ठहरै ओ है बस पर्वत रो झरणो रे ।
बस पर्वत रो झरणो ।
सत्य-अहिंसा धार, राख विश्वास, हुवेला पार ।
भगत ।।५।।

तर्ज—भगत भर दे रे झोली

१५.

भगत बणज्या रे भाई !

समणसुत्त मे कहा गया है—

जय वीयराय ! जय गुरु ! होउ मम तुह पभावओ भयवं ।
भवणिव्वेओ मग्गाणुसारिया इट्ठफलसिद्धी ।।

—श्लोक २२

हे वीतराग ! हे जगद्गुरु ! हे भगवन् ! आपके प्रभाव से मुझे संसार से निर्वेद-वैराग्य, मोक्ष मार्ग का अनुसरण तथा इष्टफल की प्राप्ति हो ।

हमारे दर्शन का साध्य है ससार से विरक्ति और मोक्ष की प्राप्ति । हमारे सारे क्रिया-कलाप इसी ध्येय को प्राप्त करने के साधन है । मोक्ष-प्राप्ति के लिए ही हमारा सारा पुरुषार्थ नियोजित है, सारे संकल्प है । यह मनुष्य-भव सुदुर्लभ है । प्राप्त होने पर भी चिरस्थायी नही है । इसलिए इसके माध्यम से हम विना एक क्षण व्यर्थ गँवाए मोक्ष की आराधना करे, यही इसकी सार्थकता है ।

हमने एक भजन लिखा है—

थांरो जीतव है दिन चार, भगत बणज्या रे भाई ।
है जाणो आखिरकार, भगत बणज्या रे भाई !
सन्त करे पड़कार[1], मिनख देही नहिं बारम्बार ।
भगत बणज्या रे भाई ।।

सत आशीर्वाद देते है—भाई ! भक्त वनो ! यह जीवन चार दिनों का है, आखिर यहाँ से जाना है । यह मानव-देह बार-बार मिलने वाली नही है । किसी भौतिकवादी व्यक्ति के मन में शका उठ सकती है कि सतो ने यह क्या आशीर्वाद दिया ? यदि आशीर्वाद ही देना था तो बहुत सारी

---

१ ललकार

बातें थीं—धनवान् बनो, सत्तावान् बनो, पुत्रवान् बनो, सौभाग्यशाली बनो, कवि बनो, वक्ता बनो, लेखक बनो, व्याख्याता बनो आदि-आदि। "भक्त बनो" यह तो अनोखा ही आशीर्वाद है। लेकिन यह बहुत गहरी बात है। इस विषय में गहन चिन्तन की आवश्यकता है। धनवान्, सत्तावान् तो हम अनेक बार बन चुके हैं पर भक्त बनने का सुअवसर स्यात् कभी प्राप्त नहीं हुआ। भक्त बनना कोई साधारण बात नही है। भगवान् का भक्त और प्रिय बनने के लिए बहुत गहराई और ऊँचाई पर पहुँचना होता है। गीता में योगेश्वर कृष्ण कहते है--

सन्तुष्टः सततं योगी, यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो य. स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष, उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भ-परित्यागी, यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि, न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभपरित्यागी, भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

—भ० गीता १२/१४, १५, १६, १७

वह मेरा भक्त है और मुझे प्रिय है, जो निरन्तर योगयुक्त रहता हुआ लाभ-हानि में सन्तुष्ट है, जो मन, इन्द्रियों और शरीर को वश में किये है, दृढ़ निश्चयी है तथा जो अपना मन और बुद्धि मुझे समर्पित कर चुका है।

जिसके द्वारा कोई भी प्राणी उद्वेग को प्राप्त नही होता तथा किसी प्राणी के व्यवहार से जो स्वयं उद्विग्न नही होता, जो हर्ष, क्रोध, भय, उद्वेग आदि से मुक्त है, जो अनपेक्ष है—आकांक्षा रहित है, शुद्ध है, दक्ष है तथा संसार की विषय-वासना से उदासीन है, जो दु खों से छूटा हुआ है एवं सब प्रकार के आरम्भों का जिसने परित्याग कर दिया है, वह मेरा भक्त है।

जो अनुकूलता में हर्षित नही होता, प्रतिकूलता में द्वेष नही करता, न चिन्ता करता है, न कामना करता है, जो शुभ और अशुभ—समस्त कर्मों के फल का त्याग कर चुकता है, वह मेरा भक्त है, मुझे प्रिय है।

कितनी विशेषताएँ धारण करने पर भगवान् की भक्ति प्राप्त होती है, व्यक्ति प्रभु-भक्ति का अधिकारी बनता है। जिसके भीतर विकार भरा

है, जो आशा-तृष्णा के जाल में फँसा है, वह भगवान् का भक्त कैसे हो सकता है ?

"भक्त" शब्द "**भज् सेवायाम्**" धातु से बनता है। जो प्रभु का सच्चा सेवक है, उसे भक्त कहा जाता है। जो भगवान् के प्रति सर्वात्मना समर्पित होता है, वह भक्त होता है। उसकी कोई इच्छा नही होती, वह सर्वथा निरभिमानी होता है। गीता में एक पद आया है—

"मय्यर्पितमनो बुद्धि."

जिसने मन और बुद्धि को प्रभु के चरणों में समर्पित कर दिया है, वह भक्त है। उसका अपना कोई तर्क नही, कोई दलील नही, न किसी बहस से उसका कोई वास्ता है। प्रभु जैसे रखे, उसे तो उसी में आनन्द है।

भक्त कोई भाग्यशाली ही हो सकता है। अन्य सभी धन, वैभव, सत्ता आदि से सम्बद्ध विशेषण सुलभ है, किन्तु भक्त का विशेषण बड़ा दुर्लभ है। पजाब, हरियाणा में गॉव-गॉव में एक-दो व्यक्ति ऐसे मिल ही जाते है, जो पूरे गाव में "भगतजी" के नाम से जाने जाते है। लेकिन कवि किशन अपनी बावनी में कहता है—

जौ लौ भग तजी ना, तौ लो भगतजी ना।

जब तक भग—विषय-भोगों का त्याग नही किया, तब तक कोई "भगतजी" नही बन सकता। सच्चा भक्त वही कहलाता है, जो विषय-वासना से उपरत हो जाता है। वासना से उपरत होना अन्त साधना का परिणाम है। अत यह भक्त बनने का आशीर्वाद बहुत गहरा है, महत्त्वपूर्ण है। कहा है—

है जाणो आखिरकार, भगत बणज्या रे भाई !
सन्त करै पड़कार, मिनख-देही नहीं वारम्वार ॥

आखिर तो यहाँ से जाना पड़ेगा। यह मनुष्य शरीर बार-बार नही मिलने का। चौरासी लाख जीवयोनियों को पार करने पर मनुष्य-शरीर प्राप्त होता है। अत भक्त बनने का यही अवसर है। गाय, भैस, ऊँट आदि जीव भक्त नही बन सकते। उनमे भक्ति की भावना ही उत्पन्न नही हो सकती। शंकराचार्य कहते है—

"मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।"

मोक्ष-प्राप्ति की कारणभूत सामग्री में—साधनों मे, उपायो में भक्ति

अति उत्तम है। इसलिए भक्ति का जो सुअवसर मनुष्य-भव में प्राप्त हुआ, उसका लाभ उठाना चाहिए।

आ दुनियाँ धोके की टाटी, रंग-रंगीली लागै।
खेल तणी माखी री उपमा, संत लगाई आगै रे
संत लगाई आगै।
ओ संसार असार, सार मानै वो खावै हार ॥
भगत वणज्या रे भाई !

यह दुनियाँ धोखें की टट्टी है। किन्तु यह जानते हुए भी बड़ी मोहक लगती है। जहाँ हम इस कच्ची टट्टी को पक्की दीवार मान लेते है, वही धोखा हो जाता है। थोड़ा-सा धक्का लगते ही वह नीचे आ गिरती है। टाटी की दीवार पर मंजिलें नहीं बनाई जा सकतीं।

यह संसार भी धोखें की टाटी है। इस संसार की माया में फँसने वाले के लिए श्लेष्म की मक्खी की उपमा दी गई है। श्लेष्म पर बैठी मक्खी न कुछ खा सकती है और न वहाँ से उड़ सकती है।

ज्ञानियों ने चार प्रकार की मक्खियाँ बतलाई है—

१. काकव (गीले गुड़) की मक्खी
२ गन्दगी की मक्खी
३. मिश्री पर बैठने वाली मक्खी
४ श्लेष्म की मक्खी

गीले गुड़ पर जो मक्खी बैठती है, उसे गुड़ का मिठास तो मिलता है, पर पंख चिपकने के कारण वापस उड़ नहीं पाती और वही की वही समाप्त हो जाती है।

गन्दगी की मक्खी को दुर्गन्धित स्थान और अपवित्र वस्तु मिलने के कारण स्वाद का कोई आनन्द नहीं आता, पर वह वापस उड़ सकती है।

मिश्री की मक्खी स्वाद भी ले लेती है और उड़ भी जाती है, पर श्लेष्म की मक्खी न स्वाद ले सकती है और न उड़ सकती है। पंख वहीं फँस जाने के कारण वह वहीं मर जाती है।

इसी प्रकार संसारी प्राणी क्षणिक भोगों में फँसकर न तो जीवन का आनन्द ले पाता है और न इस जंजाल से जीते जी छूट ही पाता है। इसी-लिए ज्ञानियों ने भोगासक्त प्राणियों को श्लेष्म की मक्खी की उपमा दी है।

संसार वास्तव में असार है। इसे सार मानने वाले अन्ततः हार खाते है। वैराग्य-शतक में लिखा है—

संसारम्मि असारे, णत्थि सुहं वाहि-वेयणा-पउरे।
जाणंतो इह जीवो, न कुणइ जिणदेसियं धम्मं॥

व्याधि-वेदना-प्रचुर संसार में कोई सार नहीं है। यह जानता हुआ भी जीव जिनोपदिष्ट धर्म का आचरण नही करता।

जिस प्रकार गन्ने का रस निचोड़ लेने के बाद जो छिलके बचते है, वे असार या नि.सार कहे जाते है, बाजरे के दाने निकालने के बाद जो भूसा बचता है, वह साररहित होता है, उसी भाँति यह संसार असार है। फिर भी अज्ञानी इसे सारवत्ता की दृष्टि से देखते है और इसमें भी सार निकालना चाहते है, जो असम्भव है।

एक राजा था। बड़ा बुद्धिहीन था। पूर्व राजा का उत्तराधिकारी होने से वह राजा तो बन गया, लेकिन उसका चिन्तन जरा भी बुद्धिगम्य नही था। इस पर भी विशेषता यह थी, वह अपने को बहुत बुद्धिमान मानता था। वह सोचता था, जो मार्ग किसी ने नही लिया हो, जो काम किसी ने नहीं किया हो, वह मै करके दिखलाऊँगा। आकाश में कमल अभी तक किसी ने नही उगाए, मोतियो की खेती आज तक किसी ने नही की, आज तक पानी के दीपक किसी ने नही जलाये, बस यदि ये कार्य मेरे द्वारा सम्पन्न हो जाएँ तो मै संसार में अद्वितीय-असाधारण सिद्ध हो जाऊँ। वह अपने सामन्तों एवं अधिकारियों के समक्ष इस प्रकार की बेहूदी बाते करता, वे सव उसकी बाते सुनते, उसके सामने तो हाँ-हूँ कर देते, पर उसका बड़ा परिहास करते।

जब उसकी कोई सूझ पेश नही आई तो वह किसी नई अनहोनी वात की खोज मे लग गया। एक बार उसने जंगल मे से गुजरते हुए नदी पार की। गर्मी के दिन थे। नदी सूखी थी। तटो पर वालू के भारी ढेर लगे थे। राजा के दिमाग में खुराफात पैदा हुई कि यदि मै इस बालू में से तेल निकलवा दूँ तो अद्भुत और अनहोनी बात हो जाय। इस बार तो उसने किसी की राय भी नही ली। हाथोहाथ उस नदी के किनारे बीसों कोल्हू लगवा दिए और आज्ञा दे दी कि इस बालू को इन कोल्हुओ में पेरा जाय। क्या कहा जाय, उसने ऐसा अज्ञानपूर्ण कार्य प्रारम्भ करवा ही दिया। वेचारे बैल और उनकी देखरेख करने वाले परेशान हो उठे। वे वालू को

पेरते-पेरते पसीने से तरबतर हो गये। राजा ने कहा—विना रुके पेरते ही जाओ, आखिर तेल निकल ही आएगा। प्रमुख सचिव ने राजा से बड़ी नम्रता से निवेदन किया कि महाराज! यह आप क्या करवा रहे हैं? वालू से भी कभी तेल निकल सकता है? राजा ने कहा–जैसे जमीन को खोदते-खोदते पानी निकल आता है, उसी तरह रेत को पेरते-पेरते तेल अवश्य निकलेगा, तुम सब धैर्य से प्रतीक्षा करो।

आखिर तेल तो क्या निकलना था, हाँ बेचारे वैलों का और उन पर नियुक्त कर्मचारियों का तेल तो निकल ही गया। इसलिए एक पद मे कहा गया—

यह संसार असार, नहीं कुछ सार, शास्त्र फरमाता।
जग सार काढ़ना चाहता॥
झूठी दुनियां की माया है, यह बादल की सी छाया है।
है पतंग का रंग शीघ्र उड़ जाता।
जग सार काढ़ना चाहता।

इसी भावना को लेकर व्याख्यान बत्तीसी में एक श्लोक उद्धृत किया गया है—

नीरे घृतं वा सिकतासु तैलं, नावापि केनापि कृतश्रमेण।
कष्टैक पात्रे भवधारपारे, सुखं यदन्वेषयसे विचित्रम्!

कितना ही कठोर श्रम करने के बावजूद आज तक किसी ने पानी में घी और बालू में तेल प्राप्त नहीं किया। अनेक कष्टों से परिपूर्ण इस संसार-सागर में तुम सुख की खोज कर रहे हो, यह वड़ा विचित्र आश्चर्य-कर लगता है।

धन भूमि में, पशु बाड़े में, रही द्वार पर नारी।
परिजन सब श्मशान भूमि में, देह चिता में छारी रे,
देह चिता मे छारी।
पुण्य-पाप ही लार और नहि चलै साथ में तार।
भगत वणज्या रे भाई॥

जिस समय जीव परलोकगामी होता है, उस समय की स्थिति का चित्रण करते हुए संस्कृत में एक वड़ा सुन्दर श्लोक है—

धनानिभूमौ पशवश्च गोष्ठे,
भार्या गृहद्वारि जना श्मशाने ।
देहश्चितायां परलोकमार्गे,
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः ।।

जो धन सुरक्षा की दृष्टि से जमीन में गाडा गया, मृत्यु के पश्चात् वह वही रह जाता है, साथ चलने के लिए एक इच भी नही खिसकता। पुराने जमाने में बैंक में लॉकर रखने का रिवाज नही था। लोग चोरों-तस्करों से रक्षा करने के लिए धन को भूमि मे गाड देते थे। आनन्द आदि श्रावकों के वर्णनों में उल्लेख आता है कि उस समय सम्पत्ति का चतुर्थांश भूमि में गाड़ने का प्रचलन था। इसलिए कवि ने कहा है कि संचित धन भूमि में जहाँ का तहाँ गड़ा हुआ रह जाता है। गाय, भैंस, हाथी, घोड़े आदि पशु अपने बाड़ों में, नौहरों में बँधे के बँधे खड़े रह जाते है। स्त्री विलाप करती हुई घर के द्वार पर खडी रह जाती है। सगे-सम्बन्धी परिजन आदि श्मशान भूमि तक साथ निभाते है। देह चिता तक साथ देती है। वहाँ जाकर वह भी भस्मीभूत हो जाती है। परलोक की यात्रा में तो जीव अपने किये हुए कर्मो को ही, पुण्य-पापों को ही साथ लेकर एकाकी जाता है।

कहने का तात्पर्य है कि सब कुछ यहाँ का यहाँ रह जाता है। जीवन-भर का किया हुआ श्रम यहाँ आते व्यर्थ हो जाता है, निस्सार बन जाता है। इसलिए सत स्मरण कराते है कि तू भक्ति मे लग, धर्म का सचय कर, जो तेरे साथ जाने वाला है।

सुणस्यू-सुणस्यूं कहता साहजी ! मर्‌या एक दिन सटके।
बिचले वासे व्यास कहे अब, कथा सुणो वेखटके रे,
कथा सुणो वेखटके।
पूर्ण हुआ सब कार, आज ही अवसर मिल्यो उदार।
भगत बणज्या रे भाई।

जब भी धार्मिक कृत्यों का अवसर आता है, माया-मोह के वश हुआ अज्ञानी प्राणी उसे आगे के लिये टाल देता है। प्राचीन सन्त एक रूपक सुनाया करते थे—

एक सेठ अपने व्यापार-व्यवसाय में इतना व्यस्त रहता था कि कभी सत्सग में नही जाता, कभी भगवान् का स्मरण नही करता, कभी स्वाध्याय नही करता। उसी गाँव में एक बड़े अच्छे कथावाचक रहा करते

थे। वे रामायण, महाभारत आदि की कथा करते रहते थे। वाणी में बड़ी सरसता थी, इसलिए सत्संगी लोगों की अच्छी उपस्थिति होती थी, पर वह मायालुब्ध सेठ कभी कथा सुनने नहीं आया। एक बार व्यासजी को वह सेठ रास्ते में मिल गया। व्यासजी ने कहा—सेठ! कभी तो सत्संग का लाभ लिया करो, कथा-श्रवण के लिए समय निकाला करो। व्यवहार का निर्वाह करते हुए सेठ ने कहा—क्यों नहीं व्यासजी महाराज! अवश्य सुनूँगा, पर आजकल तो बहुत सर्दी पड़ती है। इतनी कड़ाके की सर्दी में प्रायः घर से बाहर नही निकलता हूँ। थोड़ी सर्दी कम हो जाये, फिर सत्संग में जरूर आऊँगा। यह कहकर सेठ आगे बढ़ गया।

पौष, माघ के महीने निकल गये। सर्दी बहुत कम हो गई। बसन्त की हवायें चलने लगीं। आते-जाते व्यासजी फिर सेठ को मिल गये। तुरन्त व्यासजी ने सेठ की कही हुई बात का स्मरण करवाया और कहा—अब तो सर्दी काफी कम हो गई है, अब तो कभी समय निकालो। सेठ ने कहा—आपका कहना तो ठीक है, पर आजकल दूकान पर "सीजन" का बहुत काम है। सुवह से शाम तक वहीं व्यस्त रहना पड़ता है। यदि कमायें नहीं तो खाये क्या? गृहस्थी की गाड़ी कैसे चले? इसलिए सीजन के समय तो वक्त निकालना अत्यन्त कठिन है। हाँ, थोड़ा-सा कार्य-भार कम हो जाए, फिर कथा अवश्य सुनूँगा। दो-तीन महीने वाद सेठ फिर व्यास जी से टकरा गया। व्यासजी तो मानो दृढ़-संकल्पी थे, सेठ का पीछा नही छोडना है। देखे यह कहाँ तक बहाने निकालता है। व्यासजी ने सेठ को कथा सुनने की प्रेरणा पुनः दी। सेठ ने सोचा, यह तो वड़ा संकट हो गया। यह व्यास तो मेरा पीछा नहीं छोड़ता, पर मैं भी इससे ऊपर का हूँ। उसने कहा—व्यासजी! कितनी लूएँ चल रही हैं, भयंकर गर्मी का प्रकोप है। ऐसे में तो बाहर निकलना ही मुश्किल है। मै तो खस-खस की टट्टियों के पीछे वैठा भी परेशान हो जाता हूँ। इन दिनों मे तो सुनना कदापि संभव नही! गर्मी का प्रकोप कम होने पर अवश्य समय निकालूँगा। ऐसे कहकर सेठ ने कुछ मुद्दत डाल दी। ऐसे करते हुए सावन-भादों के दिन आ गये! फिर सयोगवश सेठ और व्यासजी आमने-सामने हो गये। उन्हें तो टोकना ही था, वोले—अव तो सेठ! गर्मी भी समाप्त हो गई है। सावन-भादों के महीने हमारी संस्कृति में धर्माचरण की दृष्टि से विशेष महत्व के हैं, इसलिए अव तो समय निकालना ही चाहिए। सेठ ने सोचा यह तो बड़ा विचित्र आदमी है, पीछा छोड़ता ही नही। वात को नया मोड़

देते हुए सेठ ने कहा—आ।का कथन त्रिल्कुल सत्य है, पर चातुर्मास पूर्ण होते ही मेरी लड़की की शादी है। गृहस्थ के लिये लडकी को विदा करना कोई साधारण बात नहीं है। मैंने तो अभी से तैयारियाँ शुरू कर दी हैं। घर में दर्जी, सोनी आदि काम कर रहे है। घर मे रग-रोगन वगैरह भी करवाना है। ऐसी स्थिति में सत्सग के लिये समय कैसे निकाल सकता हूँ ?

कुछ दिन बाद अचानक सेठ के हार्ट मे दर्द उठा और वह चल बसा। चारो ओर बात फैल गई। सगे-सम्बन्धी इकट्ठे हुए और सेठ को श्मशान ले जाने की तैयारी करने लगे।

अरथी उठी। लोग "राम नाम सत्य है" बोलते हुए श्मशान की ओर बढे। व्यास जी का घर रास्ते में आ गया। "राम नाम सत्य" की आवाज सुनकर व्यासजी बाहर आये और पूछा—किसकी मृत्यु हो गई है ? लोगों ने सेठ का नाम बतलाया। अच्छा ! तो आखिर सेठ चल ही बसा ? कहते हुए व्यासजी ने पोथी-पन्ने बगल में दबाये और अरथी के साथ चल पड़े।

श्मशान से कुछ दूरी पर "बीच का वासा" मे अरथी को नीचे उतारा। व्यासजी ने सबको एक ओर हटने का सकेत किया तथा स्वय पोथी खोलकर अरथी के सम्मुख बैठने लगे। लोगों ने कहा—व्यासजी महाराज ! यह क्या कर रहे है ? व्यासजी ने कहा—इतने दिन सेठ को समय नही था। सर्दी, गर्मी, व्यापार, कन्या का विवाह आदि कार्य उसके धर्माचरण में व्यवधान बने हुए थे। आज सारी बाधाएँ समाप्त है, सारी जिम्मेदारियाँ पूरी हो गई है। इसलिए इसको कथा सुनाने का आज ही अवसर है। आप सब सज्जन थोडी देर प्रतीक्षा करे, मै इसको कुछ महत्वपूर्ण पाठ सुना देता हूँ। लोगों ने कहा—व्यासजी ! आप सुनाना तो चाहते है पर आपकी बात सुनेगा कौन ? क्या सेठजी आपकी बात सुनेंगे ? तीखा व्यग्य कसते हुए व्यासजी ने कहा—सेठ तो नही सुनता पर तुम तो सुनते हो ?

कहने का तात्पर्य यह है कि मृत्यु के आते ही सारी जिम्मेदारियां समाप्त हो जाती है।

आसी काल सभी जाणै, कुण जाणै कद ओ आवै ।
आखी रात चोर रो पहरो, पण राख्यो ही चावै रे,
पण राख्यो ही चावै ।
तूं बण रे पहरेदार, नींदवश मत बण बेदरकार ॥
भगत बणज्या रे भाई ।

यह तो निश्चित है कि "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" जिसका जन्म है, उसकी मृत्यु निश्चित है । काल आयेगा, इसमे कोई सन्देह नही है । किसी ज्योतिषी से यह पूछना आवश्यक नहीं है । काल आयेगा, पर कब आयेगा ? इसका पता नही है, इसका समय तय नही है । वह कभी भी आ सकता है ।

सन्त कहते है, जिस प्रकार यह निश्चित नही है कि चोर रात के बारह बजे आयेंगे या एक बजे या डेढ़ बजे, रात्रि में वे कभी भी आ सकते है, इसलिए पूरी रात पहरा दिया जाता है । यदि नींद के वश होकर बेहोशी में चले गये तो किसी भी समय चोरी हो सकती है । चौकीदार को तो पूरी तरह होश-हवास मे रहना पड़ता है, सर्वथा जागरूकता रखनी पडती है ।

जब हम खानदेश में विहरण कर रहे थे, हमारा जालना में चातुर्मास हुआ । रात को एक मुस्लिम भाई पूरे शहर में गश्त लगाता हुआ चौकीदारी करता था । वह ऊँची आवाज में बोलता—"तू छिप-छिप के चलता है, तू धीरे-धीरे चलता है, पर मुझे पता है, मै तुझे छोडूंगा नहीं, पकड़कर रहूँगा ।" इस भाँति वह लोगों को जगाता हुआ पहरा देता ।

चौकीदार यदि सो जाए तो स्थिति विषम बन जाती है । स्व० पिता श्री केवलचन्दजी स्वामी गृहस्थाश्रम की एक घटना सुनाया करते थे । एक बार वे बाहर से ट्रेन द्वारा सिरसा आए । पास में विशेष सामान नहीं था, इसलिए कोई सवारी लिए बिना वे अकेले ही रेलवे स्टेशन से घर की ओर चल पड़े । रात के बारह बजे का समय था । सिरसा शहर वैसे काफी अच्छा बसा हुआ है । एक-दूसरी से संलग्न चौड़ी सड़कें है, चौराहे हैं । सुनी-सुनाई किवदन्तियों के अनुसार एक चौराहे पर लोग भूत-प्रेत का कुछ वहम किया करते थे । अंधेरी रात और वे अकेले उस चौराहे की ओर बढ रहे थे । अचानक कोई काली-काली चीज चौराहे के पास ही उभरी हुई दिखाई दी । उन्हे दूर से ही वहम पड़ा और बचपन में सुनी भूतों की कहानियाँ स्मृति में उभर आई । मन कंपित-सा होने लगा । विचारने लगे—चौराहे पर वास्तव में कुछ न कुछ है । पर क्या है ? यह अभी निश्चय नही । वैसे श्री केवलचन्दजी स्वामी बड़े मजबूत हृदय के थे । उन्होंने सोचा, डरकर

भागने की वजाय आज भून से दो बात कर लेना ही ठीक रहेगा। दूर से ही उन्होने ऊँचे स्वर में कहा—अरे ! चौराहे में पडा हुआ तू कौन है ? भूत है या प्रेत ? सजग हो जा। तेज आवाज सुनते ही वहाँ पहरा देने वाला चौकीदार जो काली कम्बल ओढे लेटा था, उठ बैठा और बोला—सेठजी ! मैं हूँ, कोई भूत-प्रेत नही है। फिरता-फिरता थक गया था, थोड़ी विश्रान्ति के लिए बैठा, सर्दी की बडी रात थी, आँख लग गई। उन्होंने कहा—तू चौकीदार है, यदि गश्त लगाने के बजाय नीद लेता है तो चोरों को खुली छूट मिल जायेगी। इसलिए कहा गया "तू बण रे ! चौकीदार।" यदि तू साधना करना चाहता है तो प्रहरी की ज्यों सजग बनकर रह।

"चन्दन" की मानो तो अव ही, करल्यो जो है करणो।
एक मिनट नहि ठहरै ओ है, बस, पर्वत रो झरणो रे।
बस, पर्वत रो झरणो।
सत्य-अहिंसा धार, राख विश्वास हुवैला पार।
भगत वणज्या रे भाई ।।

इसलिए सन्त परामर्श देते है कि तुमको जो कुछ करना है, उसके लिए सवसे सुन्दर समय यही है। सांसारिक धधो के बीच अगर समय निकाल कर साधना का पथ अपना लिया तो कुछ न कुछ लाभ होगा ही। यह सोचना बिलकुल गलत है कि जब सब कार्यो से निवृत्त हो जायेगे, तब धर्म ही धर्म करते रहेंगे। ऐसा कभी होने का नही।

एक पर्वतीय स्थल पर ऊँचाई से प्रपात गिर रहा था। बहुत ऊँचाई से गिरने के कारण बडी तेज आवाज होती थी। एक घुडसवार अपने घोड़े को पानी पिलाने के लिए प्रपात के समीप ले गया। घोड़ा वह आवाज सुनकर चौका और पीछे हट गया। वह बार-बार उसे नजदीक ले जाने की कोशिश करता, पर घोड़ा पीछे हटता रहा।

आस-पास खड़े लोगों से घुडसवार ने पूछा—भाई ! क्या करूँ, इस आवाज के कारण मेरा घोड़ा चौकता है, पानी नही पीता। यह आवाज कब वन्द होगी ? लोगों ने कहा—बेवक़ूफ ! यह पानी गिरने की ही आवाज है। जव आवाज बन्द होगी, तब पानी आना भी वन्द हो जायेगा। नीचे गिरा पानी निरन्तर बहता जा रहा है। यदि घोडे को पानी पिलाना है तो वहते झरने से ही पिलाया जा सकता है।

इसी प्रकार जब तक जीवन है, शरीर में शक्ति है, सामर्थ्य है, तब तक धंधों का अन्त नही है। ये कार्य पूरे होगे, तब तक हम ही पूरे हो जाएंगे। जीते जी तो ये पूरे होने वाले नही हैं। इन कार्यो के मध्य ही हमें धर्माचरण के लिए कुछ समय निकालना होगा। राजस्थानी में एक साखी आती है—

आगै धन्धो, पाछै धन्धो, धन्धै माहि धन्धो।
धन्धै मांहि धर्म करै, वो साहिब को वन्दो॥

अतः सत्य-अहिंसा को जीवन में अपनाकर गहरे विश्वास के साथ भक्ति की साधना करने से ही बेड़ा पार हो सकता है, उद्धार हो सकता है, सच्चा कल्याण हो सकता है।



१६

कैसा ढावै जुलमवा हो, नादान ! तेरी बोली निकली ॥ध्रुव॥

मानो आगी लगी बदन में, मुखड़ा हो गया लाल ।
सारा ही तन लगा धूजने, दृश्य हुआ विकराल ।
सीने बीच गोली निकली ॥कैसा····१॥

बहुत पुराना रिश्ता नाता, तडक गया है टूट ।
मिलती नहीं आँख आपस में, फड़क उठी है फूट ।
विरोध की होली निकली ॥ कैसा····२॥

चला मुकदमा चढ़े कोर्ट जब, लड़ने लगे वकील ।
रिश्वतखोरी चली धनाधन, बढने लगी दलील ।
रुपयों की नोली निकली ॥ कैसा····३॥

एक ही चिन्ता लगी दुतरफा, शान्ति नही पल एक ।
लगा छीजने धन से, तन से, आठ पहर का सेक ।
सूरत धोली-धोली निकली ॥ कैसा ·४॥

सीख बोलना पहले, वरना; ले ले सुख से सीख ।
मान वचन 'चन्दन' का प्यारे ! बोल वचन मधु ईख ।
ज्यों प्रेम की ओली निकली ॥ कैसा ५॥

तर्ज—सर बांधे कफनवा हो····

१६.

कैसा ढावै जुलमवा हो नादान ! तेरी बोली निकली

दिट्ठं मिअं असंदिद्धं, पडिपुन्नं वियं जियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥

—दश. ८/४८

देवाधिदेव त्रिशलानन्दन प्रभु महावीर शिष्यों को भाषा के विषय में तात्त्विक शिक्षा देते हैं कि आत्मवान्—आत्मदर्शी कैसी भाषा बोले ?

भाषा ऐसी अनुपम, अद्‌भुत शक्ति है, जिसके द्वारा हम अपने भावों को अभिव्यक्त कर सकते हैं। मनुष्य इस दृष्टि से सब प्राणियों में सौभाग्यशाली है कि उसे भाषा की शक्ति प्राप्त है। पशुओं को यद्यपि भाषा-पर्याप्ति प्राप्त है, पर स्फुट भाषा उन्हें प्राप्त नही है। उनकी भाषा केवल गऊ का रंभाना, हाथी का चिंघाड़ना, गधे का रेंकना, चिड़ियों का चहचहाना, घोड़े का हिनहिनाना आदि रूपों में सीमित है। हजारों-लाखों शब्दों का भण्डार मनुष्य के ही पास है। देवताओं में पर्याप्तियाँ छह होते हुए भी पाँच ही मानी जाती हैं। क्योंकि उनका मन ही भाषा का काम करता है। कहा जाता है—"देवाणं मणसाण" देवताओं के जो मन में आता है, वही अभिप्रेत सिद्ध हो जाता है। अतः भाषा-पर्याप्ति वहाँ प्रयुक्त नही होती। मनुष्य ने अनेक लिपियाँ तथा अनेक भाषायें विकसित की है। पर भाषा का उपयोग कैसे होना चाहिए ? यह विशेष रूप से विचारणीय है। तलवार हाथ में आने पर यह चिन्तन आवश्यक होता है कि उसका उपयोग सुरक्षा के लिए किया जाय या हिंसा के लिए ?

प्रत्येक शक्ति के दो पहलू है—मारक और तारक। भाषा भी इसका अपवाद नही है। इसमें भी उक्त दोनों शक्तियाँ विद्यमान हैं। इसलिए भग-

वान् महावीर ने गहन चिन्तन के पश्चात् यह भाषा-विवेक प्रदान किया। प्रभु फरमाते है—**दिट्ठ**—दृष्टाम्—वह बात कहो जो देखी है अर्थात् दृष्ट वस्तु को प्रमाण के रूप में स्वीकारा गया है। जिस वस्तु को हम देख चुके है, वहाँ शंका का कोई स्थान नही रहता।

बादशाह अकबर ने दीवान ए-आम में एक बार एक सवाल पूछा कि सच और झूठ मे क्या अन्तर है? दरबारियों ने कहा—जहाँपनाह! सच और झूठ में तो जमीन आसमान का अन्तर है। बीरबल चुप रहा। बादशाह ने कहा—बीरबल! तुम क्या कहते हो? बीरबल ने कहा—हुजूर! झूठ और सच मे सिर्फ चार अंगुल का अन्तर है। बादशाह चकित थे, बात समझ मे नही आई। बीरबल! तुम्हारे कहने का अभिप्राय क्या है? बीरबल ने कहा—खुदाबन्द! कान से सुना झूठ, आँख से देखा सत्य। अब आप माप कर देख लीजिए कि आँख और कान मे कितना अन्तर है। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष दर्शन के पश्चात् सन्देह की गुजाइश नही रहती। अतः वाणी के विशेषणो में पहला शब्द है दृष्टाम्—देखी हुई बात।

दूसरा विशेषण दिया गया है—**मियं**—मिताम्—वाणी परिमित होनी चाहिए। जितने कम शब्द बोलने से काम चल जाए, उससे अधिक नही बोलने चाहिए। कुछ लोग छोटी-सी बात को इतना लम्बा कर कहते है कि सुनने वाले थक जाते है। शेखसादी ने कहा है—अक्लमन्द सोचता है कि मुझे बोलना कब शुरू करना चाहिए, पर बेवकूफ नहीं सोचता कि कहाँ उसे बात पूरी करनी चाहिए? जितने तत्त्वदृष्टा या चिन्तक होते है, वे बहुत कम बोलते है।

तीसरा विशेषण है—**असंदिद्धं**—असंदिग्धाम्—वाणी असदिग्ध—सन्देहरहित होनी चाहिए। कुछ लोग इस प्रकार की भाषा बोलते है, जिसके द्वारा सुनने वाले संशयापन्न हो जाते हैं, भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। यह वाणी का दोष है।

इसी शृंखला मे आगे कहा गया—**पडिपुण्णं**—प्रतिपूर्णम्—प्रतिपूर्ण भाषा बोलनी चाहिए। कुछेक धूर्त व्यक्ति अपना उल्लू सीधा करने के लिये बात के आगे पीछे का सन्दर्भ काट देते है। पूरी बात नही कहते। इससे अर्थ का अनर्थ हो जाता है। एक किसी शराब के आदी मौलवी ने कहा—कुरान शरीफ में लिखा है—"मुसलमान दारु पीए।" सारे सुनने वाले मियाँ भाई हैरान थे। बोले—यह बिल्कुल नही हो सकता। कुरान

शरीफ में तो यहाँ तक लिखा है कि कोई मुसलमान दारु पीकर हाथ धोए, उस पानी के गिरने से जो घास उग जाये, उस घास को खाने वाली गाय का दूध भी नापाक है, अपवित्र है, पीने योग्य नहीं है। फिर "मुसलमान दारु पीये" यह लिखा होने का प्रश्न ही नहीं है। लाओ, हमें दिखाओ, कहाँ लिखा है ? मौलवी कुरान लाकर दिखलाने लगा, लेकिन "मुसलमान दारु पीये" से आगे की पंक्ति पर हाथ रख दिया। लोगों ने कहा—आगे क्या लिखा है, वह भी दिखलाओ। मौलवी ने कहा—हमें आगे नही देखना, बस, यहीं तक पढ़ना है। लोगों ने जोर देकर तुरन्त उसका हाथ वहाँ से हटा दिया तो वहाँ आगे लिखा था—"दोजख में जाये।" पूरा वाक्य यों था कि "मुसलमान दारु पीये, दोजख में जाये।"

अभिप्राय यह है कि जहाँ प्रतिपूर्ण वाक्य नही बोला जाता, वहाँ अर्थ का अनर्थ हो जाता है। अतः बोलते समय पूर्वापर सन्दर्भ युक्त भाषा का प्रयोग होना चाहिए।

आगे कहा गया—**वियं**—व्यक्ताम्–जो वाणी हो, जो बोला जाय, वह स्फुट होना चाहिए। इसी प्रकार जितं **जियं**—यहाँ 'जिता" का अर्थ टीकाकारों ने "परिचित"—किया है। ऐसे शब्दों का प्रयोग होना चाहिए जिन शब्दों का अर्थ सहज रूप में हृदयंगम हो जाये। यदि किसी गूढ़ शब्द का, अनेकार्थ-बोधक शब्द का प्रयोग किया जाय तो उसका अर्थ सुनने वालों के लिए किसी अन्य आशय का सूचक भी बन सकता है।

अगला विशेषण है—**अयंपिरं**—अजंपिराम्—जपिर शब्द का अर्थ होता है—वाचाल। कुछ व्यक्ति अत्यधिक वाचाल होते हैं। राजस्थानी भाषा में कहा जाता है—"यह गोही करता है" यानी एक बात को बहुत बढा-चढ़ाकर तथा बार-बार कहता है। साधक को इस वाचालता से बचना चाहिये। वाचाल व्यक्ति अप्रिय हो जाते हैं। लोग कहते हैं—"आपरो ही दलियो मूरख दलतो जावै है।" इसलिए अधिक इधर-उधर की बात करना अच्छा नही होता। एक बात और है, प्रायः देखा जाता है कि अधिक बोलने वालों को असत्य का पाप अधिक लगता है। क्योंकि अधिक बोलने के प्रवाह में वे कभी-कभी कुछ का कुछ बोल जाते हैं।

एक बच्चे ने बाहर से आकर अपनी माँ से कहा—माँ ! आज मैंने पाँच सौ हाथी देखे हैं।

माँ ने कहा—ऐसा तो हो नहीं सकता, पाँच सौ हाथी यहाँ नही आ सकते।

बेटा—कम से कम सौ तो जरूर ही होंगे, पाँच सौ न सही।

माँ—नहीं, सौ हाथियों का समूह भी यहाँ नही आ सकता।

बेटा—सौ नहीं तो चालीस तो जरूर ही होगे।

माँ—यह भी सम्भव नही। यह कोई जयपुर-जोधपुर तो है नही, यहाँ चालीस हाथी कहाँ से आये ?

बेटा—तो माँ, चार हाथी तो अवश्य थे।

माँ—हाँ, चार हो सकते है, पर तू ही बता सचमुच कितने थे ?

बेटा—माँ, मैने तो दो ही देखे थे।

इस प्रकार गप्पें हाँकने वाले व्यक्ति जपिर कहलाते है। उनकी वाणी का कोई मूल्य नही होता, कोई विश्वास नही करता।

आगे कहा गया—**अणुव्विग्गं**—अनुद्विग्नाम्–वाणी उद्वेग-रहित होनी चाहिए। गीता में बहुत सुन्दर वर्णन आता है कि जिस प्रकार शरीर से तप होता है, उसी प्रकार वाणी से भी तप साधा जा सकता है। वहाँ लिखा गया है—

अनुद्वेगकर वाक्यं, सत्यं प्रियहित च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्चते ॥

—भ०गी० १७/१५

जिन शब्दों के कारण किसी के उद्‌विग्नता उत्पन्न हो जाए, जो किसी के हृदय में आग लगा दे, वैसे शब्दों का प्रयोग नही करना चाहिए। औरों को वैसी मर्मभेदी (मर्मवेधी) बात कहने वाला स्वय भी उद्विग्न बनता है। विना विचारे शब्द बोलने के बाद वह सोचता है कि मुझे ऐसा नहीं कहना चाहिए था अथवा यह बात नही कहता तो अच्छा होता।

ऐसी वाणी बोलनी चाहिए, जो सबके लिए हितकारी हो, जिससे किसी प्राणी का अहित न हो, हिसा न हो, किसी का हक न छिन जाए। महाभारत मे तो यहाँ तक कहा गया है—

"यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यम्।'

जो सभी भूतों के लिए, प्राणियो के लिए अत्यन्त हितकारी है, वही वास्तव में सत्य है। जैन आगमों मे उल्लेख है—

सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ।

वह सत्य भी नहीं बोलना चाहिए, जिसके द्वारा पाप का आगमन हो । बहुत से सत्य भी मारक बन जाते हैं ।

मनुस्मृति में लिखा गया है—

सत्यं ब्रूयात प्रियं ब्रुयान्नब्रुयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं तु नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ।।

—मनुस्मृति ४/१३९

सत्य बोलो, प्रिय बोलो, किन्तु अप्रिय सत्य मत बोलो, प्रिय असत्य भी मत बोलो । यह धर्म सनातन है, शाश्वत है, सार्वजनीन है ।

यह बड़ा मार्मिक उपदेश है । अप्रिय सत्य बोलना भी कभी-कभी महाघातक सिद्ध हो जाता है ।

वांके नामक कवि ने बहुत सुन्दर लिखा है—

वस राखो जीह, कहै इम वांको, कड़वा बोलो परवकत किसी ?
लोह तणी तरवार न लागत, जीह तणी तरवार जिसी ।।
आगं अग्ग अधेरिया भारत, हेकण जीह प्रताप हुआ ।
मन मिलै जिकै मांढवा, जीह करै खिण मांही जुआ ।।

कवि कहता है—जीभ को वश में रखो । तुम कड़वे बोलते हो, यह तुम्हारी क्या प्रकृति है ? लोह की तलवार जैसी मार नहीं करती, वैसी चोट इस जीभ की तलवार की लगती है । तलवार का घाव तो भर जाता है, पर जीभ का घाव नहीं भरता । कहा गया है—

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक् शल्यस्तु न निर्हतु, शक्योहृदिशयो हि सः ।।

—महाभारत, अनुशासन पर्व १०४

बन्दूक की गोली एवं तीर तो प्रयत्न करने पर शरीर से निकल जाते हैं, किन्तु वचन का शल्य नहीं निकल सकना, वह हृदय में चुभता ही रहता है ।

अतीत में जितना नरसंहार हुआ है, जितने महाभारत हुए हैं, उनमें कटु वचन ही प्रायः निमित्त बनते रहे हैं ।

जिस समय श्रीकृष्ण कौरवों-पाण्डवों के मध्य समझौता करवाने आये, उस समय दुर्योधन ने कहा—

सूच्यग्रेण सुतीक्ष्णेन, या सा भिद्येत मेदिनी ।
तदर्धं नैव दाष्यामि, विना युद्धेन केशवः !

यदि दुर्योधन ऐसी गर्वोद्धत वाणी नही बोलता तो अवश्य समझौता हो जाता । इस प्रकार इन भीषण दुर्घटनाओं के पीछे वाणी के अविवेक का बहुत बड़ा हाथ है ।

एक बहुत मार्मिक दृष्टान्त मिलता है, जिसे प्राचीन सत एक कथा-प्रबन्ध की गीतिका के साथ इस प्रकार व्यक्त करते थे—

बोलो नां जी, हो नां जी, हो नां जी
कड़वा बोलो नां जी ।।
किण ही जीव नै दुःख नहीं उपजै, आ भगवन्त री मरजी ।
छेदन भेदन मरमकारी भासा, आ सूतर में बरजी ।। बोलो नां जी ।
घणां दिनां री हेत मित्राई, हुँतो हेत अपारो ।
किण ही बिरियां तोड़ी न्हाखें वचन कही मुख खारो ।।बोलो नां जी।।
एक साहूकार तणी घर नारी, कूवे न्हाख्यो भरतारो ।
पड़तां बिच में दातो पकड़यो, तुरन्त आयो बिणजारो ।।बोलो नां जी।
बिणजारै बालद में राख्यो, लाखां द्रब्य कमायो ।
सासरियै थी बहू लेइनै, साहूकार घर आयो ।। बोलो नां जी ।।

एक गाँव में एक सेठ निवास करता था । सेठ वास्तव में सेठ ही था । बड़ा समझदार, गम्भीर, दानी और परोपकारी था । घर में पत्नी थी । उसका सेठ के साथ बड़ा तादात्म्यपूर्ण, स्नेहपूर्ण व्यवहार था । अत्यन्त प्रेम दिखलाती थी । पर वास्तविकता इससे कुछ भिन्न थी । जब तक कोई विपत्ति का समय नही आता, तब तक असली-नकली का भेद का पता नही चलता । गोस्वामीजी ने कहा है—

तुलसी सम्पत्ति के सखा, पड़त विपत्ति में चीन्ह ।
सज्जन कंचन कपन को, विपद कसौटी कीन्ह ।।

स्त्रियों के प्रेम के विषय मे भी गोस्वामीजी ने कहा है—

धीरज धर्म मित्र अरु नारि,
आपतकाल परखिए चारि ।

छाया घूमती-फिरती है। वही बात मनुष्य के वैभव, प्रताप, सुख आदि के लिए है। सेठ के साथ भी कुछ ऐसा ही घटित हुआ, सारी सम्पदा जल के बुदबुदे की ज्यों विलीन हो गई। घर-बार, जमीन-जायदाद, जर-जेवर सब कुछ नष्ट हो गए। कहावत है—

पंथसमा णत्थि जरा, छुहासमा वेयणा णत्थि।
मरणसमं णत्थि भयं, दरिद्दसमो पराभवो णत्थि॥

पंथ के समान वृद्धावस्था भी नहीं होती। रास्ते में चलता आदमी इतना थककर चूर हो जाता है कि उसके सामने बुढ़ापा भी मात खा जाता है। भूख के समान कोई वेदना नहीं होती। यह ऐसी वेदना है कि भूखे आदमी को खाना ही खाना सूझता है। किसी अत्यन्त भूखे मनुष्य से किसी ने पूछा—दो और दो कितने होते हैं ? उसने कहा—चार रोटियाँ। उसे तो रोटियाँ ही रोटियाँ दिखाई दे रही थीं।

इसी तरह मौत जैसा दूसरा कोई भय नहीं होता है। वह, प्राणी के लिए सबसे बड़ा भय है तथा दारिद्र्य के समान पराभव नहीं होता। जब आदमी का हाथ तंग होता है, दरिद्रावस्था आ जाती है, उस समय क्या बीतती है, यह तो जिस पर बीतती है, वही जानता है।

सेठ ऐसी स्थिति में आ गया कि अब वह क्या करे यह भी वह समझ नहीं पा रहा था। चारों तरफ अन्धकार छा गया। सेठानी का आग्रह था कि आप मेरे पीहर चलें। मैं सात भाइयों की लाड़ली बहन हूँ तथा सभी भाइयों पर लक्ष्मी की अपार कृपा है। ऐसे संकट के समय में मेरे पिता तथा भाई आपकी उचित सहायता करेंगे। सेठ आपत्ति में, विपन्नता में ससुराल का सहारा लेना उचित नहीं मानता था, अतः सेठानी के कथन को अन्य बातों में टाल जाता। आखिर एक दिन सेठानी ने सेठ को बाध्य ही कर दिया। हारकर सेठ सेठानी के साथ ससुराल की ओर रवाना हुआ। मन ही मन बड़ी लज्जा अनुभव होती थी। अब तक सेठ जहाँ कहीं भी जाता रहा, बीसों नौकर, चाकर, घोड़े, गाड़ियाँ आदि वाहन साथ चलते थे। आगे से आगे सुख-सुविधा की सारी व्यवस्था रहती थी। आज वह अपना भार अपने कन्धे पर लिए, मलिन वस्त्र, उदासीन मुख पैदल ही ससुराल की ओर बढ़ रहा था। सेठानी पीछे-पीछे चल रही थी। काफी रास्ता पार हो गया था। सेठानी के पिता का गाँव तीन-चार कोस दूर ही रहा था। दम्पत्ति जब एक जंगल से गुजर रहे थे, सेठानी को प्यास लग गई।

तृषा से व्याकुल सेठानी के मन में एक दुर्भावना उत्पन्न हुई । जब आदमी के दुर्दिन आते है, तब अपने शरीर के वस्त्र भी दुश्मन हो जाते हैं । संकट का समय वहुत बुरा होता है । गोस्वामी तुलसीदासजी कहते है—

विपद बराबर सुख नहीं, जो थोड़े दिन होय ।
इष्टमित्र अरु बन्धु सुत, जानि परै सब कोय।।

सेठ की परमप्रिय पत्नी ने सोचा—हाय ! हमारी कैसी दयनीय स्थिति है । इस हालत में मैं अपने पिता और भाइयों के सामने कैसे जाऊँगी ? मेरे पति की ऐसी दुर्दशा देखकर वे मन में क्या सोचेगे ? जब-जव मैं पीहर आई, कितने ठाठ-बाट से आती रही, अनेको दास-दासी, नौकर-चाकर मेरे साथ होते थे । जब मेरे आने का समाचार सुनकर मेरी सखी-सहेलियाँ मिलने आयेगी, मै उनको क्या मुँह दिखलाऊँगी ? ऐसे दरिद्र व्यक्ति को मेरे पति रूप में देखकर वे क्या सोचेगी ? मेरी सारी प्रतिष्ठा नष्ट हो जायेगी । अब क्या करूँ, इसका कोई उपाय सोचना चाहिये ।

आखिर उसको ऐसी दुर्मति उपजी कि क्यों न पति को धक्का देकर कुए में डाल दूँ और मै अकेली पिता के घर जाकर कह दूँ कि हम तो बड़े लवाजमे-शान-शौकत के साथ आपके यहा आ रहे थे, पर रास्ते मे कुछ डकैतों ने हमें घेर लिया, साथ के लोग इधर-उधर तितर-बितर हो गए । सेठजी का पता नहीं, वे कहां उठाकर ले गये । मै तो किसी तरह उनकी नजर वचाकर वहा से निकल गई तथा ज्यों-त्यों करके यहा पहुँच गई । इससे सारी बात ज्यो की त्यों बनी रह जायेगी और मेरी शान को कोई बट्टा नही लगेगा ।

व्यक्ति का मन कब धोखा दे देता है, कुछ कहा नही जा सकता । मन में ऐसा दुश्चक्र घुमाती हुई वह सेठ से कहने लगी कि मुझे प्यास लगी है, मेरा कण्ठ सूख रहा है । कही आसपास पानी हो तो आप पता लगाइये ।

जगल मे थोड़ी दूर पर एक कूआ दिखाई दिया । बेचारे भद्र सेठ ने कहा—प्रिये ! चिन्ता मत करो, सामने कूआ आ रहा है, मैं तुम्हे पानी पिलाऊँगा । दोनों चलकर कूए पर आये । शरीर पसीने से तर-बतर हो रहा था । सेठ ने पानी निकालने के लिए लोटे के रस्सी वाधी और उसे उसेरने हेतु कूए के भीतर की ओर झांका । पीछे से उस दुष्टा ने सेठ को इतने जोर से धक्का दिया कि वह एकदम कूए में गिर गया । सेठ विस्मित था । उसे वडा खेद हुआ, साथ ही साथ आश्चर्य भी—परमप्रिय पत्नी का

यह व्यवहार कि उसने जान-बूझकर मुझे कुए में गिरा दिया। स्वप्न में भी मुझे कभी ऐसी कल्पना नहीं थी।

संस्कारी सेठ को गिरते-गिरते नमस्कार महामन्त्र का स्मरण हो आया। सहसा उसकी जिह्वा पर महामन्त्र स्फुरित हो उठा। पहले की हुई साधना ऐसे समय में काम आती है। नमस्कार-महामन्त्र के प्रभाव से तथा आयुष्य-वल लम्बा होने के कारण सेठ पानी में न गिरकर कुए में तिरछे दांते के रूप में जो एक शिला निकली हुई थी, उस पर ठहर गया। आयु-वल ने कुछ ऐसा सहारा दिया कि प्राणों से हाथ नही धोना पड़ा। सेठ सम्हलकर उस शिला पर वैठ गया। संसार की विचित्रता के सम्वन्ध में सोच-सोचकर सेठ हैरान था। सबसे वड़ा चिन्ता का विपय यह था कि ऐसे जंगली कूए से अव निकास कैसे हो ? सेठ वही वैठा इष्टदेव का स्मरण करने लगा।

इधर सेठानी वहाँ से बिना पानी पीये ही अकेली चल पड़ी। क्रूर-हृदया स्त्री को कोई वेदना नहीं हुई। वह अपनी परिकल्पित योजना के अनुसार पिता के घर पहुँच गई और सारी मनगढ़न्त कहानी सुना दी तथा सौभाग्य से अपने को सुरक्षित वच निकलने की बात वताकर उन्हे पूर्ण विश्वास दिला दिया। पिता और भाइयों को भारी चिन्ता हुई। उन्होंने जामाता का पता लगाने के लिए इधर-उधर आदमी दौड़ाये, पर पता कहा से लगे, वह तो कूए में वैठा था।

संकट के समय में भी मनुष्य को घवराना नहीं चाहिए। परीक्षा की घड़ियां वड़ी विकट होती हैं। सेठ ने धैर्य नहीं खोया। आखिर विधि-वल से एक अकल्पित एवं अप्रत्याशित संयोग वना।

एक लक्खी वनजारा भारी लश्कर के साथ कहीं जा रहा था। उसने जंगल में कुए को देखकर सोचा, यहाँ पानी की पूर्ति आसानी से हो जाएगी। उसने वहीं पड़ाव डाल दिया। उसके आदमियो ने पानी निकालने के लिए कूए में डोल उसेरा। अचानक ऊपर से आए वर्तन को देखकर सेठजी को कुछ आशा वँधी और उसने डोल को पकड़ लिया। डोल के खिंचते ही पानी खींचने वाले आदमी घवराये और भूत-भूत चिल्लाते हुए भाग गए। मालिक के पास जाकर सारी घटना वतलाई। वनजारे ने कहा — क्या भूत तुम इतने लोगों को खा सकेगा ? चलो, मैं चलता हूँ, देखें, कूए में कौनसा भूत वैठा हुआ है ? कूए पर पहुँचकर फिर दुबारा वर्तन पानी के लिए उसेरा, फिर पहले की तरह सेठ ने उसे पकड़ लिया।

बालद के मालिक ने आवाज देकर पुकारा—हमारे डोल को पकडने वाला कौन है ? कोई भूत है, प्रेत है या कोई मानव है ? सेठ ने भीतर से वापस आवाज दी—भाई साहब ! आप मुझे बाहर निकालिए, मैं आपका ही भाई हूँ, आदमी हूँ। कोई भूत-प्रेत नही हूँ। कृपया मुझे शीघ्र बाहर निकालिए। बहुत से आदमियों ने बडी होशियारी से सेठ को बाहर निकाल लिया। बनजारे ने पूछा—तुम कूए में कैसे गिर गए ? सेठ ने सोचा—अब बात को बढ़ाने मे कोई लाभ नही है। नीति मे कहा है—

अर्थनाशं मनस्तापं, गृहे दुश्चरितानि च ।
वञ्चनं चापमानं च, मतिमान् न प्रकाशयेत् ।।

—सुभाषित सुधारत्न भाण्डागार, ४-८१,२८

इस उक्ति के अनुसार सेठ ने अपनी स्त्री के दुष्टतापूर्ण व्यवहार को प्रकाशित करना उचित नही समझा। सिर्फ इतना ही कहकर टाल दिया कि गर्मी का मौसम था। मै राह चलते, पानी लेने के लिए कूए पर आया और अचानक चक्कर आ जाने के कारण उसमें गिर गया। बनजारे ने पूछा—आगे कहाँ जाना चाहते हो ? क्या करना चाहते हो ? सेठ ने कहा —किसी काम-काज की खोज में जा रहा हूँ। कही अच्छा काम, अच्छी नौकरी मिल जाए, वही रहकर अपना समय सुख से बिताना चाहता हूँ। बनजारे ने कहा—तो फिर तुम्हें कही जाने की आवश्यकता नही है। मेरे यहाँ बहुत काम है, लाखो का लेन-देन है। उधर का माल इधर और इधर का माल उधर पहुँचाना ही मेरा धधा है। तुम मेरे यहाँ सुविधापूर्वक रहो एवं मेरे काम-काज की देखभाल करो। सेठ को और चाहिए ही क्या था ? आँखों में नीद थी और सोने को शय्या मिल गई। सेठ बनजारे के साथ हो लिया। बड़ी लगन से वहाँ कार्य करने लगा। वणिक् होने के कारण सेठ का हिसाब-कितना इतना सही था, जिससे बनजारे को लाखों का लाभ अनायास होने लगा। बनजारे ने सोचा—यह कोई साधारण आदमी नही है। इसका काम-काज करने का तरीका अनूठा है। बनजारा स्वयं प्रत्येक कार्य मे सेठ की राय लेने लगा। सेठ की सूझ-बूझ के कारण हर कार्य में कुछ न कुछ लाभ ही होता।

संसार में एक उक्ति चलती है कि "अत्यन्त"—अति का अन्त होता है। अति अन्त के लिए ही होती है। आदमी के जीवन मे सुख आए या दुःख आए, यदि अति हो गई तो मानना चाहिए कि अब पासा पलटने वाला है, प्रकृति करवट लेने वाली है। सेठ की स्थिति भी ऐसी ही बनी। विपरीतता आई तो लाखों-करोडो की सम्पदा बादल की तरह विलीन हो

गई। और तो क्या पत्नी ने भी, जिसे अर्द्धांगिनी कहा जाता है, कुए में ढकेल दिया। इससे बढ़कर अति और क्या हो सकती थी ? बस, सेठ के दिन पलट गये। बनजारे के साथ कार्य प्रारम्भ करते ही 'दिन दूना रात चौगुना' वाली उक्ति चरितार्थ हो गई। बनजारे ने सोचा, यह तो "नररत्न" है। ऐसे व्यक्ति का सहचर होना मेरे लिए सौभाग्य का चिह्न है। यह व्यक्ति नौकरी के योग्य नहीं है। इसे नौकर रखूँ, यह उचित नहीं, इसे तो अपना भागीदार बनाना चाहिए। ऐसा सोचकर गुणग्राही बनजारे ने अपनी विणज में उसका चार आने हिस्सा डाल दिया। बढ़ते-बढ़ते छह और अन्त में उसे आठ आने का हिस्सेदार बना लिया। दो-तीन वर्ष सेठ ने वहाँ कार्य किया। लाखों रुपयों की पूंजी उसके हिस्से में जमा हो गई। सेठ ने सोचा, अब वापस मुझे अपने घर जाना चाहिए। अपनी इज्जत, प्रतिष्ठा कायम करनी चाहिए। सारा कर्जा चुकाकर स्वय को पूर्वरूप में प्रतिष्ठित करना चाहिए।

एक दिन सेठ ने बनजारे से कहा—भाई ! कृपया अब मुझे आज्ञा दें, मैं अपने देश जाना चाहता हूँ। अपने घर को सम्हालना चाहता हूँ। आपने बड़ी कृपा की, समय पर मुझे सहारा दिया, मैं जीवनभर आपका कृतज्ञ रहूँगा।

बनजारे का बड़ा आग्रह रहा कि सेठ उसके साथ रहे पर सेठ नहीं माना। आखिर बड़े वैभव के साथ उसने वहाँ से विदा ली।

सेठ बड़े तामझाम और सम्पदा के साथ देश की ओर रवाना हुआ। मार्ग में ससुराल का गाँव पड़ता था। सेठ ने सोचा—घरवाली तो वहीं होगी। सेठानी की सम्हाल तो लूं कि वह किस वेशभूषा में बैठी है ? उनका क्या हाल-चाल है ? गांव पहुंचने के दो दिन पूर्व सेठ ने अपने ससुर को समाचार भिजवा दिया कि आपके दामाद सकुशल बड़े वैभव के साथ कल-परसों तक आपके यहाँ पहुँच रहे हैं। सुनकर ससुर को बड़ा हर्ष हुआ। जिस व्यक्ति का पिछले तीन वर्षों से पता नहीं था, वह कुशल-क्षेमपूर्वक लौट रहा है, इससे बढ़कर खुशी की क्या बात होगी ? ससुर दौड़कर घर आया और अपनी पुत्री को बड़े चाव से यह सन्देश सुनाया कि पुत्री ! तू बड़ी भाग्यशालिनी है। तेरे पतिदेव सकुशल यहाँ पहुँच रहे हैं। सास आदि सभी पारिवारिक जन अत्यन्त आनन्दित हुए, पर सेठानी पर तो मानो घड़ों पानी गिर गया। उसने सोचा—हाय ! सेठ जीवित आ रहा है, अब मैं कैसे मुँह दिखाऊँगी ? मेरी बात सबके सामने खुल गई तो मेरी क्या हालत

होगी ? वह तो काँपने लगी पर ऊपर से उसने भी उल्लास व्यक्त किया। दूसरे दिन सेठ आ पहुँचा। अपनी ससुराल के सभी लोगों से बड़े प्रेम से मिला। सेठ ने सारे वार्तालाप के बीच इधर-उधर की बाते बनाकर स्थिति टाल दी, पर वह अप्रकाश्य घटना प्रकाशित नहीं की। सेठ बडा गम्भीर था। वह सोचता था कि स्त्री का सम्वन्ध एसा है, जो तोडा नहीं जा सकता। फिर उसमें कटुता के वीज बोने से क्या लाभ ? इसका दोष ही क्या है ? यह तो मेरे ही अशुभ कर्मो का दोष है ? सेठ उस विष के घूट को शंकर की तरह पी गया। दिन बीता। रात्रि के समय सेठ जब शयनालय में गया, सेठानी वहाँ उपस्थित थी। उसका दिल तो बेहद धडक रहा था। पर अब चारा ही क्या था ? स्त्री सामने आई और अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति तथा प्रेम दिखलाती हुई कहने लगी—आज मेरे लिए परम आनन्द का दिन है, आपके दर्शन हुए। जिस वात की हम आशा ही खो चुके थे, वह आज अनायास प्राप्त हो रही है। प्रियतम ! मुझे बडा अफसोस है, उस दिन आप उस जगल के कूए पर जब पानी निकालने लगे, गर्मी के कारण आपको चक्कर आ गया और आप तुरन्त कूए में गिर पड़े। मै तो अवाक्-सी रह गई तथा खडी-खडी मै वहुत रोई, चिल्लाई पर आपकी वापस कोई आवाज ही नही आई। मैंने सकट सहे। ज्यों-त्यो कर पिता के घर पहुँची। इतने दिन तक आपकी बहुत खोज करवाई, पर आपका कोई पता ही नही चल सका। कही आपको ऐसा भ्रम तो नही है कि उस कूए मे गिरने का हेतु मै वनी हूँ ? इस प्रकार वह सफाई देने लगी। सागर के समान गम्भीर सेठ ने कहा—प्रिये ! यह तूने क्या कहा ? तू मुझे कूए मे धकेल दे, ऐसा तो मै स्वप्न में भी नही सोच सकता। मै तो स्वय जानता हूँ कि मुझे गर्मी के कारण बेहोशी आ गई थी और मै गिर पडा था। तुम ऐसी भ्रान्ति मन से ही निकाल दो। तुम तो मेरी जीवन-सगिनी हो, अर्द्धांगिनी हो।

यह सुनकर सेठानी मन ही मन फूली नही समाई। उफ ! मै तो यो ही काँप रही थी, इनको तो उस करतूत का पता ही नही। ये तो स्वय ही गिर पड़े थे, ऐसा ही मानते है।

वस, दूध-पानी की तरह सेठ-सेठानी का मेल हो गया। एक-दो दिन वहाँ रुककर सेठानी को साथ लेकर सेठ अपने नगर की ओर चल पडा। घर पहुँचा। गिरवी रखे अपने मकान, जमीन-जायदाद, दुकाने आदि छुड़-वाईं। सेठ के यहाँ पहले से भी सवाया ठाठ-वाट दिखाई देने लगा। सारी स्थिति नियन्त्रण में आ गई। सानन्द समय व्यतीत होने लगा।

अनुक्रमे एक हुओ दीकरो, जोवन वय परणायो।
उणरे लारी इसड़ी आई सासू थकी सत्रायो ।। बोलो नां जी" ।।

क्रमशः सेठ को एक पुत्र की प्राप्ति हुई। बड़े प्रेम से उसका लालन-पालन किया गया। पुत्र के युवा होने पर उसका विवाह किया। पुत्र-वधू जो आई, वह बडी तेज-तर्रार थी। घर में आते ही सास के साथ उसकी खटपट चलने लगी। सास तो वैसे उग्र स्वभाव की थी ही, वहू उससे भी दो कदम आगे निकली। वह एक बात के जवाब में पाँच तीखी बातें सुनाती। घर का वातावरण बहुत अशान्त हो गया। सेठ और सेठ का बेटा—दोनों इस वातावरण के कारण मन ही मन बहुत खिन्न थे, पर क्या किया जाता ?

वहू रात-दिन इसी ताक में रहती कि सास की कोई ऐसी बात मेरे हाथ में आये कि वापस ताना मारने का मजा आ जाये।

एक दिन मध्याह्न में सेठ भोजन करने के लिए दूकान से घर आया। पुत्र दुकान पर ही था, सेठ अकेला ही आया था। सेठानी ने भोजन की सारी व्यवस्था जमा रखी थी।

एक दिन शाहजी जीमण बैठ्या, त्रिया परोस्यो भाणो।
चिलको पडियो तावड़िया रो, थाली पर चमकाणो ।। बोलो नां जी।
ले ओढणो शाहजी पर ढांक्यो, शाहजी ने हांसो आयो।
वा विरियां तू भूल गई जद, कूआ में धमकायो ।। बोलो ना जी" ।।

सेठानी ने गद्दी-बाजोट लगाया। स्वच्छ थाल में सेठ के लिए स्वयं अपने हाथों से सरस भोजन परोसा। सेठ भोजन कर रहा था। सेठानी पंखा झल रही थी। बीच-बीच में अनेक पदार्थों की मधुर मनुहार कर रही थी। इतने में ही ऊपर का एक रोशनदान अचानक हवा के वेग से खुल गया। एकाएक सूरज की तेज किरणें सेठ की आँखों पर गिरी, इधर सेठ की थाली भी धूप से चमक उठी। सेठानी ने सोचा—धूप की गरमी पड़ने से कहीं सेठ को सिरदर्द या सर्द-गर्मी न हो जाए। उसने फौरन अपने ओढ़ने के पल्ले को फैलाकर सेठ पर पड़ने वाली किरणों को रोक लिया। यह देख कर सेठ के चेहरे पर थोड़ी-सी मुस्कराहट दौड़ गई। मन ही मन सेठ ने सोचा— ओह! आज मेरे ऊपर सूरज का चमकना भी इसे सहन नहीं होता, उस दिन इसका कितना साहस है, इसका भी इसने विचार नहीं किया।

पर सेठ ने तुरन्त अपनी हँसी को दबा लिया। यह स्मृति की एक लहर थी, सेठ ने उसको वही समाप्त कर दिया। सेठानी को इसका कोई अन्दाजा नही हुआ पर बेटे की वहू सामने "तिबारी" में घूँघट में मुँह छिपाये बैठी थी। उसकी तीखी निगाहों ने इस हँसी को भॉप लिया। प्रतिदिन सेठ चुपचाप आते है, खाना खाकर चले जाते है। न कभी कुछ बोलते है, न कोई हसी-मजाक करते है। आज जब सास ने ओढने का "ओल्हा" किया तो सेठ को हसी क्यो आई ? इसमें अवश्य कोई न कोई, कुछ न कुछ दाल में काला है। इसके पीचे अवश्य कोई पुरानी बीती बात होनी चाहिए। मुझे इस रहस्य का पता लगाना चाहिए।

रात के समय जब सेठ का लडका सोने के लिए शयनालय में आया तो उसकी स्त्री ने दिन में घटित सारी बात सुनाई और कहा—मुझे इसका रहस्य बतलाइये। आपके पिताजी का मुस्कराना किसी गम्भीर स्थिति का सूचक है। समझदार सेठ के बेटे ने कहा—तुम भी कैसी बेसमझ हो ? ऐसी वात माता-पिता से कभी कोई समझदार बेटा पूछ सकता है ? क्या मै पिताजी से यह पूछू कि आप खाना खाते समय क्यों हसे ? खबरदार, जो ऐसी वात उठाई, मै इस प्रपच मे बिल्कुल नही जाना चाहता। पर वह हठीली पत्नी कहाँ मानने वाली थी। वह तो इस प्रकार पीछे लगी कि यदि आप इस रहस्य का पता लगाकर नही देंगे तो मै खाना-पीना छोड़ दूंगी, आपके साथ वात करना छोड दूगी। त्रियाहठ जो था, आखिर पत्नी के भारी दवाव के कारण सेठ का पुत्र इस रहस्य का पता लगाने को तैयार हो गया।

दूसरे दिन दूकान में जब पिता-पुत्र दोनो बैठे थे, तीसरा कोई व्यक्ति वहा नही था, समय देखकर उसने पिता से विनयपूर्वक पूछा—एक बात मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, आप कृपया मुझे सही स्थिति से अवगत कराये। पिता ने सोचा—कोई व्यापार सम्बन्धी बात होगी, इसलिए कहा—बेटा ! जो कुछ पूछना चाहते हो, पूछो। तुम्हे नही वताऊँगा तो किसे वताऊँगा ?

पुत्र ने वडे सकोच के साथ पूछ ही लिया कि कल जव आप खाना खा रहे थे, मेरी माँ आपको खाना खिला रही थी, थाली पर धूप पडने पर माँ ने ओढने मे "ओल्हा" किया, तव आपको हँसी क्यों आई ? आपकी मुस्कराहट के पीछे क्या कोई रहस्य है ? इतना सुनते ही सेठ गम्भीर हो गया। पुत्र को धमकाते हुए बोला—तुझे ऐसी वात पूछते शर्म नही आती ? चल यहा से खबरदार ! फिर कभी ऐसा प्रश्न मत उठाना।

सरल स्वभाव श्रेष्ठि-पुत्र सचमुच भयभीत हो गया, चुप रह गया। आगे कुछ वोल ही न पाया। रात के समय जब पत्नी के पास पहुँचा, उसने फिर वही बात दोहराई—आपके पिताजी ने क्या रहस्य वतलाया? पुत्र ने कहा रहस्य क्या वतलाना था, मुझे वहुत जोर से धमकाया और आगे से ऐसे प्रश्न पूछने की मनाही कर दी।

यह सुनकर पुत्रवधू का सन्देह और गहरा हो गया कि निश्चय ही इसके साथ कोई रहस्यपूर्ण घटना जुड़ी है। कुटिलाशया पत्नी ने कहा—आप भी कोई मर्द हैं? सेठ के इतना-सा कहने पर सहम गए, भयभीत हो गये। आप उनसे दुवारा रहस्य पूछो, और कहो कि यदि वे सही भेद नही वतलायेंगे तो मैं कूए में गिरकर प्राणान्त कर दूँगा। कांटा तो कांटे से ही निकाला जाता है। घर का रहस्य जानने का क्या आपको अधिकार नही है?

उस दुष्टा स्त्री ने पति को इस प्रकार भरा कि उसका मस्तिष्क विलकुल परिवर्तित हो गया।

दूसरे दिन फिर दूकान में एकान्त अवसर देखकर पुत्र ने वही प्रश्न दोहराया और कहा कि मैं आपका एकाकी पुत्र हूँ। मेरे से भी आप कोई रहस्य छिपाते हैं, यह कहां तक उचित है? मैं, जो भी हो, उस रहस्य का पता लगाए विना नही रहूँगा। यदि आप मुझे सही घटना नहीं बतायेंगे तो मैं कूए में कूदकर प्राण दे दूँगा। आप निश्चिन्त रहिए, मैं किसी के समक्ष इस रहस्य का उद्घाटन नहीं करूँगा, पर मुझे यथार्थ स्थिति से अवगत कराना ही होगा। वेचारा सेठ वड़े असमंजस में पड़ गया। वह नही समझ पा रहा था कि उसे क्या करना चाहिए? उसे मन ही मन यह सन्देह भी हो चुका था कि यह सारी कुटिल कार्यवाही पुत्रवधू की है। यह मन्त्र-भेद वड़ा अनर्थकर सिद्ध हो सकता है। पर इधर पुत्र का स्नेह सेठ को मार रहा था। कहीं पागल वेटा इसी आवेश में आकर अपना प्राणान्त न कर ले, अतः सेठ ने कहा—पुत्र! तुम मेरी बात मान लो। इस रहस्य के उद्घाटन में कोई लाभ नहीं है, न कोई उपयोगिता ही है, यह मन्त्र-भेद अनिष्टकर है। बस, तुम इतने में ही समझ लो। पर पुत्र नहीं माना।

आखिर बाध्य होकर सेठ ने संक्षेप में वह घटना बतलाई। उसने इस प्रकार कहा—बेटा! संसार बड़ा विचित्र है। स्वार्थी [illegible] का अजब तमाशा है, यहीं विचित्र स्थिति है। [illegible] तुम्हारे जन्म से पूर्व एक बार मेरे व्यापार में इतना घाटा [illegible] मेरा सब कुछ चला गया। मैं भारी कर्जदार हो गया। तब और कोई

चारा न देख मैं तुम्हारी माँ के साथ तुम्हारे ननिहाल जा रहा था। रास्ते में तुम्हारी माँ को प्यास लगी। कूए पर मै पानी निकालने के लिए गया। वहाँ तेरी माँ ने ऐसा कुछ किया, क्या बतलाऊँ, कुछ कहा नही जा सकता। मैं कूए में गिर गया। यों कहकर उसने आगे की सारी घटना सुनाई, पर पुत्र ! अब इस बात को खोलने में कोई लाभ नही है। इसमें तेरी माँ का कोई दोष नही। वह समय का ही दोष है। मेरे दिन ही उलटे थे। तब ऐसा हुआ। यों कहकर सेठ ने सारी बात समेटनी चाही। पुत्र ! यह रहस्य किसी के समक्ष प्रकट नही करना और तेरी पत्नी को तो इस बात की गन्ध तक नही लगना चाहिए।

पिता ने बहुत कुछ समझाया, पर अपरिपक्व कोठे (आमाशय) का पुत्र इतनी भारी बात को कहाँ हजम कर सकता था ? ज्यों-त्यों करके दिन बीता। रात के समय शयनकक्ष में गया तो फिर उस कलहकारिणी ने वही प्रश्न दोहराया। सेठ के बेटे ने कहा—चिन्ता मत कर, सारा रहस्य ले आया हूँ, पर पिताजी ने किसी के आगे कहने की सख्त मनाही की है। इसलिए कहूँ तो कैसे कहूँ। पत्नी बडा प्यार जताने लगी। बडी कोमलता, एवं नम्रता से बोली— नही, नही मुझे कहो, चाहे दीवार से कहो। बात कहीं बाहर फूट नही सकती, पर मुझे तो भेद बतलाना ही होगा। यदि मैं इस बात को ताड नही लेती तो आपको भी बात का क्या पता चलता। आखिर भद्र-स्वभाव के पुत्र ने सारी बीती घटना बतला दी कि किस प्रकार उसकी माँ ने पिता को कूए में धकेला था।

पुत्र-वधू सुण मन मे हरखी. जाणे हाथ में खरची आई।
पाँच चार दिन आडा घाली, माडी ताम लडाई ॥ बोलो ना जी ॥

सारा भेद जानकर वह मन ही मन अत्यन्त प्रसन्न हुई। मानो कोई भारी सम्पत्ति उसके हाथ लग गई हो। अब तो वह झगडा होने के इन्तजार मे थी। पाँच चार दिन मे ही उसने किसी छोटी सी बात का बतंगड़ बना लिया और सास के साथ उलझ पडी, जबरदस्त लडाई छेड दी। क्रोधारुण सास ने कहा—बहू क्या है, प्रत्यक्ष पिशाचिनी है, डायन है, चुड़ेल है। इसका तो खानदान ही नीचा है। पता नही, यह किसकी सन्तान है ? सास ने काफी नीचे शब्दों का प्रयोग किया। तब कडकती हुई बहू ने कहा—हाँ, सासूजी ! मै तो बहुत नीच घराने की हूँ, साक्षात् राक्षसी ही हूँ, पर फिर भी आप से तो बहुत अच्छी हूँ। मैंने अभी तक अपने पति को

कुएँ में तो नहीं ढकेला। सासूजी ! वह कुआ कितनाक गहरा था, जिसमें आपने अपने पतिदेव को धक्का दिया था ? शर्म नहीं आती आपको मुँह ऊँचा करके बोलते हुए, आपको तो चुल्लूभर पानी में डूब मरना चाहिए। मुझे नीच बतलाती हो, जरा अपना आपा सम्हालो, देखो, खुद कितनी ऊँची हो !

इस प्रकार बहू ने सास पर वज्रोपम मार्मिक प्रहार किया। यह सुनकर सास स्तब्ध रह गई। हाय ! इसे इस भेद का पता कैसे चला। मैं तो सोचती थी कि स्वयं सेठ को भी इस रहस्य का पता नहीं है। इसको जब पता है तो पुत्र को भी निश्चित रूप से इसका पता लग गया होगा। अब मैं इसका क्या जबाब दूँ। मेरा तो जीना ही बेकार है।

ऊँची नाक लेइ स्यूं बोलो, भेद थांरो में पायो।
वा विरिया तू भूल गई, पीउ कुआ में धमकायो ॥ बोलो नां जी ॥
बहुवर वचन सुणी सासु रैं, दिल पर चढ़ी चण्डाली।
मेड़ी चढकर फांसी लीन्ही, मरण लही तत्काली ॥ बोलो ना जी ॥

सास उस मार्मिक आघात से इतनी पीड़ित—आहत हुई, उसे इतनी भयंकर चण्डाली चढ़ी, विक्षोभ हुआ कि मैं अब कैसे मुँह दिखाऊं ? फैलती फैलती यह बात सभी सगे-सम्बन्धियों तक जाएगी। वह बिना कुछ कहे, अपनी हवेली के ऊपरी भाग में गई, वहाँ मेडी (ऊपर के कमरे) में फन्दा लगाकर खुद के गले में डाल लिया और आत्महत्या करली। वह अकेली नीचे बैठी हुई सोच रही थी कि आज सास के मुँह पर मैंने ऐसा थप्पड़ मारा है कि वह अब मेरे सामने कभी मुँह नहीं खोल सकती। इतनी देर हो गई, ऊपर बैठी योजना बना रही होगी, नीचे आने की तो हिम्मत नहीं रही।

इतने में सेठ मध्याह्न का भोजन करने के लिए घर आया।

इतने में शाहजी जीमण आया, घर नारी नहीं पाई।
देख [illegible] मेडी ऊपर, उण पर फांसी खाई ॥
बोलो ना जी ॥

तब वह स्वय ऊपर गया। फाँसी के फन्दे पर लटकी सेठानी को देखकर सेठ के मन पर भारी आघात लगा। अफसोस ! अनर्थ हो गया। लगता है, बेटे ने सारी बात बहू को बतला दी और बहू ने तीखी वाणी में वह मर्म उद्घाटित किया होगा। उसी मार्मिक प्रहार से आहत होकर सेठानी मौत के मुह में पहुँच गई। हाय ! मेरी अक्ल कहाँ चली गई। इतने दिनों तक जिस घटना को गोपित किये रहा, स्वयं सेठानी को भी नही बतलाया, उस पुराने जहर को मैने क्यों उगल दिया ? सारे अनर्थ की जड मैं ही हूँ। मेरी भूल ने ही पत्नी के प्राण लिए है मै क्या मुह दिखाने योग्य हूँ ? जब लोग यह बात जानेगे कि पत्नी इस प्रकार फाँसी खाकर मर गई तो मेरी सारी इज्जत धूल में मिल जायेगी। इस मर्मान्तिक दु ख से पीडित सेठ ने पत्नी को फन्दे से नीचे उतार कर अपने गले मे वह फन्दा डाल लिया और बड़े दुःख के साथ प्राणो का परित्याग कर दिया।

सेठ का पुत्र लम्बे समय तक पिता की प्रतीक्षा करता रहा। प्रतिदिन का नियम था कि पिता खाना खाने के बाद जब वापस दूकान पर आ जाता, तब पुत्र खाना खाने के लिए घर आया करता था। आज तो बहुत देर हो गई, चार बज गये। बेटे के मन मे कुछ आशंका सी उत्पन्न हुई। वह दूकान को बन्दकर अपने घर पर आया और स्त्री से पूछा—माँ-पिताजी कहाँ है ? स्त्री ने कहा—वे दोनो ऊपर बैठे हमको अलग करने की योजना बना रहे होंगे। आज घर में भारी महाभारत मचा है, इसलिए अब हमको सम्मिलित नही रखेगे। बेचारा पुत्र आकुल-व्याकुल होता हुआ सीढिया चढ गया। ऊपर वाली मेड़ी में चढते ही वह स्तब्ध रह गया। माँ की मृत देह नीचे पडी थी और पिता फाँसी के फन्दे मे लटक रहा था। पुत्र अवाक् सा रह गया। उफ् ! सारे पाप का हेतु मैं ही हूँ। पिताजी ने बहुत समझाया था कि बेटा ! तू उस रहस्य को मत पूछ, अनर्थ हो जायेगा किन्तु मेरे अत्यधिक आग्रह ने पिता को वह रहस्य खोलने के लिए बाध्य कर दिया था। उसी का दुष्परिणाम मेरे सामने है। मै क्या पुत्र हूँ ? कुलागार हूँ। जिस पुत्र के कारण माता-पिता इस प्रकार असमय में ही काल कवलित हो जाये, क्या यह पुत्र मुह दिखाने योग्य रहता है ? मुझे भी यही रास्ता ले लेना चाहिए। उसने पिता के गले से फन्दा निकाला और अपने गले में डालकर वह सदा के लिए समाप्त हो गया। बहू नीचे बैठी आशकित हो रही थी कि पिता, माँ और बेटा—तीनो एक हो गए लगते है। अब तो मुझे घर से बाहर निकालेगे। आज जो कुछ मैंने कहा है, लगता है उसका परिणाम भयंकर होगा। छह बज चुके है, सात बज चुके है, ऊपर से कोई आवाज नही आ रही है। उसने सीढियों के पास जाकर कुछ सुनने की

चेष्टा की, पर जब बिलकुल नीरवता छाई हुई सी प्रतीत हुई तो वह साहस करके ऊपर चढ़ने लगी। ऊपर चढ़कर ज्यों ही मेड़ी की ओर झांका, वह तो भय से पीली पड़ गई। पसीना छूटने लगा। सास-ससुर के मृत शरीर नीचे कमरे के आंगन में पड़े थे और पति फाँसी के फन्दे पर झूल रहा था। हाय ! सब कुछ लुट गया। एक मेरी जबान ने घर मे आग लगा दी। अब मुझे कौन जीवित छोड़ेगा ? सारा दोष मुझ पर आयेगा। मैं तो जीवित भी मर चुकी हूँ।

इस तरह सोचकर भीषण आर्त्त-रौद्र ध्यान के परिणामों में उसने पति के गले से फन्दा निकालकर अपने गले में डाल लिया। एक शब्द के कारण सारा घर समाप्त हो गया। जगत् में बड़ी निन्दा हुई, बदनामी हुई तथा आत्महत्या के कारण सभी दुर्गतिगामी बने। कवि सौभाग ने एक पद लिखा है—

सोभा माठी बात रो, कदे न लीजै अन्त।
एक साहूकार रै डीकरै, लियो पिता रो तन्त।
लियो पिता रो तन्त, बात गई कामण कानै।
कामण मोसो मारियो, सासू मर गई छानै।
पिता पुत्र दोनूं मुआ, अरु घर वाली नार।
कटुक वचन कारण मरया, एकण घर रा च्यार॥

इसी भावना पर आधारित एक गीत हमने लिखा है—

कैसा ढावै जुलमवा हो, नादान ! तेरी बोली निकली।
मानो आगी लगी बदन में, मुखड़ा हो गया लाल।
सारा ही तन लगा धूजने, हृदय हुआ निढाल।
सीने बीच गोली निकली।
कैसा ढावै जुलमवा हो, नादान ! तेरी बोली निकली॥

चला मुकदमा चढे कोर्ट जब, लड़ने लगे वकील।
रिश्वतखोरी चली धनाधन, बढने लगी दलील।
रुपयों की नौली निकली।
कैसा ढावै जुलमवा हो, नादान ! तेरी बोली निकली ॥

एक ही चिन्ता लगी दुतरफा, शान्ति नही पल एक।
लगा छीजने धन से, तन से, आठ पहर का सेक।
सूरत धोली, धोली निकली।
कैसा ढावै जुलमा हो, नादान ! तेरी बोली निकली ॥

सीख बोलना पहले, वरना लेले सुख से सीख।
मान वचन 'चन्दन' का प्यारे, बोल वचन मधु ईख।
ज्यों प्रेम की ओली निकली।
कैसा ढावै जुलमवा हो, नादान ! तेरी बोली निकली ॥



१७

म्हारी साधना नै मन्द क्यूँ बणावो म्हारा मनजी !
मैं ध्यान कैयां ध्याऊँलो ? मैं ज्ञान कैयां पाउँलो ? ध्रुव !

हे कान में आवाज आई किणरी, कठेस्यूं,
उणरी थे तान मिलावो, म्हारा मनजी ।। मैं० १ ।।

हे चूंप धर रूप कोई नजरां स्यूँ निरख्यो,
उणरा थे मांडणा मंडाव्रो, म्हारा मनजी ।। मैं० २ ।।

हे पाक या नापाक गन्ध नाक वीच आई,
तो साख बैठ उणरी पुरावो, म्हारा मनजी ।। मैं० ३।।

हे रसना रा रास में थे खास कर नाचो,
खीर पूड़ी लाडू पेड़ा खावो, म्हारा मनजी ।। मैं० ४ ।।

हे फर्स रो आदर्श थांसूँ राखणी न आवै,
पींजरा नै चकरी चढ़ावो, म्हारा मनजी ।। मैं० ५ ।।

हे साथणियां नै छोड़कर अकेला पण भटको,
आभला रै खांभला लगावो, म्हारा मनजी ।। मैं० ६ ।।

हे मैं तो जाण्यो वधग्यो हूँ साधना में आगे,
पाछा थे धकेलकर ल्यावो, म्हारा मनजी ।। मैं० ७ ।।

हे 'चन्दन' हैरान थां सूँ रक झक करतो,
छाना-माना क्यूँनी वैठ जावो ? म्हारा मनजी ।। मैं० ८ ।।

तर्ज—म्हारी हथेल्यां रे वीच छाला पड़ग्या म्हारा मारू जी ।

१७.

म्हारी साधना नै मन्द क्यूँ बणावो म्हारा मनजी !

अयं साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
जंसि गोयम ! आरूढो, कहं तेण न हीरसि।

—उत्तरा. २३/५५

भगवान पार्श्व के शिष्य त्रिज्ञान सम्पन्न केशीकुमार श्रमण श्रावस्ती पधारे। संयोगवश भगवान् महावीर के परम शिष्य इन्द्रभूति गौतम का भी वहीं समागम हुआ। आचार-विचार विषयक भिन्नता के कारण शिष्य-मण्डली में कुछ ऊहापोह उत्पन्न हुआ। निराकरण के लिए दोनों महा-मुनियों की एक संगोष्ठी हुई। ज्ञानियों की गोष्ठी थी, इसलिए गहन तात्त्विक वार्तालाप चला।

उस समय श्रमण केशीकुमार गौतम स्वामी से एक प्रश्न पूछते है—यह मन बड़ा साहसी है, भीम है—भयंकर है दुष्ट—उद्धत अश्व की ज्यो दौडता है। गौतम ! इस अश्व पर आप आरूढ है, क्या यह आपका अप-हरण नही करता ? आपको लेकर कही उन्मार्ग में—ऊबड़-खाबड़ भूमि में नही दौड़ जाता ?

वास्तव में धर्म-साधना के क्षेत्र में यह प्रश्न सदा उत्पन्न होता रहा है। क्योंकि साधक को साधना-क्षेत्र में उतरते ही यह मन वहुत परेशान करने लगता है। साधना की अबाध गति में व्यवधान पैदा करता है। उस समय एक तड़फ जगती है, एक सकल्प उठता है कि किसी तरह यह मन शान्त हो, टिक जाये, यह नियन्त्रित हो जाये। हमने एक भजन लिखा है। उसमें साधक की वही परेशानी व्यक्त की गई है। साधक मन से ही पूछता

है कि तुम मेरी गति में विघ्न क्यों उपस्थित करते हो ? आखिर तुम्हारी इच्छा क्या है ? भजन इस प्रकार है—

म्हांरी साधना नै मन्द क्यूं बणाओ म्हांरा मनजी !
मैं ध्यान कैयां ध्याऊंलो ? मै ज्ञान कैयां पाऊंलो ।।ध्रुव।।

है, कान में आवाज आई किण री कठैस्यूं,
उणरी थे तान मिलाओ म्हारा मनजी !
मैं ध्यान कैयां ध्याऊंलो !

मन को सम्बोधित करता हुआ साधक कहता है—हे मन ! तुम मेरी साधना को मन्द क्यों बनाते हो ? मैं ध्यान में कैसे स्थिर बन सकूंगा ? अध्यात्म की गहराई में कैसे उतर सकूंगा ? ज्ञान में, ध्यान में मन की चंचलता बहुत बड़ा अवरोध है। जब तक मन स्थिर नही रहता, शान्त नही होता, तब तक ध्यान कैसे सध सकता है ?

मन की स्थिति तो ऐसी है कि कान में कोई शब्द पड़ते ही मन फौरन उसके साथ हो जाता है, उसकी तान में तान मिलाने लगता है। गीता में कहा है—

इंद्रियाणि प्रमाथीनि, हरंति प्रसभं मनः ।
—गीता २/६०

इन्द्रियाँ बड़ी प्रमथनशील हैं। वे अन्तर्तम को मथ डालती हैं। मन को बलात् खींच ले जाती हैं।

कर्णेन्द्रिय ज्ञान का सशक्त माध्यम है। प्रत्येक शब्द जो श्रव्य है, हमारे कान में पड़ता है। शब्द कान में आते ही कुछ बोध होता है। यहाँ तक तो कोई बात नही, लेकिन जब मन उस शब्द के साथ स्वयं जुड़कर राग-द्वेष में प्रवृत्त हो जाता है, अच्छी-बुरी कल्पना में लग जाता है, वहाँ हानि होती है।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि राजगृह के बाहर सूर्याभिमुख एक पादस्थित ध्यानलीन थे। सम्राट श्रेणिक अपने दल-बल सहित उद्यान में विराजित भगवान् महावीर के दर्शनार्थ आया। दुर्मुख दूत राजर्षि के पास से गुजरा और कहने लगा—प्रसन्नचन्द्र ! धिक्कार है तुम्हें ! क्षत्रिय होकर क्षात्र-धर्म का पालन तूने नहीं किया। तू तो यहाँ ध्यान लगाकर खड़ा हो गया,

शत्रु राजाओं ने तेरे पुत्र पर आक्रमण कर उसे राज्यच्युत कर दिया, दर-दर का भिखारी बना दिया। इतना कहकर दूत तो आगे बढ़ गया, पर राजर्षि का मन, वचन-श्रवण से उद्वेलित हो उठा। वे अपनी स्थिति भूल गये और प्रतिपक्षी राजाओं से प्रतिशोध के ताने-बाने बुनने लगे। शरीर से ध्यानस्थ खड़े है और मन संग्राम-भूमि में प्रतिद्वन्द्वियों के साथ युद्ध में संलग्न हो गया। क्रूर परिणामों की श्रेणी क्रूरतम होती जा रही है।

इधर ध्यानलीन राजर्षि की उत्कृष्ट साधना से प्रभावित सम्राट श्रेणिक ने समवसरण में पहुँचकर भगवान् की सेवा में प्रश्न उपस्थित किया—प्रभो ! राजर्षि प्रसन्नचन्द्र यदि इस समय आयुष्य पूर्ण करे तो कौन-सी गति प्राप्त कर सकते है ? भगवान् ने कहा—श्रेणिक ! पहला नरक ! ध्यानस्थ राजर्षि प्रथम नरक-भूमि के योग्य कर्मसंचय कर रहे हैं। यह बात श्रेणिक को हतप्रभ कर गई, पहेली उलझ गई, पर सर्वज्ञ के वचनों में सदेह को स्थान कहाँ ? श्रेणिक ने दुबारा वही प्रश्न दोहराया और भगवान् ने कहा—दूसरी नरक-भूमि ! अब तो श्रेणिक का कुतूहल बढ़ गया। वह बार-बार यही प्रश्न पूछने लगा यावत् सातवी नरक भूमि तक राजर्षि की गति पहुँच गई।

इधर राजा श्रेणिक की सेना के पीछे चलता हुआ दूत सुमुख राजर्षि के पास से गुजरा। ध्यानलीन राजर्षि को देखकर बड़ी श्रद्धा से वन्दना करता हुआ कहने लगा—धन्य है, धन्य है ऋषि प्रसन्नचन्द्र ! आपने अपने जीवन को कृतार्थ कर लिया। राज्य, सुख-सामग्री, वैभव, सम्पत्ति, एवं पुत्रादि का आपने कितने अनासक्त भाव से त्याग किया है। दूत स्तुति बोलता हुआ आगे बढ गया।

ये शब्द कानों में टकराते ही राजर्षि प्रसन्नचन्द्र सहसा जाग उठे। अपनी स्थिति में लौट आये। "श्रमणोऽहम् श्रमणोऽहम्" का बोध-पाठ कानो मे गूंजने लगा। मै तो श्रमण हूँ। मेरे पुत्र-पौत्रादि कहाँ है ? किस व्यामोह में मैं फँस गया ? क्रमश भावो की श्रेणी आत्माभिमुखी बनती गई। इधर श्रेणिक की प्रश्न शृंखला के उत्तर वापस ऊँचाई की तरफ लौटने लगे। क्रमश. छठे, पाँचवे, आदि नरक से प्रत्यावर्त होते हुए, तिर्यंच, मनुष्य, देवादि गतियों को पीछे छोड़ा। देवदुन्दुभि बजने लगी, देवता कैवल्य-महोत्सव के लिये आने लगे। राजर्षि प्रसन्नचन्द्र केवली हो गये। घातिक कर्म रूप प्रतिपक्षी मल्लो को पछाड डाला। ऐसा होता है मन का खेल। कान में आये शब्दो ने कैसी लीला रच डाली। इसलिए

कहा कि मन मारने वाला भी है, तारने वाला भी। मन यदि उन्मुक्त, अनियन्त्रित है तो वह अननुभूत वैषम्य का अनुभव करवा देता है। यदि अंकुश में है तो वह अन्तर्जगत की पवित्रतामय यात्रा भी करा देता है।

इस दृष्टि से मन को वश में करना सर्वप्रथम आवश्यक है। आगे कहा गया—

हे, चूप धर रूप कोई, नजरा स्यूं निरख्यो,
उणरा थे मांडणा मंडावो म्हारां मनजी।
मै ध्यान कैयां ध्याऊंलो ?

सुन्दर रूप देखना मन को प्रिय लगता है। कोई रूप आंखों में आया, बस उसके चित्र आंखों में खिचने लगते हैं। उसके चित्र "नेगेटिव" के रूप में भीतर अंकित रहते हैं, समय मिलते ही वह "रील" ज्यों की त्यों आंखों के आगे घूम जाती है। यही नहीं, जो रील भीतर अंकित है, वह नींद में, जागृति में किसी भी समय आंखों के आगे आती रहती है। परिणामस्वरूप प्रतिक्षण चंचलता उत्पन्न होती रहती है और यह रूप-विषयक आकुलता साधक को स्थिर नही बैठने देती। कहीं-कहीं तो यह व्यामोह इतना बढ़ जाता है कि उस रूप को पुनः पुनः देखने की व्याकुलता पैदा हो जाती है।

एक युवक और युवती आमने-सामने मकानों में रहते थे। दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति आकर्षण था। जब भी समय मिलता, दोनों छतों पर आ जाते और एकटक एक दूसरे को देखते रहते। यह स्थिति घरवालों से तथा पड़ौसियों से छिपी नहीं रही। घरवालों ने युवती को रोकने और समझाने की कोशिश की कि उसकी यह चेष्टा शोभाजनक नही है। वह सब की बात सुन लेती, पर उसकी वासना उसे टिकने नहीं देती। जब भी मौका मिलता, वह छत पर चढ़ जाती। आखिर घर वालों ने सोचा कि यह ठीक नहीं है। लड़की समझती नहीं है। इससे सारे खानदान की प्रतिष्ठा घटती है। आपस में परामर्श कर घर की दीवारों को इतना ऊँचा उठवा दिया कि वह उस तरफ झांक ही न सके। इस बात से युवती के मन पर गहरा आघात लगा। उसने सोचा—आंखों से मैं जिसे देखना चाहती हूँ, उसे न देख पाऊँ तो संसार में मुझे और देखना ही क्या है ? इससे

अच्छा हो कि मै अन्धी हो जाऊँ । मनोवेग का ऐसा घातक परिणाम हुआ कि रात-रात में लडकी की आखों की रोशनी समाप्त हो गई ।

ऐसा विकट है मानसिक विकारो का वेग, जो साधक को बार-बार विचलित करता ही रहता है । आगे कहा गया—

है, पाक या नापाक गन्ध नाक बीच आई ।
तो साख बैठा उणरी पुरावो म्हारा मनजी ।
मै ध्यान कैयां ध्याऊँलो ।

घ्राण का विषय गन्ध-ज्ञान है । गन्ध दो प्रकार की होती है—एक सुगन्ध और दुर्गन्ध । सुगन्ध की अनुभूति होते ही मन सहसा आकृष्ट होता जाता है । व्यक्ति सोचने लगता है, यह गन्ध वहुत अच्छी है, मनोरम है । इमे सूँघने में आनन्द आया । यदि दुर्गन्ध आ गई तो वह फौरन घृणा से अपनी नाक सिकोडने लगता है । छिः, थू-थू करने लगता है । गन्ध तो गन्ध है तथा नाक का कार्य उसे ग्रहण करना है, पर यह मन उसके साथ जुड़ते ही व्याकुल हो उठता है ।

पशुयोनि में तो घ्राण-शक्ति का गहरा उपयोग है । पशु खाद्य-पदार्थ को सूघकर निर्णय कर लेते है कि इसे खाना है अथवा नही खाना है । नर-पशु घ्राण शक्ति से यह निर्णय कर लेते है कि मादा गर्भाधान के योग्य है या नहीं है ? यहाँ तक सुना जाता है कि जिस मार्ग से नर पशु गुजरा हो, उसकी गन्ध का अनुसरण करती हुई मादा उसके पास पहुँच जाती है । विषयों का बड़ा विचित्र प्रकार है । इसलिए साधक कहता है कि हे मन ! तुम घ्राणेन्द्रिय के माध्यम से भी मुझे बहुत परेशान करते हो ।

हे रसना रा रास में थे खासकर नाचो,
खीर पूड़ी लाडू पेड़ा खावो म्हारा मनजी !
मैं ध्यान कैयां घ्याऊँलो ।।

रसनेन्द्रिय की रासलीला तो सबसे विचित्र है । इस खेल में मन वहुत अधिक सक्रिय रहता है । उसे नित्य नये, स्वादिष्ट पकवान चाहिए ।

कहा जाता है कि रामकृष्ण परमहस उच्च कोटि के साधक थे । इसीलिए उन्हें "परमहस" कहा जाता था । फिर भी खाने के विपय मे

वे अपने आपको नियत्रण में नहीं रख पाते थे। भोजन-सामग्री में कुछ चीजें उन्हें अत्यन्त प्रिय थी। बंगाल की प्रसिद्ध मिठाई "संदेश" की उन्हें बहुत रुचि रहती थी। जलेबी के भी वे बड़े शौकीन थे। जलेबी का नाम उन्होंने "गवर्नर की गाड़ी का चक्का" रख रखा था। कभी-कभी तो जब उनके पास सत्संग मंडली जुड़ी होती, जिज्ञासु लोग सामने बैठे होते, वे उनके बीच से उठ जाते तथा रसोई बनाने में व्यस्त अपनी पत्नी शारदामणि के पास जा पहुँचते और पूछते—आज तो बड़े स्वादिष्ट भोजन की सुगन्ध आ रही है। तुमने क्या माल बनाया है? आज तो अमुक वस्तु खाने का मन हो रहा है।

उनका इस प्रकार उठ आना तथा खाद्य पदार्थों के सम्बन्ध में यों खुला बोलना उनकी पत्नी को बहुत अव्यावहारिक प्रतीत होता। कभी-कभी वह कह देती कि आप तो परमहंस कहे जाते है, फिर इस प्रकार खाद्य-लोलुपता प्रदर्शित करना क्या आपके लिए उचित है? सरलात्मा परमहंस स्पष्ट कह देते—अभी मेरी जिह्वा की वासना नष्ट नही हुई है। काम-वासना, दाम-वासना, नाम-वासना तो समाप्त हो चुकी है, पर यह खाद्य-वासना अभी मुझे सताती रहती है, इसी कारण मैं इस शरीर में बंधा हुआ हूँ। जिस दिन मेरी यह वासना टूट जाएगी, दो दिन के अन्दर ही मै इस शरीर का परित्याग कर दूगा। आखिर यही हुआ। एक दिन भोजन का थाल सजाकर पत्नी सामने आई तो परमहस ने मुह फेर लिया। कहा—-बस, आज यह वासना भी समाप्त हो गई। इतना सुनते ही थाल पत्नी के हाथ से छूटकर गिर पडा। कहा जाता है, दो दिनों के अन्दर ही रामकृष्ण परमहस ने शरीर त्याग दिया।

कहने का आशय यह है कि जब तक वासनामय शरीर नष्ट नही होता, तब तक हमे नया जन्म लेना ही पड़ता है। इन वासनाओं में खाद्य-वासना बहुत सूक्ष्म है। कई लोग ज्यों-ज्यों वृद्ध होते जाते है, त्यों-त्यों भोजन के प्रति उनकी आसक्ति बढती जाती है। भोज्य पदार्थों के प्रति लालसा तीव्र होती जाती है।

जैन ग्रन्थों मे वर्णित आपाढ़ मुनि का जीवनवृत्त इस जिह्वा वासना का ज्वलन्त उदाहरण है।

आपाढ मुनि बाल्यावस्था में ही दीक्षित हो गए थे। वे उच्च कुलोत्पन्न थे, रूप, वर्ण आकृति आदि में भी अद्भुत थे। दीक्षा लेने

के पश्चात् उन्होने बेले-बेले का तप प्रारम्भ कर दिया। एक दिन पारणे हेतु बड़े शान्त भाव से भिक्षाटन के लिए निकले। भिक्षा के लिए किसी गाथापति के घर मे प्रविष्ट हुए। गृहिणी ने बडी श्रद्धापूर्ण भावना से मुनि को केसरिया मोदक वहराया। भिक्षा लेकर मुनि लौटने लगे। उनके मन में विचार आया कि आज पारणे में मुझे एक ही लड्डू मिला है। यह तो गुरु को अर्पित करूँगा। गुरु की मनुहार किये बिना स्वय कैसे खाऊँगा ? विनीत शिष्य को यदि भिक्षा मे कोई विशिष्ट वस्तु मिले तो सर्वप्रथम गुरु के आगे रखकर उसे ग्रहण करने का उनसे आग्रह करना चाहिए।

तपस्या के कारण आषाढमुनि विशिष्ट ऋद्धि-सम्पन्न हो चुके थे। कई लब्धियां-विभूतियाँ उन्हें प्राप्त हो गई थी। उन्होंने सोचा—एक लड्डू फिर लाना चाहिए, पर इसी रूप में दुबारा लेने कैसे जाऊँ ? अपने लब्धि-वल से मुनि ने रूप परिवर्तित कर लिया और पुनः उसी घर में भिक्षा के लिए पहुँच गए। बहिन ने सोचा—आज मेरा परम सौभाग्य है कि एक मुनि अभी भिक्षा लेकर गए और दूसरे पधार गए। उसने उत्कृष्ट भावना से एक केसरिया मोदक फिर वहराया।

आपाढमुनि ने सोचा, दूसरा लड्डू तो मिल गया पर यह तो मेरे विद्यागुरु को अर्पित करना होगा। विद्यागुरु को आहार के समय प्राप्त सामग्री में आमन्त्रित करना आवश्यक है। इसलिए एक लड्डू फिर लाना चाहिए। ऐसा सोचकर मुनि उसी मकान के पीछे की शून्य गली में प्रविष्ट हुए और लब्धिवल से अपना रूप बदल लिया। अबकी बार तो वे साक्षात् अष्टावक्र ही वन गए। कुब्ज, वामन और अगहीन, दोषयुक्त शरीर बना-कर फिर उसी घर मे भिक्षार्थ आ गये। गृहिणी बडी ही श्रद्धाशील थी पर एक बार में एक ही लड्डू बहराती थी। शायद वह लड्डू नाथद्वारा मदिर के प्रसाद की तरह पर्याप्त मात्रा एवं आकार का रहा हो। अगहीन मुनि को देखकर वहिन ने वडी भावना से उन्हें एक लड्डू वहरा दिया।

मुनि के पात्र मे तीन लड्डू आ गये, पर मन मे विचार उठा कि नवदीक्षित बालमुनि को लड्डू बिना दिये मै पारणा कैसे करूँगा ? एक लड्डू और प्राप्त करना आवश्यक है। देखना यह है कि खाद्य-वासना किस प्रकार बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों को भी परेशान करती है। जहा श्रावकों की भारी वस्ती हो, अनेक घरों में खाद्य-सामग्री सुलभ हो, वहां वार-वार एक घर में एक वस्तु के लिये जाना लोलुपता का ही द्योतक है।

मुनि वापस उस शून्य गली में मुड़े और इस बार एक अस्सी-वर्षीय वृद्ध संत का रूप धारण कर लिया। जिनकी आंखों की ज्योति क्षीण हो गई थी तथा जो दण्ड के सहारे भी कठिनाई से चल पा रहे थे। मुनि बहिन के घर में प्रविष्ट हुए तो बहिन ने सोचा, लगता है आज कोई बड़ी सन्त-मण्डली नगर में आई है। इसलिए मुझे दान का लाभ मिल रहा है। उसी भावना से उसने एक केसरिया मोदक फिर मुनि को बहराया।

मुनि इच्छित भिक्षा पाकर वापस मुड़े। इस सारी लीला को उस शून्य गली में रहने वाले एक नट ने देख लिया। वह चकित रह गया, ये तो बड़े अद्‌भुत मुनि हैं। क्षण-क्षण में रूप बदल लेते है। हमें तो एक रूप बदलने में भी कितना परिश्रम करना पड़ता है। वह भी हूबहू कभी हो पाता है, कभी नही भी होता। ऐसा शक्ति-सम्पन्न युवा व्यक्ति यदि हमारी मन्डली में शामिल हो जाय तो धन का ढेर लग जाय। उस नट के भवन-सुन्दरी और जयसुन्दरी नामक दो पुत्रियां थीं, जो अनुपम लावण्यवती थी। पिता ने दोनों पुत्रियों को उकसाया और कहा कि इस मुनि को अपने हाव-भाव, विभ्रम, विलास द्वारा सम्मोहित करो। यह यदि अपना घर-जँवाई बन जाये तो हम धन्य हो जाये। फिर क्या था ? मुनि ज्यों ही उसके घर के आगे से गुजरने लगे, दोनों नट-कन्यायें मार्ग रोककर खड़ी हो गयी। आप कहां पधार रहे हैं ? हमें कृतकृत्य कीजिए। हमारा सब कुछ आपके लिए समर्पित है।

कथा आगे चलती है, पर तात्पर्य इतना ही है कि मुनि अपने धर्म से फिसल जाते है। मुनि धर्म-परित्याग कर उन दोनों कन्याओं को पत्नी रूप में स्वीकार कर लेते है।

एक जिह्वा की लोलुपता ने मुनि को कहां का कहां ढकेल दिया। वीतरागता की परम पवित्र साधना में अभिरत साधक कामना, भोगलिप्सा के विषय-बन्ध में बंध गया। ज्ञानियों का चिन्तन बड़ा यथार्थ है कि जिह्वा लोलुप विषय-लोलुप बन जाता है। क्योंकि रसनेन्द्रिय की चंचलता वासना की उत्तेजना में मुख्य हेतु है। जिह्वा-जय, उपस्थ-जय सलग्न होता है, एक साथ किया जाता है। इनमें से किसी भी एक इन्द्रिय का असंयम सभी इन्द्रियों के असयम का हेतु बनता है तथा किसी एक इन्द्रिय का पूर्ण सयम सभी इन्द्रियों को सयम की ओर अग्रसर करता है। भिश्ती लोग पानी भरने की जो मशक रखते है उसके दो मुख होते हैं। पानी भरकर दोनों मुख बन्द कर दिये जाते है, किन्तु यदि मशक में कहीं छेद हो जाय तो मुख

बन्द होने के बावजूद सारा पानी बाहर निकल जाता है। सारी मशक खाली हो जाती है। इसी प्रकार किसी एक इन्द्रिय का असंयम सभी इन्द्रियो को असयमित बना देता है। फिर रसनेन्द्रिय, जो सभी इन्द्रियों की पोषक है, का असयम तो भारी आत्मघाती सिद्ध होता है। ऋषियो ने कहा है—

"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः"

आहार की शुद्धि से ही सत्त्व शुद्धि होती है। सत्त्व की शुद्धि से ही सात्त्विक गुण, उत्तम गुण पनपते है। इसलिए साधक कहता है कि हे मन! इस रसना के रास में सम्मिलित होकर तुम क्यो साधना-मार्ग मे विक्षेप करते हो?

हे फरस रो आदर्श थांसू राखणो न आवै
पीजरा ने चकरी चढ़ावो म्हांरा मनजी !
मै ध्यान कैयां ध्याऊँलो ।।

पाँचवा स्थान है—स्पर्शनेन्द्रिय का! इसके आदर्श पर सप्रतिष्ठ रहना बहुत कठिन है। इसका वेग इतना भीषण होता है कि यह इस पजर के शरीर को चकरी चढा देता है। बड़े-बड़े ऋषि, महात्मा, योगी इस स्पर्शनेन्द्रिय के वशगत होकर पतित हो गये। यह ऐसा प्रबल वेग है कि इसके आगे बड़े-बडे धैर्यधर साधक भी विचलित हो जाते है। भगवान महावीर ने एक शब्द का प्रयोग किया है—

"पकभूयाओ इत्थीओ"

स्त्रियाँ पकभूत है—कीचड के समान है। यह स्त्रियो की निन्दा नही है, इसमें एक गहरा रहस्य है—किसी भूमि पर गहरा कीचड हो और उसे पार करना हो, वहा बल का अभिमान नही चलता। वहा शक्ति से नही, सावधानी से कार्य सधता है। हर कदम पर जागरूकता से आगे बढने वाला ही उस पकिल मार्ग को पार कर सकता है। इसी प्रकार इस वासना के वेग को सावधानी से ही पार किया जा सकता है। यहा स्त्री-पुरुष का कोई प्रश्न नही है। प्रश्न वासना का है और उससे बचना आवश्यक है। जैन रामायण में एक पद आता है—

शील पालणो दोहिलो सोहिलो नहीं लिगार।
चंचल चित्त वस राखवो चालवो खांडा धार ।।

वाय भरेवो कोथलो तरवो उदधि अपार।
सांचो सांप खिलावणो, पालवो शीलाचार ॥

इस शीलव्रत को—ब्रह्मचर्य व्रत को निष्प्रकम्प भाव से वहन करना बहुत दुष्कर है, दुराराध्य है। यह मन किस प्रकार तन को चचल बना देता है, इस विषय में पूज्य गुरु महाराज एक सुन्दर उदाहरण सुनाया करते थे—

किसी नगर के बाहर एक संन्यासी अपनी कुटिया में रहते थे। पास ही ठाकुरजी का मन्दिर था। वे उसकी सेवा-पूजा भी करते थे तथा आने वाले भक्तों को भागवत, रामायण आदि की कथा भी सुनाया करते थे। संन्यासी बड़े आचारशील थे तथा बचपन में ही संन्यास लेने के कारण उन्हे शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन था। लोगों में उनके प्रति अच्छी श्रद्धा-भावना थी। एक बार कथा सुनाते समय शास्त्र में एक वाक्य आया—"शील दुष्करम्" अर्थात् शील—ब्रह्मचर्य दुष्कर है। ये शब्द महात्मा की समझ में नहीं आये। यहां लिखने में भूल हुई लगती है। "शीलं दुष्करम्" नही हो सकता, यहां "शीलं सुकरम्" होना चाहिये। इस भूल को अभी सुधार देना चाहिये। भक्त-मडली ने कहा—महात्मन्! यह गलत नही है, बिल्कुल सही है। आप इसे काटने का कष्ट न करें। संन्यासी ने कहा—नही, मुझे लम्बे समय का अनुभव है, मैं बचपन से ही संन्यासी बना हुआ हूँ तथा मैने अपना पूरा जीवन इस व्रत को साधते हुये बिताया है। यह कुछ भी दुःसाध्य नही है। इसमें तो कोई कठिनाई आती ही नही है। भक्तों ने कहा—महाराज! आप निर्मलचेता है, इसकी दुष्करता से अपरिचित है। यह तो महा घोरव्रत है। इसमें यदि जरा-सा स्खलन आ जाय तो वर्षों की साधना मिट्टी में मिल जाती है। पर सरल हृदय साधु कब मानने वाले थे उन्होंने हरताल से "दुष्करम्" को मिटाकर "सुकरम्" लिख दिया। सारी भक्त-मंडली देखती रह गई।

शास्त्रों के अनुभूतिनिष्णात शब्दों को अपनी बुद्धि के आधार पर परिवर्तित कर डालना कोई छोटा अपराध नहीं है। मानो, उसके दन्ड-स्वरूप ही थोड़े दिनों में एक दुर्घटना घटी।

उसी नगर में एक सेठ रहता था। सेठ के एक पुत्र था। यथासमय घर में नववधू आई, पर साथ ही साथ घर की शान्ति लुप्त हो गई। सेठानी और बहू में प्रतिदिन कलह रहने लगी। बहू की किशोर बुद्धि अभी परिपक्व नहीं थी। एक दिन दोनों के झगड़े ने ऐसा विराट रूप लिया कि

बहू आत्म-हत्या करने के लिये घर से निकल पडी। वह जगल की ओर वढने लगी। वर्षा के दिन थे। थोडी ही देर में आकाश में घटाये घिर आई, भीषण तूफान-अन्धड चलने लगा और वह दिङ्-मूढ हो गई। साझ का अँधेरा घिरने लगा। वाहर की शीतल हवा लगने से वहू का दिमाग तो ठडा हो गया, पर रास्ता भूल जाने के कारण वह नगर के बाहर इधर-उधर भटकने लगी। लगभग दो घटे रात बीत गई। घोर अँधेरे में उसे कही दूर एक दीपक जलता दिखाई दिया। उस रोशनी को लक्षित कर चलती हुई वह उस संन्यासी की कुटिया में आ पहुँची। वडी नम्रता से महात्मा को नमस्कार किया और रात-भर रुकने के लिये शरण मागी। नवयुवती, वहुमूल्य अलकारों से भूषित असहाय स्त्री को अपने द्वार पर शरण मांगते देखकर महात्मा ने कहा—बहन ! सन्यासी की कुटिया में किसी अकेली स्त्री का रहना उचित नही, तू कही और चली जा। बहू ने अत्यन्त विनयपूर्वक आग्रह करते हुए कहा—महात्मन् ! मैं तो आपकी पुत्री-पौत्री के सदृश हूँ, कृपा कर मुझे शरण दीजिये, अब मै ऐसे मौसम मे कहां जाऊँगी ? कोई अन्य उपाय न देखकर सन्यासी ने कहा—तू एक काम कर ! मेरी कुटिया में रहना ठीक नही, पास ही यह ठाकुर जी का मन्दिर है, तू उसमें रात्रि विश्राम कर सकती है। मन्दिर के दरवाजे भली प्रकार वन्द कर लेना। सेठ की पुत्रवधू उस मदिर में चली गई तथा द्वार वन्द कर अन्दर विश्राम करने लगी।

कुछ समय वाद बाबा के हृदय में विकार का तूफान उठने लगा। ऐसी नवयुवती सुन्दरी असहाय अवस्था में मेरी कुटिया मे आश्रय खोजने आई थी, यदि रात को उसे यहा रख लेता तो जीवन का आनन्द ले लेता। काम के वेग ने ऐसा जोर मारा कि सन्यासी आपा भूल गये मन मे आया कि अभी क्या विगड़ा है, किसी तरह उसे फुसलाकर मन्दिर का दरवाजा खुलवा लूँ, फिर तो मनचाहा हो जाए। बाबा ने उस अन्धेरी रात मे आकर मन्दिर का द्वार खटखटाया और कहने लगा—तू चल, मेरी कुटिया में ही आराम कर ले। मन्दिर में अकेले रात गुजारना कठिन हो जाएगा। वावा के काम-विह्वल शब्द सुनते ही वह चौक गई ! लगता है, वावा की नीयत मे फर्क आ गया है। उस समय तो कह रहा था कि कुटिया में रात के समय स्त्री का रहना ठीक नही और अव स्वय बुलाने आया है। उसने उठकर द्वार और मजबूती से वन्द कर लिया तथा चुपचाप वैठकर शील-रक्षा का उपाय सोचने लगी। इधर वाबा ने बलपूर्वक दरवाजा खोलने की कोशिश की पर वह सफल नही हो सका। कामांध वावा किसी भी

रास्ते से अन्दर पहुँचने की युक्ति सोचने लगा। आखिर उसे एक उपाय सूझा उसने सोचा—मन्दिर के ऊपर कलश लगा है। ऊपर चढ़कर वह कलश उतार दूँ और उस छिद्र से अन्दर कूद जाऊँ। इस इरादे से बाबा पीछे की दीवार के सहारे मन्दिर के शिखर पर चढ़ गया।

ध्वजा और कलश को उतार दिया तथा उस रास्ते से अन्दर प्रवेश पाने की कोशिश करने लगा। पहले दोनों पैर अन्दर डाले तथा कमर तक अंदर चला गया, पर ऊपर पेट कुछ बड़ा होने के कारण वही अटक गया। कुछ बलपूर्वक नीचे खिसकने की कोशिश की तो ऐसा फँस गया कि न ऊपर चढ़ सकता था और न नीचे ही जा सकता था। बड़ी बुरी हालत हुई। रगड़ लगने से कई स्थानों पर खून टपकने लगा। उसकी बदनीयत देखकर स्त्री ने सोचा कि ज्यों ही यह नीचे गिरेगा, मैं किवाड़ खोलकर बाहर निकल जाऊँगी और इसे अन्दर बन्द कर दूंगी पर बाबा तो ऊपर ही अटक गया। बाबा की लम्बी जटा हवा में फहराने लगी। ठंडी बरसाती हवा के थपेड़े लगने लगे रात पूरी होनी कठिन हो गई। बाबा की अक्ल ठिकाने आ गई। मन में बड़ी लज्जा अनुभव होने लगी।

पूरी रात इसी प्रकार बीती। पौ फटते ही वह स्त्री तो अपने घर की तरफ रवाना हो गई, पर बेचारा बाबा ऊपर ही टगा रहा। आठ-नौ बजे कुछ भक्त सेवक पहुँचे। कुटिया में बाबा को न पाकर इधर-उधर खोजने लगे। अचानक ध्वजा के स्थान पर अटके बाबा पर नजर पडी तो भक्तजन दौड़कर उनके पास आये, कहने लगे—बाबा! आज तो बड़ी कठिन तपस्या प्रारम्भ कर दी। बाबा ने बड़ी सरलता से कहा—पहले मुझे बाहर निकालो, तपस्या की कथा तो तुम्हें फिर सुनाऊंगा। बड़ी मुश्किल से कई लोगों ने मिलकर बाबा को वहां से निकाला। सभी यह जानने को उत्सुक थे कि आखिर मामला क्या है? बाबा ने कहा—पहले वह शास्त्र तथा कलम दवात लाओ। अपनी भूल सुधारना आवश्यक है। लोग हैरान थे। बाबा ने जहां "शीलं सुकरम्" लिखा था, उसे हरताल से मिटाकर लिख दिया—"शीलं दुष्कर, महादुष्करं"। लोगों ने कहा—बाबा! आज ऐसा क्या अनुभव हुआ? बाबा ने कहा—पूछो मत, कुछ कहने जैसी बात नही। बड़ी लज्जाजनक बात है। वह स्त्री कोई ऊंचे खानदान की थी, जिससे कलंक नहीं लगा, हमारी तपस्या भंग नही हुई, वरना हम तो ऐसे फिसले कि कोई कसर नही रही। सारी घटना सुनकर लोग आश्चर्य-चकित रह गये।

इसलिए कहा गया कि मन का वेग, इन इन्द्रियों के साथ मिलकर साधक को वडा हैरान करता रहता है। इससे भी अधिक मन की एक भीषण स्थिति और है—

हे, सायणियां नै छोड़कर अकेला पण भटको,
आभला रे खांभला लगावो म्हांरा मनजी।
मै ध्यान कैयां ध्याऊँलो ॥

इद्रियो के साथ मन क्षण-क्षण चक्कर काटता रहता है पर कभी-कभी अपनी इन सहचरियों को छोड़कर अकेला भी यात्रा मे निकल पडता है। ऐसा भटकता है कि आकाश के खम्भा लगाने जैसी दुर्गम उड़ाने भरने लगता है। जव आदमी नीद में होता है, तब इन्द्रिया तो वेहोश होती है पर अकेला मन भटकता रहता है। स्वप्नावस्था में कहॉ-कहॉ कलकत्ता-वम्वई आदि चला जाता है, व्यापारिक कल्पनाओ मे चला जाता है, विवाह-शादी के प्रसग गढ लेता है, बड़े-बड़े अकल्पित जाल गूँथ लेता है।

जैनगामो मे मन का नो-इन्द्रिय नाम है। कर्णादि पाच इन्द्रिय तथा मन नो-इन्द्रिय के रूप मे अभिहित हुआ है। "नो इन्द्रिय" का अर्थ यहॉ "इन्द्रिय नही"—नही है। इसका तात्पर्य है कि यह इन्द्रियो के साथ तो घूमता ही है, पर अकेला भी चक्कर लगाने में समर्थ है।

सनातन धर्म में करण और अन्त करण शब्दों का प्रयोग हुआ है। मन भीतर की इन्द्रिय है, इसलिए उसे अन्त करण कहा जाता है। इन्द्रियो की चचलता मे तो मन का सहयोग निश्चित है ही, पर अकेला मन भी साधक को वड़ा परेशान कर देता है। मन की दुविधा को व्यक्त करते हुए अगला पद लिखा है—

हे, मै तो जाण्यो बधग्यो हूँ साधना मे आगे,
(पण) पाछा थे धकेल कर ल्यावो म्हांरा मनजी।
मै ध्यान…… … …॥

मैंने तो समझा था कि मै साधना के क्षेत्र में काफी आगे वढ चुका हूँ, परिपक्व बन चुका हूँ, अव मुझे बाहर किसी प्रकार का खतरा नही रहा, क्योंकि मैं तो अपने नियम-धर्म मे हूँ, पर यह मन एक धक्का ऐसा लगता है कि सारी साधना क्षणभर में भूमिसात् हो जाती है। यह तो परम

साधकों से भी नही चूकता । ऊर्ध्वगामिनी स्थिति को एक क्षण में अधोगामिनी वना देता है। सनातन धर्म में नारद मुनि के सम्वन्ध में प्रसंग आता है कि एक बार उन्हें अपनी व्रह्मचर्य-साधना पर गर्व हो गया। पर एक धक्का ऐसा लगा कि सारी स्थिति ही वदल गई। नारद जैसे तपस्वियों को भी मन धक्का मार देता है तो फिर साधारण तपस्वी की तो वात ही क्या ? इसका विश्वास करना खतरे से खाली नहीं है। अन्तिम पद है—

हे, "चन्दन" हैरान थां स्यूं रक-झक करतो,
छाना माना क्यूंनी वैठ ज्यावो म्हांरा मनजी।
मै ध्यान कैयां······ ·····॥

मन ! मैं तुम्हारे साथ रस्साकसी करता हुआ परेशान हो गया हूँ। क्या करूँ, कुछ समझ में नही आता ? तुम चुपचाप क्यों नही वैठ जाते ? यदि तुम शान्त होकर विराजमान हो जाओ तो सारे झझट ही समाप्त हो जाएँ। गीता में अर्जुन पूछता है—

चंचल हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि वलवद्दृढ़म् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ॥
—गीता ६/३४

हे जनार्दन ! मन वड़ा चंचल है, साधक की साधना को मथ डालता है, वड़ा दृढ है। इसका निग्रह करना, इसे नियन्त्रित करना वायु की तरह दुष्कर है।

वहीं केशी और गौतम का सम्वाद साकार हो उठता है कि "मणो साहसिओ भीमो।" दोनों महापुरुषों के उत्तरो में भी वड़ा साम्य है। गौतम उत्तर देते है—

पधावतं निगिण्हामि, सुयरस्सीसमाहियं ।
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई ।
मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं सम्मं निगिण्हामि, धम्मसिक्खाए कंथगं ॥
—उत्तरा. २३/५६, ५८

योगीश्वर कृष्ण समस्या का समाधान देते हैं—

असंशयं महावाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ।।

—गीता ६/३५

पातजल योगदर्शन में भी इन्द्रियों को रोकने के लिए अभ्यास और वैराग्य ये दो उपाय निरूपित किये गये है। अभ्यास एवं वैराग्य से मन का निग्रह किया जा सकता है। वैराग्य को सुस्थिर बनाने के लिए अभ्यास आवश्यक है। इसीलिए पहले अभ्यास को रखा गया है। वैराग्य की परि-भाषा करते हुए महर्षि पतजलि लिखते है—

"दृष्टानुश्रविकविषय वितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्"

—पातंजल योगसूत्र १/१५

दृष्ट और आनुश्रविक—दृष्ट-जगत् में प्राप्य भोगो तथा आनुश्रविक—स्वर्ग आदि मे प्राप्य भोगो को नियन्त्रित करना, निगृहीत करना, अपने वश में करना वैराग्य है।

जैन शास्त्रों मे ऐसे विषयों के सम्बन्ध में बड़ा मार्मिक वर्णन है।

स्थानांगसूत्र चतुर्थ स्थान में काम-सज्ञा उत्पन्न होने के चार हेतु वतलाये गये हैं।

चउहिं ठाणेहिं मेहुण-सण्णा समुप्पज्जति, त जहा—
चितमंससोणिययाए, मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं,
मतीए, तदट्ठोवओगेणं।

—स्थानाग ४/५८१

चार कारणो से मैथुन-सज्ञा—काम-सज्ञा उत्पन्न होती है।

१. उपचितमास-शोणित का होना। शरीर का अधिक हृष्ट-पुष्ट हो जाना। काम-सज्ञा की उत्पत्ति का प्रथम हेतु माना गया है।

२ पूर्वसचित मोहनीय कर्म के उदय से काम-वासना प्रवल हो हो उठती है।

३. काम-विपयक शृंगारिक वर्णन सुनने से वासना उत्पन्न होती है।

४. तदर्थोपयोग—काम-वासना को बढावा देने वाले पदार्थो के विषयो के साथ स्वयं को जोड लेने से काम-संज्ञा उद्बुद्ध होती है।

काम का नाम "मनोभू" है। यह मन की भूमिका पर उत्पन्न होता है। जहाँ हम एतद्विषयक संकल्प-विकल्पों से स्वयं को जोड़ लेते है, वहीं मन चंचल हो जाता है। इसलिए निर्विकल्पावस्था अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसकी प्राप्ति में वैराग्य ही परम सहयोगी होता है।

गौतम स्वामी ने मन रूपी अश्व को ज्ञान-रश्मि से—ज्ञान रूपी लगाम से वश में करने का निर्देश किया है। यानी जहाँ यह अश्व बेकाबू होने लगे, उन्मार्ग की ओर बढ़ने लगे, वहाँ तत्काल ज्ञान की लगाम खींच कर उसे रोका जाए।

इन सब साधनाओं में सुस्थिर होने के लिए बार-बार स्वाध्याय और सत्संग का आलम्बन परमावश्यक है। तभी यह मन शान्त होकर बैठेगा। हमें मन को मारना नहीं है, उसकी दिशा परिवर्तित करनी है। नियन्त्रित मन:शक्ति साधक के लिए अनेक सिद्धियों का हेतु बन जाती है।



१८

मिला जीवन धन्य होने के लिए।
सुखद अवसर है न खोने के लिए ।।ध्रुव।।

उर्वरा भूमि है मानव देह की,
समय है कुछ फसल बोने के लिए ।।१।।

समय की गंगा उफनती जा रही,
पूर्व संचित पाप धोने के लिए ।।२।।

यहाँ अवसर खूब हर्षोल्लास का,
क्यों बना गमगीन रोने के लिए ।।३।।

बहुत से आवर्त है भव-सलिल में,
आत्म-नौका को डुबोने के लिए ।।४।।

संभलकर चलता है 'चन्दन' धीर नर,
नहीं बनता सुस्त सोने के लिए ।।५।।

तर्ज—दिल के अरमां आसुओं····

१८.

मिला जीवन धन्य होने के लिए

धन्यास्त एव भुवनाधिप ! ये त्रिसन्ध्य—
माराधयन्ति विधिवद् विधुतान्य-कृत्याः ।
भक्त्योल्लसत्-पुलक-पक्ष्मल-देहदेशाः,
पाद-द्वयं तव विभो ! भुवि जन्मभाजः ।।

—कल्याणमन्दिर स्तोत्र श्लोक ३४

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर तेतीसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए कल्याण-मन्दिर के ३४ वे श्लोक में लिखते हैं—

हे त्रिभुवन के स्वामी ! संसार में वे ही प्राणी धन्य हैं, जिनकी देह का रोम-रोम आपकी भक्ति के कारण उल्लसित एवं पुलकित हो उठता है और जो दूसरे सब काम छोड़कर आपके चरण-कमलों की विधिपूर्वक त्रिकाल उपासना करते है ।

यहाँ आचार्यवर ने उन्ही पुरुषों को धन्य कहा है, जो प्रभु के ध्यान में अपने को त्रिसन्ध्या तन्मय बना देते हैं । ऐसा नही कहा गया कि जो लाखों-करोड़ों रुपये कमाते है, वे धन्य हैं अथवा जिनके पास जमीन-जायदाद, अपार सम्पत्ति है, वे धन्य हैं अथवा जिनके पुत्र-पौत्रादि का विशाल परिवार है, वे धन्य हैं या संसार में जिनकी अपार ख्याति है, वे धन्य हैं; अपितु भक्तिपूर्वक प्रभु की आराधना करने वाले ही धन्य कहे गए हैं। "चैतन्य महाप्रभु" एक स्थान पर लिखते हैं—

नयनं गलदश्रुधारया, वदनं गद्गदरुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा, तव नामग्रहणे भविष्यति ।

—चैतन्यशिक्षा ६

प्रभुवर ! मेरे जीवन में वह घडी कब आएगी, जब आपका नाम लेते ही मेरी आँखों से आँसुओं की धारा बह छूटेगी, मेरा मुख-कण्ठ आपकी भक्ति से ओत-प्रोत वाणी द्वारा गद्गद हो जायेगा तथा मेरी देह का रोम-रोम आनन्द से पुलकित हो उठेगा ।

प्रभु भजन और सत्सग से जिसका हृदय हर्ष-प्लावित हो उठता है, उसी का जीवन वास्तव में धन्य होता है । हमने एक भजन लिखा है—

मिला जीवन धन्य होने के लिये,
सुखद अवसर है न खोने के लिये ।
मिला जीवन धन्य होने के लिये ।।

हमारे आगमों मे वर्णन आता है कि काकन्दीनिवासी श्रेष्ठी-पुत्र धन्यकुमार चरम तीर्थंकर महावीर के दर्शनार्थ समवसरण में गये । वीत-राग-वाणी के श्रवण से उनकी आत्मा मे विरक्ति के अकुर फूट निकले । जब लौटकर वापस घर आये तो अपने माता-पिता से विनयपूर्वक कहा—आज मैंने परम प्रभु महावीर की देशना सुनी है, उनके पावन दर्शन प्राप्त किये है । उस समय धन्यकुमार के माता-पिता उन्हे जो बात कहते है, वह बडी महत्त्वपूर्ण बात है, मननीय एव स्मरणीय बात है । वे कहते है—

धण्णेसि णं तुमं जाया ! कयत्थे सि णं तुमं जाया !
कयपुण्णे सि णं तुमं जाया ! कयलक्खणे सि णं तुमं जाया !

पुत्र ! तुम धन्य हो, तुम कृतार्थ हो, कृतपुण्य हो, कृतलक्षण हो । यहाँ ये चार विशेषण दिये गये है । मनुष्य शरीर में आकर सत्सगति में जाना, मननपूर्वक श्रवण करना, श्रुत तत्त्व को जीवन मे उतारना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । जीवन इसी से धन्य बनता है, कृतार्थ और कृतपुण्य बनता है । यह अवसर सुदुर्लभ है । अन्य भवान्तरों में धन्य बनने का सुअवसर सुलभ नही है, अप्राप्यप्राय ही है । केवल मनुष्य जीवन में यह अवसर सहज है, सुलभ है । इसीलिये कहा गया है—

उर्वरा भूमि है मानव देह की,
समय है कुछ फसल बोने के लिए ।
मिला जीवन धन्य होने के लिए ।।

मानव-जन्म उर्वरा भूमि है । आचार्य हेमचन्द्र अभिधान चिन्तामणि में कहते हैं—"**उर्वरा सर्वशस्या भू.**"—जिसमे सभी प्रकार के धान्य, फल-फूल

आदि उत्पन्न किये जा सकते हों, उस सरस भूमि को उर्वरा कहा जाता है। ऐसी भूमि में भी फसल बोने की सार्थकता है, सुअवसर है। यदि गहराई से देखा जाय तो अन्य किसी गति में, जाति में, योनि में फसल बोने का, बीज वपन का अवसर है ही नहीं। वे तो केवल भोग-योनियाँ हैं। पीछे की गई कमाई वहां भोगी जा सकती है। नई कमाई का सुअवसर वहाँ कहाँ प्राप्त होता है ? मनुष्य का शरीर ही केवल कर्म-योनि है। यह स्वयं हमारे ऊपर निर्भर है कि हम यहाँ कैसा बीज बोते हैं। उर्वरा भूमि पाकर भी यदि हम आम के स्थान पर ऐरण्ड बोते हैं तो इसमे भूमि का क्या दोष है ? इसलिए हमें सोचना चाहिये कि यह सुदुष्प्राप्य अवसर हमे प्राप्त हुआ है, हाथ से न निकल जाये। आगे कहा गया—

समय की गंगा उफनती जा रही,
पूर्व संचित पाप धोने के लिए।
मिला जीवन धन्य होने के लिए ।।

समय की गंगा तो उफन रही है, तटों को छू रही है, कल्लोलें मारती हुई आगे बढ रही है। यदि कोई अपना पूर्वसंचित पाप धोना चाहे या गोता लगाना चाहे तो लगा सकता है।

एक विचारणीय बात है कि गंगा को तो बहना है, प्रतिक्षण आगे बढ़ना है। चाहे आप गोता लगायें या न लगाये। अमृतमय जल का पान करें या न करें। यह समय तो सुर-सरिता है। यह तो सबके लिए समान रूप से प्रवाहित है। यदि हम धन्य बनना चाहते है तो इस अवसर का पूरा-पूरा सदुपयोग करना चाहिये।

गीत आगे बढ़ता है—

यहां अवसर खूब हर्षोल्लास का,
क्यों बना गमगीन रोने के लिए।
मिला जीवन धन्य होने के लिए ।।

अनन्त भवों से भटकते हुए हमें यह कृतपुण्य होने का अवसर प्राप्त हुआ है। यह हमारे लिये हर्ष का विषय है, आनन्द का विषय है। यह समय गमगीन होकर बैठने का नहीं है; गिड़गिड़ाने, शोक करने और आंसू बहाने का नहीं है। हमने कई ऐसे लोगों को देखा है, जो हरदम अपना रोना रोते रहते हैं। जब देखो उत्साहहीनता की ही बात करते हैं। वस्तुतः ऐसे लोग जीवन जीते नहीं, उसे भार मानकर जैसे-तैसे उसका निर्वाह करते

हैं। धीरे-धीरे उनकी मानसिकता का असर उनके चेहरे पर भी होने लगता है। सूरत से ही मनहूसियत टपकने लगती है।

एक चुटकुला आता है कि एक मियाजी की रुँआसी सूरत देखकर किसी सज्जन ने पूछ लिया—मिया! रोते क्यो हो? मिया ने कहा—नही, भाई साहव! रोता तो नही, खुदा ने मेरी सूरत ही ऐसी बनाई कि मैं सब को रोता हुआ ही प्रतीत होता हूँ।

कहने का तात्पर्य है कि हमारी मनोभावना का प्रतिबिम्ब हमारे चेहरे पर पड़ने लगता है। इसलिए हम उत्साहित और आशान्वित होकर जीवन के क्षण-क्षण को सार्थक बनाने का प्रयास करे। एक शायर ने वहुत खूबसूरत बात कही है—

वुलन्दी से भी गुजरा हूँ, पस्ती से भी गुजरा हूँ।
मगर जिस राह से गुजरा, बड़ी मस्ती से गुजरा हूँ॥

जव हमें इन राहों को पार करना ही है तो इन्हें हसते-गाते हुए मस्ती से ही पार करे।

वहुत से आवर्त हैं भवसलिल मे,
आत्म नौका को डुबोने के लिए।
मिला जीवन धन्य होने के लिए॥

इस भवसमन्दर में वहुत आवर्त है, भवरजाल है जो प्रतिपल आत्म-नौका को डुबोने के लिये आतुर है। अभिधान चिन्तामणि में कहा गया है—

"आवर्त. पयसां भ्रम:"

पानी के घुमाव का नाम आवर्त है, जहाँ पानी गोलाकार में चक्कर काटता हुआ ऊपर आयी हुई वस्तु को नीचे धकेल देता है। ये आवर्त वड़े विकट होते है। बड़े-बड़े जहाज आवर्तो में फँसकर समुद्र की अतल गहराई मे समा जाते हैं। आचाराङ्ग सूत्र में एक सूक्ति आती है—

जे गुणे से आवट्टे,
जे आवट्टे से गुणे।

जो इन्द्रियो के विषय है, गुण है, वे आवर्त है। जो आवर्त है, वे गुण है। ये वहुत गहरी भूमिका के शब्द है। ये इन्द्रियों के विषय वास्तव मे

आवर्त हैं। इनमें फँसकर बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, साधक भ्रमित हो जाते हैं, मार्गच्युत हो जाते हैं, पथभ्रष्ट हो जाते हैं। इनसे तो जो बचकर निकलता है, सम्भलकर निकलता है, वही निर्यामक नौका को पार ले जा सकता है।

गीत का अन्तिम पद है—

सम्भलकर चलता है "चन्दन" धीर नर,
नहीं बनता सुस्त सोने के लिए।
मिला जीवन धन्य होने के लिए॥

वस्तुतः वही धीर नर है जो पूर्ण सावधानी के साथ सम्भलकर पार हो जाता है। ऐसे संभलने के अवसर पर वह सुस्त नही बनता, निद्राधीन नहीं होता। क्योंकि जागृति के समय सोना प्रमत्तता का लक्षण है। यहां तो प्रतिपल पूर्ण जागरूकता बरतना बुद्धिमानी है, कुशलता है।

प्रसंगोपात्तरूप में आज धन-तेरस का दिन है। "धन" शब्द से ही "धन्य" बनता है यथा—धने भवो धन्यः अथवा "धने साधु धन्यः"। 'धन्य' शब्द का ध्वन्यात्मक या व्यंजनामूलक अर्थ है—धन्य होना, कृतकृत्य होना। महान् कवि, मनीषी आचार्य सिद्धसेन ने कृतकृत्य होने की दृष्टि से ही कल्याणमन्दिर स्तोत्र के ३४ वे पद्य में कहा है कि प्रभु की भक्ति करने वाला ही वास्तव में धन्य है।

आज के ससार को यह स्थिति स्वीकृत नहीं है। आजकल तो जिसके पास धन होता है, वही धन्य माना जाता है। इसीलिए धन-तेरस का महत्त्व धन से जुड जाता है। आम लोगों की धारणा है कि धन-तेरस के दिन कुछ न कुछ अवश्य आना चाहिए। चाहे सोना, चाँदी, ताँबा, काँसा कुछ भी लाया जाए, पर यह दिन खाली नही जाना चाहिये। ग्वालियर-प्रवास में हमने देखा कि धन तेरस के दिन बर्तनों की दुकानों पर भारी भीड़ लग जाती है। वहाँ इस दिन बर्तन खरीदना विशेष शुभ माना जाता है।

दीपावली और धन-तेरस लक्ष्मी के आह्वान के पर्व हैं। संस्कृत के कवियों ने धन का महत्त्व बतलाते हुए कहा है—

तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव कर्म,
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव,
त्वन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्॥
— भर्तृहरि : नीतिशतक, श्लोक ४०

वे ही सारी इन्द्रियां है, वे ही क्रियाकलाप है, वही अप्रतिहत—उर्वर बुद्धि है किन्तु धन की गर्मी के बिना वही पुरुप—इन सबसे युक्त पुरुष भी तत्काल कुछ और ही प्रतीत होने लगता है। यह बड़े आश्चर्य की बात है। कहा गया है—

यस्यास्ति वित्त स नरः कुलीनः, सः पंडित सः श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति ॥

संसार में व्यक्ति की पूछ नही, धन की पूछ है। गुणों की महत्ता नहीं, धन की महत्ता है। एक दोहे में कहा है—

रुपया! थांरी रात, जाम्यो कोई न जामसी।
होवै जिणरै हाथ, हर कोई हीड़ा करै ॥

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

माया सूँ माया मिलै, कर-कर लांबा हाथ।
तुलसीदास गरीब की, कोई न पूछै बात ॥

इसीलिए एषणाओं में वित्तैषणा बड़ा महत्व लिये है। साहित्य में भी अर्थशास्त्र का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज के दिन हम भी आपको यही सुनायेंगे कि लक्ष्मी कैसे आती है और चिरस्थायिनी कैसे हो सकती है? इस विषय पर एक पौराणिक रूपक बहुत सुन्दर एवं शिक्षाप्रद है।

एक नगर में शांतिदास नाम का सेठ रहता था। वह बिल्कुल भद्र-भोली प्रकृति का था, पर उसकी पत्नी कमला वास्तव में कमला ही थी। कमला बड़ी सूझबूझ की धनी थी। उसकी कुशलता तथा समयज्ञता अनुपम थी। शांतिदास के घर की स्थिति वहुत साधारण थी। कमला की दक्षता के कारण ही जैसे-तैसे निर्वाह होता था।

एक वार कमला ने अपने पति से कहा—पतिदेव! आप भर्त्ता है, मैं भार्या हूँ। भार्या का अर्थ होता है—"भर्तुं योग्या भार्या" जिसका भरण-पोपण किया जाये, और भर्त्ता का अर्थ होता है—भरण-पोषण करने वाला। यह गृहस्थाश्रम है, यहाँ किस वस्तु की आवश्यकता नही होती? प्रतिदिन घी, आटा, नमक, हींग, जीरा, लकडी आदि अनेक वस्तुएँ अपेक्षित रहती है। आप ऐसा क्रम बनाये कि जब भी घर में आये तो कुछ न कुछ लेते आये। खाली हाथ घर में नही आना चाहिये। यह गृहस्थाश्रम का अपमान है।

किसी कार्यवश आंगन में घूमती हुई कमला की दृष्टि उस छप्पर पर पड़ी तो वह चकित रह गई। उसने जो सोचा था, वह यथावत् सिद्ध हो गया। कमला ने हार वहाँ से उठाया और सम्हालकर रख लिया।

महारानी स्नान करके वाहर निकली और हार के लिए खूंटी पर नजर डाली। महारानी हैरान थी कि उसका हार वहाँ से गायब कैसे हो गया? इतनी सी देर में हार कौन ले गया? वड़ा कोलाहल मचा। सभी कर्मचारियों की तलाशी ली गई। काफी दौड़-धूप के वाद भी हार का पता नहीं चला। रानी ने राजा से सारी वात कही। राजा ने भी वहुत खोज करवाई पर कोई सुराग नहीं मिला। अन्त में राजा ने शहर में डोंडी पिटवाई कि महारानी का हार किसी को किसी के जरिए, कही से मिला हो तो वह राजा को सुपुर्द कर दे, उसे वड़ा पुरस्कार दिया जाएगा। यदि हार स्वायत्त होते हुए भी किसी ने सूचना नहीं दी और जव कभी उसका पता लगेगा तो वह भारी दण्ड का भागी होगा, उसे सख्त सजा दी जाएगी।

घोषणा कमला के कानों में भी पड़ी। वह तुरन्त समझ गई कि उसके पास जो हार है, वह रानी का ही है। वह वड़ी निर्भीक और साहसी महिला थी। उसने वाहर आकर राजपुरुषों को सूचना दी कि हार मेरे पास से उपलब्ध हो सकता है पर मैं न हार लेने गई थी, न देने जाऊँगी। यदि महाराज को हार चाहिए तो वे स्वयं मेरे घर पधारें और हार स्वीकार करें। राजपुरुषों ने कमला की कही हुई वात ज्यो की त्यों राजा को सुना दी। राजा ने कहा—इसमें क्या हर्ज है? हम अवश्य उसके घर जायेंगे। राजा के मन में भी कुतूहल उत्पन्न हुआ कि यदि हार चोरी में आया हुआ होता तो वह सद्गृहिणी कभी मुझे घर आने का आमन्त्रण नहीं देती। इसमें कोई न कोई रहस्य अवश्य है, मुझे स्वयं वहाँ जाकर पता लगाना चाहिए।

महारानी एवं समस्त दरवारियों सहित राजा सेठ शान्तिदास के घर पर आया। कमला सेठानी ने वड़ी दक्षता से थाल में हार सजाकर राजा के सामने प्रस्तुत किया। राजा ने पूछा—वेटी! यह हार तुम्हारे पास कहाँ से आया? कमला ने कहा—महाराज! इस कहानी से आपको क्या लेना है? आप अपना हार ग्रहण कीजिए।

राजा ने कहा—नहीं, मैं वस्तुस्थिति जानना चाहूँगा। तब कमला ने अपने घर की पद्धति, प्रतिदिन कुछ न कुछ लाने का

उपक्रम बतलाया तथा उसी क्रम में पति द्वारा मृत सर्प को लाने, सर्प के कलेवर को छप्पर पर डालने तथा चील द्वारा हार छोड कर सांप उठाने की घटनाये व्यौरेबार सुनायी। राजा, रानी और राजपुरुष —सभी कमला की सूझ-बूझ से बहुत प्रभावित हुए। राजा ने कहा—तुम वास्तव में कुशल गृहिणी हो, मैने ऐसी दूरदर्शी महिला पहले कभी नही देखी, जो इस प्रकार आगे की, भविष्य की बात सोचती हो। मैं तुम्हें एक वरदान देना चाहता हूँ, जो चाहो, माँग लो। कमला ने कहा—आपकी कृपा चाहिए। दाल-रोटी मिलती है। उसमें हम दम्पत्ति परम प्रसन्न है और कुछ नही चाहिए। राजा ने कहा—ऐसा नही हो सकता। मैं स्वय द्वार पर आया हूँ तो कुछ देकर ही जाऊँगा। राजा के बहुत आग्रह करने पर कमला ने कहा—यदि आप कुछ देना ही चाहते है तो मुझे यह वरदान दे कि आने वाली दीपावली की मध्य निशा में सिर्फ मेरे ही घर दीपक जले, शहर में और किसी के घर आधी रात को दीपक की ज्योति नही होनी चाहिए।

राजा कमला की बात सुनकर हैरान रह गया। भला राजा से वरदान मांगना था तो बहुत सारी चीजें मागी जा सकती थी पर इसने बडी अजीब माँग रखी। राजा ने उसको वचन दे दिया कि आने वाली दीपावली पर ऐसा ही होगा।

यथासमय दीवाली का पावन पर्व आ गया। राजा ने अपने वचन के प्रतिपालन हेतु पूरे शहर में घोषणा करवा दी कि कोई भी नागरिक आज मध्यरात्रि में अपने घर में दीपक जलता न रखे। यदि किसी ने भूल से भी इस नियम का उल्लंघन किया तो उसे छह मास का कठोर कारावास भुगतना होगा। लोगों ने राजाज्ञा के अनुसार रात के ग्यारह बजे से पूर्व ही दीवाली पूजन का कार्य निपटा लिया। ग्यारह बजे के बाद सभी घरो के दीपक मगल हो गए। राजमहल में भी घोर अन्धकार व्याप्त हो गया।

कहा जाता है—अर्धरात्रि मे लक्ष्मीजी आयी और नगर में प्रकाश की खोज मे घूमने लगी। परन्तु जहाँ जाये, वही अन्धकार, आखिर वह ज्योति को खोजती-खोजती शान्तिदास के घर पहुँची। सेठ के घर का द्वार वन्द था ? पर भीतर जल रहे दीपक की रोशनी छिद्रों में से वाहर आ रही थी। लक्ष्मी ने द्वार पर दस्तक दी और कहा—द्वार खोलो ! कमला सजग बैठी थी। आवाज सुनते ही पूछा—आप कौन है ? उत्तर मिला—मैं लक्ष्मी

हूँ ! कमला ने कहा—आप कहीं आगे पधारिये, हमें आपकी आवश्यकता नहीं। लक्ष्मी को यह उत्तर बहुत बुरा लगा, वह आगे बढ़ गयी। प्रकाश की खोज में घूमते हुए निराश होकर वह दुबारा सेठ शान्तिदास के घर आई। कमला ने फिर वही उत्तर दिया कि हमें आपकी जरूरत नहीं है। लक्ष्मी का ऐसा अपमान पहले कहीं नहीं हुआ था। वह दर्प के साथ आगे बढ़ गई। नगर की गली-गली को छान डाला, पर कहीं लक्ष्मी को प्रकाश के दर्शन नहीं हुए। वह तीसरी बार फिर शांतिदास के घर पर आई और कहा—बहिन ! क्यों अभिमान करती हो ? द्वार खोलो, मैं तुम्हारे घर ही आना चाहती हूँ। आखिर कमला ने दरवाजा खोल दिया। साक्षात् रक्ताम्बरा लक्ष्मी को अपने सम्मुख उपस्थित देखकर हाथ जोड़कर विनयपूर्वक कहा—माता ! आप सानन्द मेरे घर में पदार्पण करें पर मेरी तीन शर्तें आपको माननी होंगी—

तीन शर्तें हमारी गर मानती हो तो आओ तुम।
कहा लक्ष्मी ने क्या हर्जा, किंतु मुझे सुनाओ तुम ॥
शर्त पहली है आने के बाद फिर जा नहीं सकती।
दूसरी में न भाइयों को, लिए धन के लड़ाओ तुम ॥
न हो अपमान वाह्मी का, तीसरे में हमारे घर।
बस इन्हीं तीन चीजों को मान, निज पग जमाओ तुम ॥

ये तीन शर्तें सुनकर लक्ष्मी स्तब्ध रह गई। वह सोच में पड़ गई कि ये तीनों ही बातें मुझसे निभनी असम्भव-सी हैं। पहली बात, मैं तो स्वभाव से चंचल हूँ, लम्बे समय तक एक ही स्थान पर टिक नहीं सकती। दूसरे, जहाँ मेरा बाहुल्य हो, वहां भाई-भाई में झगड़ा पड़ ही जाता है और तीसरी शर्त तो और भी कठिन है। मेरे मद में चूर व्यक्ति सरस्वती का सम्मान कर नहीं सकता। परन्तु सबसे बड़ी समस्या है कि पूरे नगर में घोर अन्धकार है, जाने के लिए कहीं स्थान ही नहीं है। जाऊं तो कहां जाऊँ ?

कुछ सोचकर लक्ष्मी ने कहा—मैं तुम्हारी तीनों शर्तें स्वीकार करती हूँ, पर मेरी भी तीन शर्तें तुम्हें स्वीकार करनी होंगी। कमला ने कहा—आप भी अपनी शर्तें सुना दीजिये।

शर्तें स्वीकृत हैं तुम्हारी, अब बात भी हमारी,
साफ सुन लेना ॥
जब तक कोई न खेलेगा जुआ, व्यसनों का अगुआ ।
तुम्हारे घर लक्ष्मी रहेगी, न विपदा सहेगी ॥
नारी पराई है जब तक माता, है शुचितर नाता ।
स्वदारा-सन्तोष जो रहेगा, दारिद्र्य को दहेगा ॥
जब तक न होगा दारू का पीना, लक्ष्मी कराधीना ।
शर्तें ये तीन हैं सुहायी, नारी के मन भायी ॥
साफ सुन लेना ॥

पहली शर्त है—तुम्हारे घर में जब तक कोई जुआ खेलने वाला पैदा नही होगा, तब तक मैं रहूँगी क्योंकि जुआ सारे व्यसनों का अगुआ है, सबका मुखिया है। दूसरी शर्त है—जब तक तुम्हारे घर में पराई स्त्री मा के समान पूजी जाएगी, घर के सदस्य सदाचारी रहेंगे तब तक मेरा निवास तुम्हारे घर होगा। तीसरी बात है—कि जब तक घर में मदिरा का प्रवेश नही होगा, घर में पियक्कड पैदा नही होंगे तब तक मेरा तुम्हारे यहा वास रहेगा। इन तीनों बातों में से यदि एक भी बात खण्डित हुई तो मेरा रहना असम्भव होगा।

विवेकशील कमला ने कहा—आपकी तीनों शर्तें सही और उचित हैं। ऐसे दुर्व्यसनयुक्त घर में आप कैसे रह सकती है? उसने तीनों शर्तें स्वीकार कर लीं। घर में लक्ष्मी का प्रवेश हो गया। घर आनन्द से खिल उठा। धन, वैभव, सम्पत्ति उत्तरोत्तर बढती गई।

सारांश यह है कि लोग लक्ष्मी को बहुत चाहते है, उसे पाने के लिए जी-जान से प्रयत्न करते है पर जब तक दुर्गुणों का परित्याग नही होगा या लक्ष्मी के आने पर जो व्यसनासक्त हो जायेंगे, दुर्व्यसनो में पड़ जायेंगे, वहाँ लक्ष्मी लम्बे समय तक ठहर नही सकती।

एक छोटा-सा रूपक और है। एक बार स्वर्ग के राजा इन्द्र कही जा रहे थे। मार्ग में लक्ष्मी से भेंट हो गई। इन्द्र ने कहा—लक्ष्मी! तुम तो "भटकोड" हो, सदा भटकती रहती हो, कहीं एक स्थान पर टिककर नही रहती। इन्द्र की इस व्यंग्योक्ति के उत्तर में लक्ष्मी ने एक पद्य कहा—

गुरवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र वाणी सुसंस्कृता ।
अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम् ॥

शक्र ! जिस घर में माता-पिता तथा गुरुजनों का सम्मान है, आदर है, हृदय से उनकी इज्जत की जाती है, जिस घर में वाणी सुसंस्कृत है, बोलने में अपशब्दों का प्रयोग नही होता, वहां मैं टिकती हूं।

बहुत से लोगों की आदत होती है कि बात-बात मे बाल-बच्चों के लिए तथा प्रिय मित्रों के लिए बहुत नीचे शब्दों का प्रयोग कर लेते हैं। मातायें अपनी प्रिय पुत्रियों को बहुत गन्दी गालियों से बतियाती है। लक्ष्मी जी कहती है कि जहां अपशब्दों का व्यवहार हो, वहां मेरा टिकना असम्भव है। वे शब्द ही अपने प्रयोक्ताओं को श्रीहीन बना देते हैं। तीसरे, जहां छोटी-छोटी बातों के लिए झगडा होता है, बात का बतंगड़ बन जाता है, परस्पर संघर्ष चलता है, वहां मैं नहीं रह सकती।

जहां परस्पर प्रेम है, सद्व्यवहार है, एकता है, सौहार्द है, वहां निःसन्देह लक्ष्मी का निवास होता है। उपर्युक्त तीन बाते जहां विपरीत दिशा में चलती हैं, जहां गुरुजनों का अपमान होता है, असंस्कृत—संस्कार वर्जित, असभ्य वाणी का प्रयोग होता है तथा बात-बात में महाभारत होता है, वहां लक्ष्मी का वास नहीं होता।

सभी श्रोतृजन इस बात को समझें। आज धन-तेरस के दिन इन बातों पर ध्यान दें। दुर्गुणों को छोड़ें, सद्गुणों को अपनायें, स्वयं लक्ष्मी चरण चूमती हुई आपके पास आयेगी।



१९

अहा ! आज दिवाली आयी ।
करिये आभ्यन्तर की सफाई, धरो धर्मभाव सुखदाई ।।ध्रुव।।

महावीर ने इसी रात में अजर-अमर पद पाया था।
गौतम इन्द्रभूति ने, केवल मोह त्याग अपनाया था ।।
मिल सुर-नर ने किया महोत्सव, ज्योति झिगामिग लगी वहाँ।
महिमा वढी धर्म की, भ्रांति भव्यजनों की भगी वहाँ ।।
तभी से दीप प्रथा चल आयी ।।१।।

रावण मार, सिया को लेकर राम अयोध्या जब आये।
वडा महोत्सव हुआ देश में, प्रति गृह दीपक शोभाये ।।
लोभ रूप रावण ने शान्ति रूप सीता का हरण किया।
उसको मारे विना दिवाली पूजन का क्या अर्थ हुआ ।।
धरो संतोष बनो शिव राही ।।२।।

कुछ कहते है नरकासुर नामक भूतानन राजा था।
खूव जुल्म करता था, निर्दय अन्यायी अधिराजा था ।।
उसे कृष्ण महाराजा ने, भामा के हाथ मराया था।
नरक चउदशी पहली मावस को, जय दिवस मनाया था ।।
ब्लैक नरकासुर मारो भाई ।।३।।

वलि राजा के कारागृह मे देव कष्ट में आए थे।
धर वामन का रूप विष्णु ने बन्धन-मुक्त कराये थे ।।
तव से चली दिवाली ऐसे पौराणिक जन गाते है।
क्रोध रूप दानव शम आदिक देवों को दहलाते है ।।
मुक्त कर बनो सत्य अनुयायी ।।४।।

पर दुःख-भजक विक्रम नृप ने रैयत का उद्धार किया।
सबका कर्जा स्वय चुकाकर नव खाता तैयार किया ।।
तव चली बही की पूजा पर सच्चाई से होगी।
नेक नीति के बल "चन्दन" जनता में रंगरलियाँ होंगी ।।
धर्म ही होगा एक सहायी ।।५।।

(तर्ज—तेरे काल शीश पर कड़के)

१६.

अहा ! आज दिवाली आयी

निर्धूमवर्तिरपवर्जित-तैलपूरः
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि ।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां,
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ ! जगत्प्रकाशः ॥१६॥

आचार्य मानतुंग आदिनाथ स्तोत्र (भक्तामर) में ऋषभप्रभु की गुण-स्तवना लिखते हैं—प्रभो ! आप अमर दीप हैं। एक भिन्न ही प्रकार के दीपक हैं। अन्य दीपकों में बाती के साथ धुआ निकलता है, पर आप तो ऐसे दीपक हैं, जिसकी बाती निर्धूम है, जिसकी लौ के साथ धूआं नहीं निकलता। अन्य दीपक तेल के सहारे जलते हैं, बिना तेल के बाती नहीं जल सकती, पर आप "अपवर्जिततैलपूरः" दीपक हैं—ऐसे दीपक हैं, जिसमें तेल की आवश्यकता नहीं होती। अन्य दीपक ससीम क्षेत्र में प्रकाश फैलाते हैं, पर आप "कृत्स्नं जगत्त्रयमिद प्रकटीकरोषि"—तीनों लोकों को प्रकाशित करते हैं, उद्योतमय बनाते हैं। दूसरे दीपक हवा के झोंके में टिक नहीं पाते, बुझ जाते हैं, पर प्रभो ! आप "गम्यो न जातु मरुतां चलिताचला-नाम्"—ऐसे दीपक हैं, जो पर्वतों को झकझोर देने वाले झंझावातों, महावातों से भी प्रकम्पित नहीं होते, तूफानी हवायें भी इस परम प्रकाशमान दीपक को बुझा नहीं सकती। इसलिए जगत्-प्रकाशक ! आप निःसन्देह एक अद्भुत दीपक हैं।

यहाँ प्रभु की दीपक के साथ तुलना करते हुए कवि ने उनकी [illegible] अनन्य असाधारण दीपक के रूप में चित्रित किया है।

दीपक संसार के लिए बहुत उपयोगी वस्तु है, वांछनीय है। भीषण, सघन अन्धकार को ध्वस्त कर डालने के लिए एक दीपक बहुत होता है। इसी दृष्टि से छोटा-सा दीपक बडा मांगलिक माना गया है। उसे पूजा की सामग्री में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है। वर्तमान युग में प्रकाश के अनेक साधनों के आविष्कृत हो जाने पर भी दीपक तो दीपक ही है। उसकी गरिमा अभी भी पूर्ववत् सुप्रतिष्ठ है।

आज दीपावली है। यह दीपों का त्यौहार है। घरों में, दूकानों में दीपक जलाकर लोग इसे मनाते है।

अहा ! आज दीवाली आई। करिए आभ्यन्तर की सफाई।
घरो धर्मभाव सुखदाई ।। अ. ।।

दीपावली ज्योति का पर्व है, साथ ही सफाई का, स्वच्छता का पर्व भी है। जिन चीजो की बारह महीनों मे सफाई नही होती, दीपावली के अवसर पर उनकी भी सफाई होती है, सार-सम्हाल होती है। यथासभव घरो की लिपाई-पुताई, रग-रोगन आदि भी होता है।

इस पर्व के साथ लक्ष्मी का सम्बन्ध भी जोडा गया है। यह एक शोध का विषय है कि दीपावली के साथ श्रीदेवी का सम्बन्ध कब से जुडा किन्तु यदि हम गहराई से सोचे तो बात स्पष्ट है, जहाँ ज्योति होगी, प्रकाश होगा, स्वच्छता का वातावरण होगा, वहाँ श्रीदेवी का पदार्पण होगा ही। केवल बाह्य प्रकाश नहीं, आन्तरिक प्रकाश भी आवश्यक है। मात्र बाहर की स्वच्छता ही पर्याप्त नही, अन्तरंग-साधना को भी हम उजागर करे। अगर ऐसा हुआ तो हमारे भीतर ही लक्ष्मी, श्री, शोभा—ये सभी स्वत. उत्पन्न हो जायेगी।

दीपावली पर्व के साथ अनेक इतिहास जुड़े है—

महावीर ने इसी रात मे अजर-अमर पद पाया था।
गौतम इन्द्रभूति ने केवल मोह त्याग अपनाया था ।।
मिल सुरनर ने किया महोत्सव, ज्योति झिगामिग लगी वहां।
महिमा बढ़ी धर्म की, भ्रान्ति भव्य जनों की भगी वहा ।।
तभी से दीप प्रथा चल आई ।।

जैन इतिहास में दीपावली पर्व भगवान् महावीर एव उनके प्रथम शिष्य गणधर गौतम से सम्बद्ध है।

इसी अमावस्या की रात को प्रभु महावीर का महानिर्वाण हुआ था तथा इसी रात्रि में इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। इन दोनों महोत्सवों में सम्मिलित होने के लिये देवी-देवता भूतल पर आये, घोर तमोमयी अमावस्या दिव्य ज्योति से जगमगा उठी।

चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर का अन्तिम चातुर्मास पावापुरी में हुआ था। राजा हस्तिपाल ने अत्यन्त अनुनय-विनय कर प्रभु को पावस-प्रवास हेतु अपनी रथशाला में ठहराया था। नवमल्लि और नवलिच्छवि गणतन्त्र के अधिनायकों तथा काशी-कौशल आदि अठारह देशों के राजाओं ने चतुर्दशी और अमावस्या की आराधना के लिए पौषध व्रत स्वीकार किया था। इस अवसर पर भगवान् ने जिज्ञासु देवशर्मा नामक द्विज को प्रतिबोध देने के लिये इन्द्रभूति गौतम को भेज दिया। इस कारण भगवान् के परिनिर्वाण के समय इन्द्रभूति गौतम उनके पास उपस्थित नहीं रह सके।

जब सोलह प्रहर की अखण्ड देशना देकर प्रभु दीपक की लौ ज्यों सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने, उस समय मध्यरात्रि का समय था। निर्वाण-महोत्सव मनाने के लिए सहस्रों देव वहाँ आ रहे थे। उनकी हलचल से गौतम को पता चला कि वीर प्रभु का महानिर्वाण हो गया है तो उनके मन को बड़ी ठेस लगी, अन्तर्वेदना असह्य हो उठी—"अहो ! प्रभु ने ऐसा क्यों किया ? मैं उनका प्रथम शिष्य, निरन्तर छाया की तरह उनके साथ रहा, पर अन्तिम अवसर पर मुझे प्रभु ने दूर भेज दिया।"—गौतम इतने व्यथित हुए कि उनकी आंखों से अश्रुधारा बह चली। वे बच्चे की तरह फफक-फफक कर रोने लगे और उपालम्भ की भाषा में कहने लगे—"प्रभो ! मैं पास उपस्थित होता तो क्या आपको भला रोक लेता अथवा साथ जाने का आग्रह करता, या मोक्ष में आपके स्थान की कमी करता ? मुझे दूर क्यों किया ? नाथ ! अब मैं किसके पास जाऊँगा ? अपनी शंकाओं का समाधान मैं किससे लूँगा ? मुझे गौतम-गौतम कहकर कौन पुकारेगा ?"

कुछ समय तक तो गौतम इस प्रकार आर्त विलाप करते रहे, पर फिर फौरन सम्भल गए। कुछ ही क्षणों में गौतम आत्मस्थ हो गये। और सोचने लगे—अहो ! वे तो वीतराग थे। उनके हृदय में स्व-पर का भेद कहाँ ? उनके लिए कौन शिष्य प्रिय और कौन अप्रिय ? उनकी तो प्राणिमात्र के प्रति समदृष्टि थी। इस भावना के प्रवाह में गौतम इतने गहरे उतरे कि मोहनीय कर्म का बन्धन टूट गया। मोहनीय का आवरण हटते ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय —तीनों ही कर्म एक झटके में पृथक हो गए। क्षीण हो गए। गौतम ...

केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति हो गई। अमावस्या की रात्रि में ही प्रभु का महानिर्वाण हो गया और उसी रात्रि में गौतम को केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई।

इसीलिए दीपावली का दिन जैनो में बहुत उमंग और उत्साह के साथ मनाया जाता है तथा लोग रात के बारह बजे तक यानी मध्य रात्रि तक "णमोत्थुण समणस्स भगवओ महावीरस्स सिद्धस्स बुद्धस्स" तथा आधी रात के पश्चात् सुबह तक "णमोत्थुण भगवओ गोयमस्स सिद्धस्स बुद्धस्स अक्खीण महाणसस्स" का जप करते है। गौतम स्वामी के लिए प्रयुक्त विशेपण "अक्खीण-महाणसस्स – अक्षीण-महानस" एक विशेष तात्पर्ययुक्त है। गौतम लब्धि-भण्डार थे। गौतम का अँगूठा जहाँ टिक जाता था, वह भण्डार अक्षीण—अखण्ड हो जाता था। इस आशय का एक दोहा भी जैन समाज में बहुत प्रचलित है—

अँगूठे अमृत वसे, लब्धि तणा भण्डार।
श्री गुरु गौतम सुमरिए, वांछित फल दातार।।

"गौतम" नाम के तीन अक्षर भी अपने आप में अनूठे है। एक कवि ने कहा है—

कामधेनु गौ शब्द थी, तते सुरतरु वृक्ष।
ममे मणी चिन्तामणी, गौतम नाम प्रत्यक्ष।।

अर्थात् गौतम का "गौ" कामधेनु का वाचक है, "त" का तात्पर्य तरु अर्थात् सुरतरु—कल्पवृक्ष है, "म" मणि—चिन्तामणि का सूचक है। कहने का आशय यह है कि गणधर गौतम का नाम कामधेनु, कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि की तरह वाछित फल प्रदान करता है।

दीपावली ऐसा पावन दिन माना जाता है कि अमावस्या जैसी तिथि तथा कोई भी वार, नक्षत्र हो, उसे शुभ ही माना जाता है। महापुरुषो के संयोग से ऐसा दिन भी सिद्धिदायक सिद्ध होता है। मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र आदि की साधना भी दीपावली के दिन विशेष रूप से की जाती है। बहुत से लोग इसे केवल दीपों तक, पटाखो तक अथवा जुए आदि तक सीमित कर लेते है, जो सर्वथा अनुचित है। आज के दिन विशेष रूप से जप करना चाहिए, तप करना चाहिए और अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

रावण मार सिया को लेकर राम अयोध्या जब आये।
बड़ा महोत्सव हुआ देश में, प्रति गृह दीपक शोभाये ।।
लोभ रूप रावण ने शांति रूप सीता का हरण किया।
उसको मारे बिना दीवाली पूजन का क्या अर्थ हुआ ?
धरो सन्तोष बनो शिव राही ।।

दीपावली से सम्बद्ध इतिवृत्तों की शृंखला में एक धारणा यह भी है कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम वनवास के चौदह वर्ष पूर्ण कर, महासती सीता का अपहरण करने वाले रावण का वध कर, लंका पर विजय प्राप्त कर जब वापस अयोध्या लौटे तो देशवासियों ने विशाल उत्सव मनाकर अपना हर्षोल्लास व्यक्त किया। वही उत्सव आज दीपावली के रूप में हमारे देश में प्रचलित है। राक्षसराज रावण के उपद्रवों से जनता बहुत पीड़ित एवं संत्रस्त थी। राम ने जब रावण का वध किया तो लोगों ने अद्‌भुत शान्ति अनुभव की तथा दीप जलाकर शान्ति-प्रदाता का अभिनन्दन किया। तभी से दीपोत्सव की परम्परा प्रचलित हुई।

आज भी लोभ रूपी रावण शान्ति रूपी सीता का अपहरण करने में तत्पर हैं, लोगों के मस्तिष्क तनावग्रस्त है, कुण्ठाग्रस्त है। यदि वास्तविक दीपावली मनाना चाहते हैं तो हमें उस लोभ रूपी रावण को मारकर शांति रूपी सीता की सुरक्षा करनी चाहिए।

पुराणों में एक अन्य घटना भी वर्णित है—

कुछ कहते है नरकासुर नामक भूतानन राजा था।
खूब जुल्म करता था निर्दय अन्यायी अधिराजा था ।।
उसे कृष्ण महाराजा ने भामा के हाथ मराया था।
नरकचउदशी पहली मावस को जय दिवस मनाया था ।।
ब्लैक नरकासुर मारो भाई ।।

कहते हैं, भूतानन (वर्तमान भूटान) का राजा नरकासुर बहुत ही अत्याचारी एव व्यभिचारी था। उससे संत्रस्त प्रजाजनों ने श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण की। शरणागतों की रक्षार्थ संग्राम करके श्रीकृष्ण ने सत्यभामा के हाथ से नरकासुर का वध करवाया। इसलिए दीवाली से पहली चतुर्दशी को "नरक चतुर्दशी" कहा जाता है। चतुर्दशी को नरकासुर का वध होने की खुशी में लोगों ने अमावस्या को बहुत बड़ा पर्व मनाया, जो आज दीपोत्सव या ज्योतिपर्व के रूप में प्रचलित है।

बलि राजा के कारागृह मे देव कष्ट मे आए थे।
धर वामन का रूप विष्णु ने बन्धन मुक्त कराए थे ।।
तब से चली दिवाली ऐसे पौराणिक जन गाते है।
क्रोध रूप दानव शम आदिक देवो को दहलाते है ।।
मुक्त कर बनो सत्य अनुयायी ।।

पौराणिक कथानुसार दानवेन्द्र बलि की तपस्या से देवताओं के आसन डोलने लगे। तब देवों ने विष्णु की उपासना कर उनसे दैत्यराज को परास्त करने की प्रार्थना की। देवताओं का सकट दूर करने के लिए विष्णु भगवान ने वामन का रूप धारणकर दानवेन्द्र बलि से तीन पैर भूमि की याचना की। तीन पैरो से तीनों लोक नापकर जब विष्णु ने चौथा पैर रखने की जगह मांगी तो दैत्यराज ने अपना मस्तक आगे कर दिया तथा विष्णु ने मस्तक पर पाँव रखकर उसे पाताल लोक में पहुँचा दिया। तब देवताओं ने दीप जलाकर अत्यन्त हर्ष व्यक्त किया। जो परम्परा से दीपावली के रूप में प्रचलित है।

इस प्रकार यह ज्योतिपर्व अनेक इतिहासो से जुडा है। यह उत्सव विशेष हर्ष-उल्लास का द्योतक तथा अभिनव स्फुरणा का प्रतीक है। उपनिषद् का सूक्त है—''तमसो मा ज्योतिर्गमय'' अर्थात् मुझे अन्धकार से ज्योति की ओर ले चलो। प्रकाश की मांग, ज्योति की अवतारणा मानव की मूलभूत स्पृहा है।

यहाँ एक बात और विचारणीय है कि दीपावली के साथ वहीखातों के पूजन की परम्परा कैसे जुडी ? कही-कही तो इसी दिन नये वर्ष का शुभारम्भ माना जाता है। जहाँ नये साल का प्रारम्भ नही मानते, वहाँ भी वहीखातों की पूजा तो निश्चित रूप से होती ही है। इसके लिए कहा जाता है कि—

परदुःखभजक विक्रम नृप ने रैयत का उद्धार किया।
सबका कर्जा स्वयं चुकाकर नवखाता तैयार किया ।।
तब से चली बही की पूजा पर सच्चाई से होगी।
नेक नीति के बल 'चन्दन' जनता में रंगरलियां होगी ।।
धर्म ही होगा एक सहायी ।।

राजा विक्रमादित्य ने देश को ऋणमुक्त किया था। विक्रमादित्य असाधारण नरपति हुआ है। उसके पौरुष की अनेक गौरव-गाथाएँ प्रचलित

हैं। वह जितना न्यायी था उतना ही साहसी भी था। वीर विक्रमादित्य के पराक्रम एवं न्यायवादिता के दो उदाहरण बहुत प्रसिद्ध है—

वीर विक्रमादित्य की राजधानी में दो सेठ रहते थे। दोनों में परस्पर प्रगाढ मैत्री थी तथा एक दूसरे को अपना अभिन्न अंग मानते थे। एक वार वार्तालाप के प्रसंग में प्रश्न उठा कि हमारी मैत्री चिरस्थायी कैसे रह सकती है ? कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे हमारी सन्तानों के बीच यह सौहार्द तथा प्रेम की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहे।

उस समय दोनों की पत्नियाँ गर्भवती थीं। दोनों ने आपस मे वायदा किया कि यदि एक के पुत्र हुआ और एक के पुत्री हुई तो दोनों का यथासमय परस्पर विवाह करेगे, जिससे हमारी पारिवारिक स्नेह-शृखला इसी भाँति चलती रहेगी। दोनों मित्रों ने इस वायदे को सुदृढ़ बनाने के हेतु यथाविधि लिखा-पढ़ी कर ली। उसमें सारा विवरण लिखा तथा नगर के पाँच प्रमुख व्यक्तियों की साख भी डलवा दीं। यों जन्म से पूर्व ही बच्चों की एक प्रकार से सगाई तय कर दी गई। विधिवश हुआ भी ऐसा ही कि एक के यहाँ पुत्र और दूसरे के यहां पुत्री का जन्म हुआ। दोनों के हर्ष का पार नहीं रहा। उनकी मनोकामना पूर्ण हो गई।

विधि का चक्र बड़ा विचित्र है। मनुष्य नाना प्रकार की आशाएँ सजोता है, पर अदृष्ट के चक्र में कब क्या घटित होना है, उसकी एक अल्पज्ञ को कल्पना ही कहां हो सकती है ? जब पुत्र दो-तीन साल का हुआ, उसी समय पिता अचानक चल बसे। मा पर दुःख का पहाड़ टूट पडा। सब कुछ पति पर ही निर्भर था। उसका देहावसान होते ही सारी स्थिति डगमगा गई। व्यापार चौपट हो गया। परिणामस्वरूप आर्थिक स्थिति वहुत नाजुक हो गई। दूसरी ओर दिवंगत सेठ का परम मित्र तथा कन्या का पिता व्यावसायिक क्षेत्र में उत्तरोत्तर उन्नति करता गया तथा उसकी गणना नगर के कोटिपतियों में होने लगी। पुत्र व पुत्री दोनों अपने अपने स्थान पर, भाग्यानुसार बड़े होते जा रहे थे।

धीरे-धीरे दोनो विवाह योग्य हो गए। कोट्याधीश सेठ भलीभांति जानता था कि कन्या की सगाई पहले से तय है, पर मित्र की मृत्यु के पश्चात् घटित स्थितियों को देखते हुए उसकी बुद्धि में फर्क आ गया। उसके मन मे यह अभिमान था कि कहां मैं धनकुबेर और कहां वह दरिद्र ? उस लड़के के साथ मेरी पुत्री का विवाह सर्वथा अनुचित, असंगत और अनुपयुक्त है। उसने अन्य स्थान पर सम्बन्ध करने का निश्चय कर लिया,

पर फिर भी उसके मन में भय था कि समय पर कोई अड़चन पैदा न हो जाए क्योंकि सारा शहर इस बात से परिचित था कि दोनों का सम्बन्ध पूर्व निश्चित है। इस सकट से बचने के लिए धनाढ्य सेठ ने वीर विक्रमादित्य के साथ अपनी पुत्री की सगाई कर दी। उसने सोच लिया था कि राजा के साथ वैवाहिक सम्बन्ध जुडने के बाद कोई मुँह नही खोल सकेगा और मेरी पुत्री राजरानी बन जाएगी।

सगाई हुई, विवाह का मुहूर्त निकाला गया। देखते ही देखते विवाह का दिन आ गया। पूरे शहर में मंगल गीत गाए जाने लगे, शहर को सजाया गया, तोरण द्वार बनाए गए। यों सारा शहर आनन्द-उत्सव-निमग्न था, पर उस गरीब पुत्र की मां घर में बैठी आसू बहा रही थी। पुत्र अचानक घर आया, मा को शोकाकुल देखकर हैरान रह गया। उसने मा से पूछा—कि आज महाराजा का विवाह हो रहा है, सारे शहर में धूमधाम मची है, राजा की आरती उतारी जा रही है, बाजे बज रहे है, गीत गाये जा रहे हैं पर तुम रो क्यों रही हो मां ? उदास तथा खिन्न क्यों हो ? बताओ न ? यह सुनकर मा और अधिक व्यग्र हो उठी। उसने रोते हुए कहा—बेटा ! यही तो दुःख का कारण है।

बेटे ने कहा—मा ! इसमें दुःख की क्या बात है ? मैं समझा नही। मा ने कहा—बेटा ! राजा जिस कन्या को ब्याहने जा रहा है, वह तेरी माँग है। तुम दोनों के जन्म से पहले ही तुम्हारा सम्बन्ध निश्चित हो चुका था। आज तेरे पिता के जीवित न होने के कारण और हमारी निर्धनता के कारण यह राजा के घर विवाहित हो रही है।

बेटे ने पूछा—मा ! इस बात का क्या प्रमाण है ?

माँ ने कहा—बेटा ! इसका परिपुष्ट प्रमाण हमारे पास है, पर हमारी सुने कौन ? राजा के कान में यह बात पहुँचे कैसे ? हम निर्धन है, दरिद्र है, हमारा साथ कौन देगा ? पुत्र ने कहा—मैं लिखा-पढी देखना चाहता हूँ। माँ ने यत्न से सम्हालकर रखा वह कागज निकाला और पुत्र के हाथ में थमा दिया। दिवगत सेठ का पुत्र आयु मे तो छोटा था पर बहुत बुद्धिमान था, अच्छा पढा-लिखा था। उसने उस कागज मे लिखा इतिवृत्त ध्यान से पढा, समझा। साक्षी रूप में जिन पाँच प्रतिष्ठित सेठो के हस्ताक्षर थे, उनको भी ध्यान से देखा। माँ को सान्त्वना देते हुए पुत्र ने कहा—माँ ! प्रयत्न करता हूँ, सम्भव है पासा पलट जाए। राजा बहुत

न्याय-परायण एवं सत्यनिष्ठ है। यदि विवाह से पूर्व यह पत्र राजा के हाथ में चला जाय तो अवश्य न्याय करेगा। क्योंकि वह कोई साधारण राजा नहीं है। वह विक्रमादित्य है, जिसके न्याय की कहानियाँ सर्वत्र विश्रुत है। वह कभी अन्याय नहीं करेगा। सेठ का पुत्र वह कागज हाथ में लेकर घर से चल पड़ा। बहुत सोच-समझकर वह एक ऐसे छज्जे पर जा बैठा, जिसके पास से राजा की वर-यात्रा निकलने वाली थी। वह ऐसे कोने पर बैठा था, जहाँ से राजा का हाथी बहुत पास से गुजरने वाला था।

ज्यों ही राजा का हाथी समीप आया, बालक ने जोर से कहा—अन्नदाता! मेरी एक विनम्र अभ्यर्थना है पर अत्यन्त आवश्यक, जिसके साथ मेरा भाग्य जुड़ा है, इस तुच्छ बालक पर दया करें। एक क्षण के लिए कृपादृष्टि करें। हाथी के हौदे पर बैठे राजा ने बालक की आवाज सुन ली। आसपास के अंगरक्षक उसको डांटने लगे, पर न्यायी विक्रमादित्य ने सोचा—यदि इसी समय सुनने की बात होगी तो समय निकलने पर उसका क्या इन्तजाम होगा? प्रजावत्सल राजा ने अपना हाथ फैलाया और छज्जे पर खड़े उस बालक को अपनी गोद में खींच लिया। प्रेम से सिर पर हाथ फेरकर उससे पूछा—बोल, बेटा! तेरी क्या अभ्यर्थना है?

बालक ने वह पत्र राजा के आगे रख दिया। महाराज विक्रमादित्य तुरन्त उस पत्र को पढ गए। पढ़ते ही वे स्तब्ध रह गए। उफ! यह क्या? मैं जिसका पाणिग्रहण करने जा रहा हूँ, वह तो इसकी मांग है। इनकी सगाई तो जन्म से पूर्व ही निश्चित हो चुकी थी फिर यह मुझे क्यों ब्याही जा रही है?

न्यायनिष्ठ नरपति ने विवाह मण्डप में जाने से पूर्व पुत्री के पिता को बुलाया और वह पत्र उसके सामने रखकर पूछा—यह पत्र किसका है? किसके हाथ से तथा कब लिखा गया है? इसमें जो साखें हैं, वे सच्ची हैं या झूठी? तेजस्वी राजा के आगे वह सेठ असत्य न बोल सका। कांपते हुए सेठ ने कहा—कागज तो मेरे ही हाथ का है। राजन्!

राजा ने कुछ क्रोधावेश के साथ कहा—फिर ऐसा धोखा क्यों? मेरे साथ दुबारा संबंध जोड़ने का कारण क्या है? सेठ ने दबी जबान से कहा—वह बिल्कुल गरीब हो चुका है। मेरी पुत्री ऐसे गरीब, अकिंचन के घर में जाए, यह कैसे संभव होता? महाराज विक्रमादित्य ने कहा—यह अनुचित

है, अन्याय है। इस लड़के का पिता मैं बनता हूँ। तुम हर्ष एवं उत्साहपूर्वक अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ करो। ऐसा कहकर राजा ने उस लड़के को दूल्हे की पोशाक पहना दी, सेहरा बांध दिया और स्वयं उसका पिता बनकर बैठ गया। बड़ी धूमधाम से विवाह सम्पन्न हुआ। पूरे नगर में राजा की न्यायप्रियता और महानता की गाथा गूँजने लगी।

कहा जाता है कि इस घटना के बाद राजा विक्रमादित्य ने वर्ण-वरण की व्यवस्था की। यानी जो व्यक्ति जिस वर्ण का हो, उसी वर्ण में उसका विवाह सम्बन्ध हो। ब्राह्मण की पुत्री ब्राह्मण को ही दी जाए और वैश्य की वैश्य को। इससे पहले यह व्यवस्था नहीं थी। भिन्न-भिन्न वर्णों में परस्पर विवाह सम्बन्ध होते थे। हमारे इतिहास में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहां वर किसी अन्य कुल का और वधू अन्य कुल की होती रही है। यहाँ तक कहा जाता है कि "स्त्रीरत्न दुष्कुलादपि" स्त्रीरत्न—उत्तम, गुणवती स्त्री यदि निम्न कुल की हो, तो भी ग्राह्य है। महाराज विक्रमादित्य ने इस व्यवस्था को नया मोड़ दिया जो उसे आत्मीयता, वर्णानुगत पारस्परिकता आदि के निर्वाह की दृष्टि से उचित प्रतीत हुआ।

विक्रमादित्य ने अपने नाम से सवत् का प्रारम्भ किया था, उसके पीछे भी एक घटना है—

महाराज विक्रमादित्य के शासन-काल में एक बार ऐसी स्थिति आई कि आम जनता ऋण भार से बहुत दब गई थी। ब्याज का ब्याज, फिर ब्याज का ब्याज, यह व्यवस्थाक्रम जनता में राक्षस की भांति फैल चुका था। सम्पन्न और सम्पन्न होते जा रहे थे तथा गरीब और अधिक गरीब होते जा रहे थे। राजा के मन में आया कि यह तो बड़ा अन्याय है। समाज का दारुण रोग है। इसे कैसे समाप्त किया जाय ? दूसरी ओर यह भी उचित नहीं कि जो कोई किसी दूसरे से रुपये मांगता हो, उससे इन्कार कर दिया जाए। उचित यह है कि एक बार पूरे देश का, सभी कर्जदारों का कर्जा चुकाकर नये वहीखाते डलवा दिये जाये। पूरी प्रजा का ऋण चुकाना बड़ा गुरुतम कार्य था तथा किसी एक के बलबूते की बात नहीं थी। इतना धन कहा से आये और कौन रुपये चुकाये ? राजा इसका उपाय सोच ही रहा था कि इतने में एक विचित्र घटना घटित हुई।

विक्रमादित्य की राजधानी में ही एक सेठ ने बहुत बड़ा महल बनवाया, जिस पर भारी खर्च हुआ। लम्बे समय तक काम चला। निर्माण-

कार्य पूर्णतया सम्पन्न होने पर उसने वास्तु-मुहूर्त किया तथा प्रीतिभोज दिया। रात को सेठ उस महल में सोने के लिए गया। बड़े आनन्द से सेठ ने एक विशाल प्रकोष्ठ (हॉल) के बीच अपना पर्यंक लगवाया। सेठ सोया और नींद आ गई। रात के बारह बजे के समय एक आवाज आई—"गिरता हूँ।"

सेठ चौंककर उठ बैठा। इधर-उधर देखा तो कोई दिखाई नही दिया। सेठ वापस लेटना ही चाहता था कि फिर आवाज आई कि सेठ सुन रहा है या नही ? "गिर रहा हूँ।" सेठ के होश उड़ गए, फिर भी कुछ साहस बटोरकर बैठा रहा। इतने में तीसरी बार आवाज आई—बोल, क्या कहता है ? "गिरता हूँ" तीसरी बार फिर आवाज सुनकर सेठ की सुध-बुध गुम हो गई। वह तो अपना बिस्तर लेकर वहाँ से भाग निकला और पुराने घर में आकर ही साँस ली। पूरी रात सेठ को नींद नहीं आई। मन में बड़ी दुविधा मच गई, दु:सह चिन्ता हो गई। हवेली पर इतना बड़ा खर्च किया और आज पहले ही दिन वहां गिरने की सूचना मिल रही है। अत्यन्त भयत्रस्त एवं दुखी मन से सेठ राजा विक्रमादित्य की सभा में उपस्थित हुआ। सेठ को राजसभा में आसन प्राप्त था। वह उदास मन से अपने आसन पर जा बैठा।

राजा ने पूछा—कि सेठ! आज चिन्तातुर क्यों दिखाई देते हो ? ऐसी क्या बात है ? क्या अघटित घटना हो गई ? साहस कर सेठ ने कहा—अन्नदाता ! क्या कहूँ ? मैं तो मारा गया। मेरे साथ तो एक ऐसी अनहोनी घटना हुई है कि कुछ कहने मे नही आ रही है।

राजा ने सान्त्वना भरे स्वर में पूछा—कुछ बतलाओ तो सही ?

सेठ ने कहा—गरीबपरवर ! मैने भारी व्यय एवं श्रम से एक हवेली बनवाई है। कल उसमें प्रवेश किया, रात को वहां सोया तो आवाज आई—"गिरता हूँ" एक बार, दो बार, तीन बार यही आवाज आई।-राजन् ! इससे बुरी बात और क्या हो सकती है ? मेरे लाखों रुपयो पर पानी फिर गया। मैं वहां से डरकर हवेली छोडकर भाग आया। मेरे तो वह महल किसी काम का नहीं रहा।

राजा ने कहा—बस, इतनी-सी बात है ? चलो, तुम्हारी वह हवेली हम खरीद लेते हैं। तुम्हारा जितना धन व्यय हुआ है, नि:संकोच बतला दो. अभी राजकोष से तुम्हें अपनी लागत मिल जायेगी।

सेठ मे तो मानो नया जीवन आ गया। सेठ ने अपनी लगी हुई रकम वतला दी। राजा ने तुरन्त भण्डारी को आज्ञा दी और हाथोंहाथ सेठ को नकद राशि प्राप्त हो गई। सेठ का मन हल्का हो गया। वह राजा की प्रशस्ति करता हुआ घर लौट गया। वह नवनिर्मित भव्य भवन राजा के अधीन हो गया।

राजा ने निश्चय किया कि आज रात्रि में मैं स्वयं उसी भवन में शयन करूँ और देखूँ कि वह गिरने वाली वला कौन है ? निर्भीक हृदय राजा ने रात्रि के समय अपना पर्यंक उसी प्रकोष्ठ में लगवाया, जहा पिछली रात को सेठ सोया था। मध्य रात्रि में उसी प्रकार आवाज आई कि "गिरता हूँ"। राजा ने सजग होकर कहा—गिर जाओ। फिर आवाज आई—"देख लेना, गिरता हूँ"। राजा ने कहा—"निशक गिर जाओ।" तीसरी वार फिर आवाज आई— सम्हल जाओ, "गिरता हूँ।" हिम्मतकर राजा ने कहा—"निःसकोच गिर जाओ"। राजा के इतना कहते ही एक "स्वर्ण पुरुप" (सोने का पोरसा) राजा के आगे आ गिरा।

प्राचीन जनश्रुति है कि स्वर्ण पुरुष को बड़ी कठोर साधना द्वारा साधा जाता है। सिद्ध हो जाने के वाद वह आदमकद स्वर्ण मूर्ति के रूप में साक्षात् प्रकट हो जाता है। उस मनुष्याकार प्रतिमा का नियम यह होता है कि उसे पैरो की तरफ से यानी नाभि से नीचे-नीचे काटते जाएँ, पुनः रात्रि व्यतीत होने पर वह अपने मूल रूप में आ जाती है। अर्थात् स्वर्ण काट ले, दूसरे दिन प्रात. वह मूर्ति पुनः अपने पूर्ण—अविच्छिन्न. उसी रूप में प्रतिष्ठित हो जाती है। इस दिव्य शक्ति को पाकर राजा के हर्ष का ठिकाना नही रहा।

उस सेठ को जव इस वात का पता चला तो वह दु.ख से व्याकुल हो उठा। वह मुँह लटकाये राजसभा में आया तो राजा ने पूछा—सेठ ! क्या वात है ? आज फिर उदासी किस बात की है ? सेठ ने कहा—महाराज ! मेरे भाग्य में ही नही था, मैं इतनी हिम्मत नही कर पाया। सेठ के दु:खपूर्ण नि श्वास से विक्रमादित्य का हृदय पिघल गया और कहा– सेठ ! चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नही, तुम चाहो तो अपना भवन तथा स्वर्ण-पुरुप वापस ले सकते हो। राजा का आभार मानते हुए सेठ ने कहा—महाराज ! मैं इतना कृतघ्न नही हूँ। यह तो आपके ही प्रबल पुण्य का प्रताप है, आप ही इसका उपयोग करें।

कहते हैं, महाराज विक्रमादित्य ने उसी स्वर्ण-पुरुष से प्राप्त स्वर्ण

का प्रजा का ऋण चुकाने में प्रयोग किया। पूरे देश को ऋण भार से मुक्त कर नये बहीखाते डलवाये। यह इतिहास की एक दुर्लभ एवं अद्भुत घटना है। अब तक अन्य किसी राजा-महाराजा ने प्रजा का इस प्रकार उपकार नहीं किया है। यह अनुपम कार्य था। जिस दिन नये बहीखाते डाले गये, वह दीपावली का दूसरा दिन था। इसलिए खातों-बहियों की पूजा का सम्बन्ध दीपावली के साथ जुड़ गया।

सचाई के साथ कलम, दवात, खाते-बही की पूजा होगी, तभी वास्तव में दीपावली मनाना सार्थक होगा।

इस भांति दीपावली के साथ अनेक इति वृत्त जुड़े हुए है। यह बाहर का आलोक आन्तरिक आलोक का हेतु बने, इसी में हमारा उत्थान एवं अभ्युदय है।



२०

सीखडी सन्तारी भूल जाईजे मती ।
मोल मिनखाई रो गमाइजे मती ।।ध्रुव

ज्यां लगे शरीर काम रहसी तहाँ लग ।
(पण) काम नै हराम तू वणाइजे मती ।। मोल० १ ।।

काम नही छोटा मोटा आप-आपरी जग्या ।
खोटाई रो खोट तू रलाइजे मती ।। मोल० २ ।।

हाटड़ी रा वाण्या ! धारै, हाथ में है ताकड़ी ।
डांडी मार तोल नै घटाइजे मती ।। मोल० ३ ।।

सुण रे वजाज ! लाज धर्म री तू राखजे ।
कपड़ा रो माप विचै खाइजे मती ।। मोल० ४ ।।

दूध रा व्यापारी ! थारी शान भारी रहसी ।
पण पाणी रेड़ दूध नै वधाइजे मती ।। मोल० ५ ।।

खट-खट कूटै रे सोना नै तू सोनीड़ा ।
(पण) काट सोनो खाद तू मिलाइजे मती ।। मोल० ६ ।।

देशी घी में डाल डाल "डालडा" रा पीपा ।
घी वाला ! वेमार्‌यां नै फैलाइजे मती ।। मोल० ७ ।।

तेल में भी धोलो तेल मेल कर तेलीडा ।
गामड़ा रो स्वास्थ्य तू रुलाइजे मती ।। मोल० ८ ।।

"चन्दन मुनि" की सीख, लीक अणुव्रत री ।
पण आंकड़ी में फांकड़ी फँसाइजे मती ।। मोल० ९ ।।

तर्ज—जीवणै रो ढंग तनै आयो कोनी रे

का प्रजा का ऋण चुकाने में प्रयोग किया। पूरे देश को ऋण भार से मु कर नये बहीखाते डलवाये। यह इतिहास की एक दुर्लभ एवं अद्भुत घट है। अब तक अन्य किसी राजा-महाराजा ने प्रजा का इस प्रकार उप नहीं किया है। यह अनुपम कार्य था। जिस दिन नये बहीखाते डाले वह दीपावली का दूसरा दिन था। इसलिए खातों-बहियों की पूजा सम्बन्ध दीपावली के साथ जुड़ गया।

सचाई के साथ कलम, दवात, खाते-बही की पूजा होगी, वास्तव में दीपावली मनाना सार्थक होगा।

इस भांति दीपावली के साथ अनेक इति वृत्त जुड़े हुए है। य का आलोक आन्तरिक आलोक का हेतु बने, इसी में हमारा उत्था अभ्युदय है।

प्रथम गुण है स्वभाव से सरल होना। यह आत्मा का बहुत बडा सद्गुण है। सरलता जिसके जीवन में साकार हो जाती है, वह वास्तव में मानवीय गुणो का उद्दीपक, उन्नायक बन जाता है। सरलता का अर्थ है —अकृत्रिमता, सहजता। जैसा है, उसी रूप में सब के सामने उपस्थित होना। वहां धूर्तता—चालाकी के लिए कोई स्थान नही है। व्यक्ति मे जितनी बेईमानी, चालाकी एव ठगविद्या होती है, उतना ही उसका पतन होता है। आजकल लोग समझते है, अमुक व्यक्ति बहुत चतुर है, चलती गाड़ी के चक्के निकाल लेता है, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से देखे तो उस चातुर्य का कोई मूल्य नही है। यहा तो यथार्थता ही अभिव्यक्त होनी चाहिए। बालक सबको सहजतया आकर्षक क्यों लगता है? बच्चे में सबसे बड़ा सद्गुण यह होता है, वह सहजता में अभिरत रहता है। कृत्रिमता क्या होती है, वह नही जानता। द्वैध नाम की वस्तु उसमें नही होती। बस, जैसा है, वैसा सब के सामने है, चाहे नगा है या धूल-धूसरित, उसे कोई परवाह नही है। ऐसी सहजावस्था आत्मा के सरल होने पर ही प्राप्त की जा सकती है।

"सरल" शब्द के तीनों अक्षर बड़े सीधे है "स—र—ल"—कोई मात्रा भी नही, किन्तु शब्द सरल होते हुए भी जीवन में सरलता का अवतरण सरल नही है। व्यक्ति हर समय अपना होता-अनहोता कुछ न कुछ वैशिष्ट्य दिखाना चाहता है। यह दिखावे की, प्रदर्शन की भावना जहा आ जाती है, सहजता लुप्त हो जाती है।

दूसरा सद्गुण है—स्वभाव से विनीत होना। यह गुण भी बहुत मौलिक है। इसकी भी बडी महत्ता है। जिसके जीवन मे विनय आ जाती है, नम्रता आ जाती है, वही वास्तव में ऊँचा आदमी बनता है। जीवन मे सहज नम्रता तभी फलित बनती है, जब अहकार का नाश हो जाय। अहकार और विनय—दोनो परस्पर प्रतिपक्षी है। इनका सहावस्थान सम्भव नही है। जैसे धूप और छाया का एक साथ रहना असम्भव है—जहाँ धूप है, वहाँ छाया नही, जहाँ छाया है, वहा धूप नही, उसी भांति जहा विनय होती है, वहा अहंकार नही रह सकता। यह गुण जिसमे निपजता है, वही मनुष्य कहलाने का तथा पुन. मनुष्य बनने का अधिकारी है।

तीसरा गुण—दयालुता—आत्मा में दया भाव का होना। हमारे यहा "दया" के पर्यायवाची शब्दो में "अनुकम्पा" शब्द का प्रयोग होता

२०.

सीखड़ी संतां री भूल जाइजे मती

भगवान् महावीर ने कहा है—

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणि य जन्तुणो ।
माणुसत्तं सुइ सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥

—उत्तरा. ३/१

धर्मसाधना के चार परम महत्त्वपूर्ण अंग है जिनकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ मानी गई है। सौभाग्य से इन चारों अंगों की प्राप्ति होती है। इसी लिए इन्हें परम अंग कहा गया है।

पहला परम अंग है –"मनुष्यत्व"—मानवता। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि केवल मनुष्य के रूप में जन्म पाना ही बड़ी बात नहीं है। वस्तुतः मनुष्य में मनुष्यता का होना महत्त्वपूर्ण है। मनुष्यों की संख्या तो आज इतनी तेजी से बढ़ रही है कि यदि इस स्थिति को नियन्त्रण में नहीं किया गया तो सड़कों पर चलने के लिए सम्भवतः जगह भी नही रह पायेगी। पर, देखना यह है कि मानव-आकारधारी इन मानवों में मानवता कितने अंश में है? मानवता क्या है? यह एक गहन विषय है। मानवीय गुण कौन-कौन से हैं, जिनके द्वारा मानव, मानव कहलाने का अधिकारी बनता है।

भगवान महावीर ने मानवयोनि से पुनः मानव योनि में आने के चार हेतु बतलाये है—प्रकृति से सरल होना, प्रकृति से विनीत होना, सानुक्रोश—हृदय में दयाभाव होना और मात्सर्यरहित होना। जिस व्यक्ति के जीवन में ये चार गुण पूर्णरूपेण विकसित हो जाते हैं, वह मानव मानवता युक्त होता है।

प्रथम गुण है स्वभाव से सरल होना। यह आत्मा का बहुत बडा सद्गुण है। सरलता जिसके जीवन में साकार हो जाती है, वह वास्तव में मानवीय गुणो का उद्दीपक, उन्नायक बन जाता है। सरलता का अर्थ है —अकृत्रिमता, सहजता। जैसा है, उसी रूप में सब के सामने उपस्थित होना। वहा धूर्तता—चालाकी के लिए कोई स्थान नही है। व्यक्ति मे जितनी बेईमानी, चालाकी एव ठगविद्या होती है, उतना ही उसका पतन होता है। आजकल लोग समझते है, अमुक व्यक्ति बहुत चतुर है, चलती गाडी के चक्के निकाल लेता है, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से देखे तो उस चातुर्य का कोई मूल्य नही है। यहा तो यथार्थता ही अभिव्यक्त होनी चाहिए। बालक सबको सहजतया आकर्षक क्यों लगता है? बच्चे में सबसे बड़ा सद्गुण यह होता है, वह सहजता में अभिरत रहता है। कृत्रिमता क्या होती है, वह नही जानता। द्वैध नाम की वस्तु उसमें नही होती। बस, जैसा है, वैसा सब के सामने है, चाहे नगा है या धूल-धूसरित, उसे कोई परवाह नही है। ऐसी सहजावस्था आत्मा के सरल होने पर ही प्राप्त की जा सकती है।

"सरल" शब्द के तीनों अक्षर बड़े सीधे है "स—र—ल"—कोई मात्रा भी नही, किन्तु शब्द सरल होते हुए भी जीवन में सरलता का अवतरण सरल नही है। व्यक्ति हर समय अपना होता-अनहोता कुछ न कुछ वैशिष्ट्य दिखाना चाहता है। यह दिखावे की, प्रदर्शन की भावना जहा आ जाती है, सहजता लुप्त हो जाती है।

दूसरा सद्गुण है—स्वभाव से विनीत होना। यह गुण भी बहुत मौलिक है। इसकी भी बडी महत्ता है। जिसके जीवन मे विनय आ जाती है, नम्रता आ जाती है, वही वास्तव मे ऊँचा आदमी बनता है। जीवन मे सहज नम्रता तभी फलित बनती है, जब अहकार का नाश हो जाय। अहकार और विनय—दोनो परस्पर प्रतिपक्षी है। इनका सहावस्थान सम्भव नही है। जैसे धूप और छाया का एक साथ रहना असम्भव है—जहाँ धूप है, वहाँ छाया नही, जहाँ छाया है, वहा धूप नही, उसी भांति जहां विनय होती है, वहा अहंकार नही रह सकता। यह गुण जिसमें निपजता है, वही मनुष्य कहलाने का तथा पुन मनुष्य बनने का अधिकारी है।

तीसरा गुण—दयालुता—आत्मा मे दया भाव का होना। हमारे यहा "दया" के पर्यायवाची शब्दों मे "अनुकम्पा" शब्द का प्रयोग होता

है। किसी दुःखी, दीन, आतुर, पीड़ित व्यक्ति को देखकर भावों में अनुकम्पन होना, दयार्द्रता का संचार होना अनुकम्पा कहा जाता है। जिस दिल में दया नहीं, दरअसल वह दिल दिल नहीं पत्थर होता है। एक शायर ने बहुत अच्छा कहा है—

बीमार है वो रूह जो कि दर्द आशना नहीं।

जो आत्मा दर्द को नहीं पहचानती, वह बीमार है—बेभान है, अज्ञ है।

बीमार सर जो सामने हक के झुका नहीं।

जहां सिर को झुकना चाहिए, नमना चाहिए, वहां यदि वह नही झुकता तो समझना चाहिए सिर बीमार है। गर्दन में कही पीड़ा है।

कहने का तात्पर्य है कि अनुकम्पा, सहानुभूति मानवता का एक उत्कृष्ट लक्षण है।

तिर्यचों में सहानुभूति का भाव बहुत कम दिखाई देता है। वे प्रायः एक-दूसरे के पूरक के रूप में काम नहीं करते है। फिर भी पशु-पक्षियों में अपनी सन्तानो के प्रति करुणा-भाव रहता ही है, अन्यथा उनका पालन कैसे हो सके ? बिल्ली जब अपने बच्चे को एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर ले जाती है, तो दो बातों का विशेष ध्यान रखती है। एक तो यह है कि दांत इतनी तीव्रता से न लग जाएँ कि बच्चे के शरीर पर घाव हो जाएँ और दूसरा यह कि पकड़ इतनी शिथिल न हो कि बच्चा कही नीचे गिर जाए। एक हिंसक पशु में भी इतना स्नेह या मोह होता है, यह क्रूरता का अभाव तो है ही। यदि ऐसी अक्रूरता, कोमलता, कृपालुता पशुओं में भी प्राप्त होती है तो मनुष्य में तो दया-भाव होना अत्यन्त आवश्यक है। यहा वर्णित दया-भाव का तो इससे भी कही ऊँचा आशय है। श्रीमद्राजचन्द्र कहते हैं—

सर्व जीव करूं शासन रसी।
एहवी भाव-दया मन उल्लसो॥

सभी जीवों में वीतराग प्ररूपित धर्मशासन के प्रति रस, अभिरुचि उत्पन्न कर दूं, उन्हें प्रभु के पथ का पथिक बना दूं। उनमें प्रभु-भक्ति का संचार हो जाए। आत्मा की यह शुद्ध परिणति भाव-दया कही जाती है।

इसका अर्थ यह नही कि द्रव्य-दया का कोई मूल्य नहीं है। व्यवहार में द्रव्य दया का भी बहुत बडा उपयोग है क्योकि प्रत्येक कार्य परस्पर अनु-ग्रह-सापेक्ष है। इसलिए कहा गया—

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

—तत्त्वार्थ सूत्र ५/२१

हमें प्रत्येक कार्य में अनेको की सहायता और सहयोग लेना पड़ता है। पर-सहयोग के बिना हम एक क्षण भी जी नही सकते। हम केवल एक मात्र नही है, अनेकों का जीवन हमारे साथ सम्बद्ध है तथा अनेकों के साथ हम सम्बद्ध है। इसलिए दया, अनुकम्पा, सहानुभूति, सेवा, सौहार्द आदि जो अनेक नामो द्वारा अभिहित है, हमारी जीवन-साधना के विशिष्ट अग है। प्रस्तुन प्रसग में उपस्थापित दया-भाव मानवता का तीसरा गुण है।

चौथा सद्‌गुण है अमत्सरता। मात्सर्य एक ऐसा दुर्गुण है, जो व्यक्ति को घुन की ज्यों भीतर ही भीतर खाता रहता है। ईर्ष्या, असूया आदि इसी के नामान्तर है। दूसरो की उन्नति, प्रतिष्ठा सम्मान आदि देखकर मन ही मन जलना मात्सर्य कहलाता है। लोगो के मन मे यह आकाक्षा रहती है कि सारा महत्त्व हमें ही मिले, हमारे सम्प्रदाय को या परिवार को, या अनुयायियों को ही सबसे अधिक सम्मान मिले। प्रकृति इतनी विचित्र है कि सारी विशेपताएँ प्रायः एक स्थान पर एकत्रित नही होती। किसी वृक्ष के फूल मनोहर होते है, किसी के फल स्वादिष्ट होते है, किसी के पत्र विशिष्ट उपयोगी होते है तो इक्षु आदि के दण्ड ही रस से ससिक्त होते है। चन्दन के काष्ठ को घिसने पर भी उसमें महक फूटती है।

जहा भी जो अच्छाई, जो सद्‌गुण हमें मिलें, हम उन्हे ग्रहण करे। उनकी महत्ता एवं उपादेयता की प्रशस्ति करे, हर्ष व्यक्त करे। चार भावनाओं के अन्तर्गत मुदिता या प्रमोद भावना इस मात्सर्य की अचूक औपधि है। दूसरों के गुणों तथा विशेषताओं पर हर्षित होना, प्रमुदित होना मुदिता या प्रमोद भावना है। उससे हमारा हृदय कमल विकसित होता है, रोम-रोम में उल्लास परिव्याप्त हो जाता है। यह भावना शारीरिक और मानसिक—दोनों दृष्टियों से आरोग्यवर्द्धक है। ईर्ष्या, द्वेप, मात्सर्य से हम सकुचित बन जाते है, छोटे और सीमित बन जाते है, हमारा विस्तार अवरुद्ध हो जाता है। वास्तव में ईर्ष्या-मात्सर्य मनुष्य की तुच्छ या हीन वृत्ति का प्रतीक है। एक उर्दू का शेर है—

हासिद अगर जो कोई हसद करता है,
मत कर खयाल वह खुद कार-ए-वद करता है।
अपनी पश्तियों को करता है महसूस,
तेरी बुलन्दियों को कद्र करता है॥

ईर्ष्यालु की आंखों में अपनी तुच्छता और औरों की गुरुता प्रतिविम्वित होती है, इसीलिए वह दूसरों के साथ ईर्ष्या-मात्सर्य करता है। अमात्सर्य-अनीर्ष्या मानवता का अनूठा सद्गुण है। जिसके मन में दूसरों के गुण देखकर उल्लास होता है, हृदय गद्गद हो जाता है। वही वास्तव में मानव है। वह सोचता है, धन्य है अमुक पुरुष, अमुक स्त्री, अमुक विद्वान या अमुक सन्त-महात्मा, जिनमें अनेक उत्तमोत्तम गुण एवं अन्यत्र दुर्लभ विशेषताएँ विद्यमान हैं। हमें भी उनका अनुकरण करना चाहिए।

मानवता के ये विशिष्ट गुण है, मानवता के सुरभित पहलू है। हम प्रतिक्षण इनके प्रति सजग रहें तथा हमें जो दुर्लभ मानव जीवन मिला है, उसका यथार्थ मूल्यांकन करें। एक भजन में हमने लिखा है—

सीखड़ी सन्तां री भूल जाइजे मती।
मोल मिनखाई रो गमाइजे मती॥
ज्यां लगे शरीर, काम रहसी तहा लग।
[पण] काम नै हराम तूं वणाइजे मती॥
काम नहीं छोटा, मोटा आप आप री जग्यां
खोटाई रो खोट तू रलाइजे मती॥२॥

मानव ! सन्तों की शिक्षा को मत भूलना, मानवता के मोल को मत गंवाना, इस वहुमूल्य मानव-जीवन को वृथा मत खोना। जव तक शरीर है, तव तक कुछ न कुछ काम तो करना ही होगा। गीता में कहा है—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्

—गीता ३/५

कर्म के विना कोई एक क्षण भी ठहर नही सकता। प्रत्येक क्षण कोई न कोई क्रिया तो चलती ही रहेगी। गहराई से देखा जाय तो वस्तु का धर्म भी यही है। वैयायिकों ने कहा है—"अर्थक्रियाकारित्वं वस्तुत्वम्" प्रत्येक वस्तु कुछ न कुछ पादार्थिक क्रिया करती ही रहती है—चेतन चेतन

के रूप में और अचेतन अचेतन के रूप में। यदि ऐसा न हो तो वस्तु अवस्तु बन जाए, उसका वस्तुत्व ठहर ही न पाए। इसलिए जहा शरीर है, वहां कर्म है—इसे सुनिश्चित समझना चाहिए। मानवता का तकाजा है कर्म को, काम को हराम मत बनाओ।

एक बार चार दोस्त सैर करने निकले और घूमते हुए दूर जंगल में चले गए। चारों को खूब जोर से प्यास लगी। वे पानी को खोजते हुए एक कूए के पास जा पहुँचे। कूए के समीप ही बाल्टी और रस्सी पडी थी। जब पानी निकालने का क्षण आया तो एक ने कहा—मैं तो शाहजादा हूँ, मैं पानी कैसे निकाल सकता हूँ ? कोई मुझे पानी निकालते हुए देख ले तो मेरे खानदान की शान में बट्टा लग जाएगा। उसकी बात सुनकर दूसरे ने कहा मैं नवाबजादा हूँ। किसी जमाने में मेरे पिता की बहुत बड़ी रियासत थी, —मैं कूंए से पानी निकालने जैसा तुच्छ कार्य कैसे कर सकता हूँ ?

तीसरे साथी ने कहा—मैं अमीरजादा हूँ। हमारे यहाँ तो पुश्तैनी अमीरी है, दसों-बीसों नौकर-चाकर मेरे आगे-पीछे घूमते है। मेरे पानी निकालने का तो सवाल ही नहीं उठता।

चौथा साथी चुपचाप सारी बात सुन रहा था। उसने सोचा—ये तो तीनों एकदम निकम्मे है। वह बाल्टी और रस्सी लेकर आगे बढा। कूए से पानी निकाला। तीनों साथी बहुत प्रसन्न हुए, पर यह क्या, उसने पानी पिया, मुँह-हाथ धोये और शेष पानी वापस कूए में उड़ेल दिया। साथी हैरान रह गए। भाई ! यह क्या किया ? हमने तो सोचा था, तुम पानी पीकर हमें भी पिलाओगे। चौथे साथी ने कहा—बन्धुओ ! तुम सब बड़े आदमी हो, तुममें कोई शाहजादा है, कोई नवाबजादा है, कोई अमीर-जादा है पर मैं तो हरामजादा हूँ। मैं तुम जैसे पुरुषार्थहीन, अकर्मण्य व्यक्तियो को पानी नही पिलाता। जिनमें हाथ-पैर हिलाने तक की हिम्मत नही, उन्हे कौन पानी पिलाए ?

वास्तव में कार्य तो पूजा है, यदि शुद्ध भाव से किया जाय। कुछ लोग सोचते है, अमुक काम छोटा है, हम कैसे करे, उन्हे बड़ा काम चाहिए, पर विचक्षण लोग कहते है—काम कोई छोटा-बड़ा नही है। सब कार्यो का अपना-अपना महत्त्व है। भक्त रैदास तो जूतियाँ ही गाँठते थे और जूतियों के गाँठने में भी वे भगवत्-आराधना देखते थे। इसलिए कोई काम नीचा नही होता। बस, शर्त एक ही है कि उसमें खोट-बदनीति का भाव नहीं

रहना चाहिए। बेईमानी से किया गया ऊँचा काम भी बहुत नीचा बन जाता है। सन्त कबीर ने जुलाहे का काम करते हुए भी अध्यात्म के स्वर में गाया—

चादर झीनी हो राम झीनी।
यह सदा राम रंग भीनी॥

जो प्रत्येक कार्य को शुभ नीति से, शुद्ध भाव से करता है, मानवता उससे अलंकृत होती है।

हाटड़ी रा बाणिया! थांरे, हाथ में है ताकड़ी।
डांडी मार तोल ने घटाइजे मती॥

हाट के वणिक् के हाथ में तराजू होता है। तराजू का तात्पर्य है सन्तुलन बनाये रखना। पर कुछ बनिये तोलते-तोलते ऐसी डांडी मार देते है कि सामने वाले को पता ही नहीं चलता और उसके पास वस्तु कम पहुँचती है। यह धर्म नहीं है, कर्तव्य नही है। सनातन धर्म में तुलाधार वैश्य की कहानी प्रसिद्ध है, जो कभी अपने तराजू से तोल में कमी नहीं करता था। यही उसकी पूजा-उपासना थी। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उसके पास कुछ जानने सीखने आते। वास्तव में धर्म को प्रत्येक क्रिया के साथ जोड़ना जरूरी है। दो क्षण के लिए सोचे कि आप पूजा-उपासना में एक घण्टा, दो घण्टे या तीन घन्टे लगायेंगे, फिर भी चौबीस घण्टों में आपके इक्कीस-बाईस घण्टे तो सांसारिक व्यवहार एवं दैनन्दिन कार्य में ही लगेंगे। फिर जीवन में धर्म का सन्तुलन कैसे रह सकता है? इक्कीस-बाईस घण्टों के क्रिया-कलाप के समक्ष दो-तीन घंटों की पूजा-उपासना का क्या महत्व है? आवश्यक यह है कि दो घण्टों का पूजा-क्रम शेष रहे घन्टों में सक्रिय बने। वह पूजा-उपासना का भाव प्रतिक्षण व्यवहार में उतरे। तभी वह सच्चे अर्थ में पूजा होगी अन्यथा नहीं। उपाध्याय यशोविजयजी लिखते हैं—

विना समत्वं प्रसरन् ममत्वं सामायिकं मायिकमेव मन्ये

यदि जीवन में समता नहीं है, केवल ममता ही प्रसार पा रही है तो आपकी सामायिक केवल मायिक बनकर रह जाएगी। दम्भचर्या का रूप ले लेगी। "सामायिक" शब्द से यदि "सा" को हटा दिया जाय तो केवल "मायिक" रह जाता है। इसी प्रकार सामायिक के साथ समता नहीं रही तो केवल मायाचार ही अवशिष्ट रहेगा। यदि एक सामायिक समता भाव

के साय सम्पन्न की हो और पूरे दिन वह समता जीवन व्यवहार में उतरती रहे तो सही अर्थ में वह सामायिक प्राणवान् है।

इसलिए कहा गया है कि हे हाट के वणिक ! तेरे हाथ में तराजू है, तू तोलने की यथार्थता को उपेक्षित मत करना।

कवि सग्रामसिह बहुत सदाचारी एव सात्त्विक वृत्ति का था। उसके बनाये हुए कुण्डलिया छन्द बहुत प्रसिद्ध हैं। एक बार उसकी पत्नी के बच्चा होने वाला था। स्त्री ने कहा—प्रसव के समय अजवायन की जरूरत पड़ेगी। सग्रामसिह ने प्रसव से एक-दो महीने पहले ही एक सेर अजवायन ला छोड़ी। स्त्री ने उसको साफ करके सम्हाल कर रख दिया।

धीरे-धीरे प्रसव काल बिलकुल समीप आ गया पर दृष्टि-फेर ऐसा हुआ कि वह अजवायन हाथ नही आ रही थी। घर में सब जगह खोजने पर भी अजवायन नजर नही चढी। कभी-कभी नजर बहुत धोखा दे देती है। सारे घर वाले परेशान हो गए। आखिर स्त्री ने कहा—अजवायन मिल नही रही है, प्रसव काल समीप है, आपको दुबारा उसकी व्यवस्था करनी होगी। घर में आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी नही थी। जो थोडा वेतन मिलता था, उसी से निर्वाह करना पडता था। इसलिए सग्रामसिह ने कहा—अब दुबारा अजवायन कहा से लाऊँ ? मेरे पास पैसे नही है। स्त्री ने कहा—आपका कहना तो सत्य है, पर यह तो आवश्यक है। किसी भाँति इसकी व्यवस्था तो करनी ही होगी। आखिर गिरवी रखने के लिए एक थाली साथ लेकर संग्रामसिह एक गल्ले के व्यापारी के पास पहुँचा और कहा—सेठजी ! एक सेर अजवायन चाहिए। सेठ ने सोचा—यह उधार लेने के लिए आया है। टालमटोल करते हुए उसने कहा—संग्रामसिह ! अभी मेरी दुकान में अजवायन नही आई हुई है। मैंने मँगवा रखी है, शायद पाँच-सात दिन में आ जाये, तब तुम्हे दे दूँगा। सग्रामसिह समझ गया कि यह आनाकानी करके उधार देने से वचना चाहता है। सग्रामसिह ने तुरन्त थैले मे से थाली निकालकर सामने रख दी और कहा—यह मेरी थाली आप गिरवी रख लीजिए। जब आपके दाम चुक जाये, तब वापस लौटा दें। थाली को देखते ही वनिया समझ गया कि यह तो लाभ का ही सौदा है, इसमें हानि होने की कोई आशंका नही है। बड़े मीठे स्वर में बनिये ने कहा—भाई ! अजवायन दूकान में है तो नही, फिर भी देखता हूँ, नीचे-ऊपर रखी हुई थोड़ी बहुत मिल जाये तो तुम्हारा काम निकल जायेगा। वह अन्दर गया और थोडी देर मे अजवायन का थैला ले आया, बोला—

संग्रामसिंह ! तेरे भाग्य से मिल ही गई, वरना मेरे तो ध्यान में ही नहीं था कि इस थैले में अजवायन है। खैर, तराजू में एक सेर अजवायन डाल कर तोली, उसे एक कागज के लिफाफे में डाला और ऊपर सूत लपेट दिया। बनिये ने अजवायन संग्रामसिंह के हाथों में थमा दी। वह घर की ओर चल पड़ा।

इधर घर का सामान इधर-उधर करते हुए संग्रामसिंह की स्त्री को वह खोई हुई अजवायन मिल गई। वह ज्यों ही घर आया, स्त्री ने कहा—पहले वाली अजवायन मिल गई है, अब यह नहीं चाहिए। संग्रामसिंह उन्हीं पाँवों वापस लौटकर बनिये की दुकान पर आया और कहा—भाई ! हमें पहले वाली अजवायन मिल गई है, इसलिए यह नहीं चाहिए। आप इस को वापस कर लीजिए तथा मेरी थाली लौटा दीजिए।

पहले तो सेठ ने काफी आनाकानी की, पर बहुत कहने-सुनने पर वह उसे वापस लेने को तैयार हो गया। सेठ ने कहा—वापस तो ले लूँगा, पर वापस तोल करूँगा। तुमने इसमें से कुछ अजवायन घर जाकर निकाल न ली हो ? संग्रामसिंह ने कहा—ऐसा मैं सोच भी नहीं सकता। शंका हो तो आप तोल लें, इसमें क्या बात है ? सेठ ने कवि के सामने पुनः तोल किया तो अजवायन तीन पाव ही निकली। सेठ ने गरजते हुए कहा—बस, इतनी सी देर में पाव अजवायन निकाल ली। वरना यह सेर से तीन पाव कैसे होती ? संग्रामसिंह के आश्चर्य का पार न रहा। वह इस हेराफेरी को देखकर स्तब्ध रह गया। उसने उसी समय एक "कुण्डलिया" बनाकर सेठ को सुनाया—

सुण शाहजी ! संग्राम कहै वो को वो ही सेर।
लेतां-देतां पाव को पड़्यो किसी विध फेर ।।
पड़्यो किसी विध फेर, इसी थे करी कमाई।
तौबा वार हजार, कमी नहीं राखी कांई।
साहिब लेखो मांगसी, देसी ऊंदो टेर।
सुण शाहजी ! संग्राम कहै वो को वो ही सेर ।।

अरे सेठ ! तोलने का बाट वही का वही, फिर लेने और देने में एक पाव का अन्तर कैसे पड़ गया ? पर भाई ! आगे तुम्हारी यह पोल-पट्टी नहीं चलेगी। राई-राई का हिसाब देना पड़ेगा। वहां यमदूत तुझे उल्टा लटकाकर सारा हिसाब मांगेंगे।

सुण रे बजाज ! लाज धर्म री तू राखजे।
कपड़े रो माप विचं खाइजे मती ... ...॥३॥

ऐसे ही किसी कवि ने वजाज—कपड़े के व्यापारी को सम्बोधित कर कहा है—भाई वजाज ! तू धर्म की लाज रखना। ऐसा न हो कि तेरे कपड़े के माप में अन्तर पड़ जाए। हमारे यहाँ दो शब्द आते हैं—तोलना और मापना। धान्य आदि वस्तुओं का तोल होता है, वस्त्रादि का माप होता है। भगवान् महावीर ने कहा—"कूडतुल-कूडमाण"—श्रावक के लिए कूट तोल और कूट माप वर्जनीय है। आदमी का तोल-माप इतना खरा हो कि चाहे वच्चा आये, वूढा आये, भोला आये या समझदार आये, उसकी वृत्ति नेक रहे, बेचने वाला पूर्ण प्रामाणिक रहे। आदमी दस-पाँच इच कपड़े के लिए वेईमानी करता है, मन में प्रसन्न होता है कि पैसे पूरे ले लिए और थोडा कपड़ा भी वचा लिया, परन्तु यह बड़ा निन्द्य कर्म है। सत कहते हैं, तुम इस प्रकार का आचरण कर मनुष्यता की शान मत गवाना।

सुजानगढ के श्रावक श्री रूपचन्दजी सेठिया बहुत प्रामाणिक व्यक्ति थे। उनकी रीति-नीति, वोल-चाल—सब सन्तुलित था। हजारों-लाखों में ऐसा संयमी, विचारशील, विवेकशील श्रावक कठिनाई से मिलता है। परदेश में उनके कपड़े का व्यापार था। उन्होंने अपने सारे कार्यकर्त्ताओं, मुनीम-गुमाश्तों को कह रखा था कि वे उपस्थित रहें या न रहे, उनकी दुकान मे किसी प्रकार की अप्रामाणिकता न की जाए। जो उचित मूल्य जिस कपड़े का तय कर लिया गया, उसी भाव पर वह ग्राहक को मिलना चाहिये तथा माप में भी किसी प्रकार की गडबडी नही होनी चाहिए। चार अंगुल कपड़ा ग्राहक के घर अधिक भले ही चला जाए लेकिन कम नही जाना चाहिये।

एक दिन सेठ स्वयं गद्दी पर बैठे थे। एक मुनीम आने वाले ग्राहक को निपटा रहा था। एक वहन कपड़ा लेने आई। उसने कपड़ा पसन्द किया और मुनीम से नौ गज कपडा मापने के लिए कहा। मुनीम ने गज हाथ में लेकर कपड़ा मापना शुरू किया। इधर सेठ उसको बड़ी सजग दृष्टि से देख रहे थे। मुनीम ने गज पर गज मापते हुए अन्तिम गज में ऐसी चतुराई से हाथ खिसकाया कि चार-पाँच अंगुल कपड़ा गज में कम हो गया। वह वहन इसे भाँप नहीं सकी। मुनीम ने थान से कपड़ा फाड़ा

और वह लपेटकर उस बहन को थमाने लगा तभी सेठजी ने वह कपड़ा अपने पास मँगवाकर रख लिया तथा उसी थान में से दूसरा नौ गज कपड़ा अपने हाथ से फाड़कर उस बहन को दिया। वह रुपये देकर चली गई। पीछे से सेठजी ने वह कपड़ा दुबारा मापा तो चार अंगुल कम निकला। तुरन्त मुनीम से पूछा—भाई ! यह क्या बात है ? कपड़ा चार अंगुल कम कैसे ? उसने उत्तर दिया—सेठजी ! हम वणिक हैं। आटे में नमक जितना झूठ-सच तो चलता ही है। व्यापार का नाम ही है "सत्यानृत"। यहाँ थोड़ा बहुत न करे तो खाएँ क्या ? सेठजी ने कहा—भाई ! यह अन्याय है। मैंने श्रावक के व्रत स्वीकार किये है, मुझे कूट माप का त्याग है। तुम मेरे गुमाश्ते हो, आखिर इस कमाई का मालिक तो मै ही हूँ। तुम्हारी इस कूट माप से मेरे व्रत में अतिचार लगता है। ऐसा कहकर उसी समय उस गुमाश्ते का हिसाब कर दिया। यह है सचाई का उदाहरण।

इसीलिए सन्त कहते हैं कि तुम्हारे धर्म की महत्ता तभी रह सकती है, जब तुम इस प्रकार माप में जरा भी गोल-माल न करो।

दूध रा व्यापारी ! थांरी, शान भारी रहसी।
पण पाणी रेड़ दूध ने वधाइजे मती ।।

इसी प्रकार दूध में पानी की मिलावट तो आम बात है। अतएव कहा गया कि भाई दूध बेचने वाले ! तू थोड़े से पैसों के लोभ में आकर दूध में पानी मिलाकर उसे बढाना मत।

खट-खट कूटै रे, सोना ने ते सोनीड़ा।
पण काट सोनो खाद ते मिलाइजे मती ।।

स्वर्णकार को सम्बोधित करते हुए कहा गया कि भाई स्वर्णकार ! तू सोने को कूटता है, गलाता है, ढालता है, पर इस बीच स्वर्ण निकालकर खाद भी मिला देता है, यह तेरा धर्म नहीं है। प्रायः कहा जाता है कि स्वर्णकार बड़े चतुर होते है। आभूषण बनाते समय चाहे कितनी ही निगरानी, चौकसी रखी जाये, लेकिन सुनार उसमें कुछ न कुछ खाद तो मिला ही देता है। सोने का कुछ अंश तो अपने लिए बचा ही लेता है।

कहते है, एक सुनार की बेटी को गहने बनवाने थे। उसने सोचा—अपने भाई से गहने बनवाऊँगी ताकि खाद आदि का वहम न रहे। वह ससुराल से पीहर आई, तब सोना साथ लेती आई। उसे विश्वास था कि भाई तो आखिर भाई है, वह मेरे साथ धोखा कैसे कर सकता है ?

भाई ने गहने घडने शुरू किये। वहन पास में वैठी थी। थोड़ी दूर पर हाथ मे माला लिये वैठा वृद्ध पिता राम-राम जप रहा था। बूढे के मन में विचार आया कि कही मेरा पुत्र वहन का लिहाज कर सोना काटना न भूल जाए। हमें तो अपना काम कर ही लेना चाहिए, क्योंकि हिसाव की वात में हमारे लिये सभी वरावर है। इस खयाल से वृद्ध ने 'राम-राम' के जप में कुछ परिवर्तन किया और ऊँचे स्वर में कहने लगा—"हे राम थांरे तो सै ही सरखा है" वह वार-वार पुत्र की तरफ झांकता और ऊँची आवाज मे इस पंक्ति को दुहराता कि "हे राम थांरे तो सै ही सरखा है।"

वह वेटा तो उसी वाप का था, वाप से कुछ कम नही था। वह तो पहले ही अपना कार्य कर चुका था, लेकिन वूढा वार-बार सकेत दिये ही जा रहा था। आखिर पुत्र से रहा नही गया। उसने कहा—"राम ने तो कभी की लंका लूट ली, अव क्यों राम-राम पुकार रहा है।"

कहने का आशय यह है कि ईमानरहित आदमी के बेईमानी करने में रिश्ते या सम्वन्ध आड़े नही आते। उसमें अपनेपन का कोई भाव नही होता। वह तो ज्यों-त्यों कर पैसा ही वनाना चाहता है। सन्त उद्‌बोधन देते हैं कि भाई! अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक रहो तथा ईमानदारी का रास्ता मत छोडो।

देशी घी में डाल-डाल डालडा रा पीपा।
घी वाला! बिमार्‌यॉ ने फैलाइजे मती॥

इसी तरह लोग घी की दुकान पर बोर्ड लगाते हैं "शुद्ध देशो घी की दुकान"; पर शुद्ध घी कहाँ मिलता है? उन्हें यह भान नही रहता कि इस प्रकार के मिश्रण से कितनो भोषण बीमारियाँ फैलती हैं। देशी घी के नाम पर डालडा खाने वाले रोगी तो कई बार अकाल में ही काल-कवलित हो जाते हैं। सवसे वडी समस्या तो यह है कि डालडा भी असली नहीं मिलता। उसमें भी कई प्रकार के सम्मिश्रण होने लगे है। वनस्पति घी में भैंसों, सूअरों और अजगरों की चर्बी मिलाकर लोगों को खिलाई जा रही है। इससे वड़ा शर्मनाक कार्य और क्या हो सकता है? परम वैष्णव और जैन कहलाने वाले ऐसे धन्धों में प्रमुख रूप से संलिप्त होते हैं, यह निश्चय ही निन्दनीय है।

तेल में भी घोलो तेल, मेलकर तेलीड़ा।
गामड़ा रो स्वास्थ्य तू रुलाइजे मती॥

कुछ लोभी व्यापारी तिल, सरसों, मूँगफली आदि के तेलों में "ह्वाइट ऑयल" मिलाकर उसे जनता के बीच पहुँचाते हैं। जो बेचारे अर्थाभाववश घी खरीदने में असमर्थ हैं, केवल तेल ही खाने के काम में लेते हैं, उनके स्वास्थ्य पर कितना भारी आघात होता है। अखाद्य पदार्थ खाने से अनेक निर्दोष व्यक्ति मारे जाते हैं या बीमारी की घातक चपेट में आ जाते हैं।

स्थिति ऐसी है कि हर व्यापार में कुछ न कुछ मिलावट का काम चलता ही है। एक बार पंजाब में हमने देखा कि लोग गुड़ के पतले पात में काली जीरी (एक किस्म का धान्य) मिला रहे थे। हमने कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि इससे कालीजीरी का वजन बढ जाता है तथा दाम अच्छे मिलते हैं। इसी तरह अनाज में कंकड़, चाय की पत्तियों में उनसे मिलती-जुलती झाड़ की पत्तियाँ तथा काली मिर्च में पपीते के बीज आदि मिलाना आम बात हो गई है।

एक बार एक भाई ने विदेश से एक ऐसी मशीन मँगवाई थी, जो गेहूँ के आकार की कंकड़ी तैयार करती थी। गेहूँ के साथ कंकड़ियाँ आसानी से मिलाई जा सकें, इसके अतिरिक्त उसका और प्रयोजन क्या हो सकता था?

सन्त कहते हैं, चाहे कुछ भी कार्य करो, उसमें प्रामाणिकता अवश्य रहनी चाहिए। यह नीति की खोट आदमी को खा जाती है। यह मीठी मार है। जब तक कमाई होती है, मन बहुत प्रसन्न रहता है, पर यह पाप की कमाई अधिक समय ठहरती नहीं और कभी सारा का सारा खाया-पिया एक साथ निकल जाता है।

गीत का अन्तिम पद इस प्रकार है—

"चन्दन मुनि" की सीख, लोक अणुव्रत री।
पण आंकड़ी में फांकड़ी फंसाइजे मती॥

भगवान् महावीर ने गृहस्थों के लिए पांच अणुव्रत बतलाये है। वे ऐसे ही पापों से बचने का संकेत करते हैं, मार्ग देते हैं। प्रत्येक कार्य में हमें जागरूक रहना है। यदि हमारी नीयत अच्छी है तो सब कुछ अच्छा है, नीयत बुरी है तो सब कुछ बुरा है। कहा गया है—

न सूरत बुरी है, न सीरत बुरी है।
अगर कुछ बुरी है तो नीयत बुरी है।

अन्त में कहा गया "आंकड़ी में फांकड़ी फँसाइजे मती" कोई नियम, व्रत लेकर चालाकी से उसमें कभी गली मत निकालना। कई लोग ऐसे चतुर होते है कि नियमों के पालन का तो दिखावा करते हैं, पर कपटपूर्वक रास्ता निकालकर अपना काम भी बना लेते है।। खास तौर पर वणिकों के लिए तो यह मारवाडी कहावत है कि वे लोग आंकड़ी में फांकड़ी फँसा ही देते है। मात्र शब्दावली का पालन व्रत नही होता। व्रत का हार्द लिया जाना चाहिए।

कहते हैं, किसी वणिक को यमदूत उठाकर ले गये। धर्मराज के सम्मुख उसे उपस्थित किया गया। चित्रगुप्त ने उसका लेखा-जोखा देखने के लिए अपनी वही निकाली। धर्मराज अपने काम में व्यस्त थे। बनिये ने झाककर देखा तो उसकी आयु के आगे लिखा था "गतायु" यानी उसकी उम्र पूर्ण हो चुकी है। अचानक किसी कार्यवश चित्रगुप्त वहाँ से उठकर चले गये। वनिये ने धर्मराज को नजर वचाकर पास रखी कलम उठाई और गतायु के ग की लाइन जरा-सी सरका दी। परिणाम यह हुआ कि ग का श वन गया। फलतः गतायु शतायु हो गया। इतने में चित्रगुप्त लौट आये। वणिक् ने यमराज से शिकायत की कि महाराज! आपके दूत अंधे हैं, ध्यान नही देते। मेरी आयु तो सौ साल की है। ये मुझे साठ साल में ही उठाकर ले आये। यमराज ने कहा, ऐसा नही हो सकता। चित्रगुप्त वहुत सावधान है। इसका लेखा-जोखा वरावर सही निकलता है, कभी कोई फर्क नही रहता। लाओ, वहीखाता मुझे दिखलाओ। तुरन्त चित्रगुप्त ने खाता हाजिर किया तो उसमें "शतायु" लिखा था। यमराज ने कहा— यह तो चित्रगुप्त! तुम्हारी भूल ही हुई लगती है। यह आदमी ठीक कह रहा है। चित्रगुप्त हैरान था कि अभी उसने गतायु पढा था, फिर शतायु कैसे हो गया? इसलिए कहा गया—

बणियो बाण न बिसरे, जो अमरापुर जाय।
साहिब स्यू सौदा करे, तो भी ढक्को पीसो खाय॥

एक कवि ने तो बहुत तीखा व्यंग्य करते हुए लिखा है—

सौ सोनारां एक ठग, सौ ठग ठाकर एक।
सतरह ठाकर भांजकर, गढ्यो बाणियो एक॥

इसी तरह संस्कृत में एक कहावत आती है—

२१.

सोयेड़ो संसार इण में जागै जको कुण है?

सुत्तेसु यावि पडिबुद्धजीवी, न वीससे पंडिए आसुपन्ने ।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं, भारंड पक्खीव चरेऽप्पमत्तो ।।

—उत्तरा. ४/६

उत्तराध्ययन सूत्र के चतुर्थ अध्ययन में प्रभु महावीर एक अन्तःस्पर्शी देशना देते हैं कि आशुप्रज्ञ पंडित सोये हुए व्यक्तियों के बीच भी जागरित रहे। प्रमाद में विश्वास न करे। मुहूर्त्त बड़े घोर हैं, विषम हैं, शरीर दुर्बल है, इसलिए वह भारण्ड पक्षी की भांति अप्रमत्त होकर विचरण करे।

जब साथी सोए हुए हों, उस समय जागरित होकर बैठना एक विशेष स्थिति है। साथियों के सोते हुए जागरूक होकर वही बैठता है, जिसे यह ध्यान रहता है कि न जाने चोर कब, किस क्षण आ जाएँ। इसलिए वह प्रमत्त नहीं बनता। बात यथार्थ भी है। चोर का कोई बँधा हुआ समय नहीं होता। जैसे ट्रेन का बँधा समय होता है कि अमुक स्टेशन पर ३ बजकर ३० मिनट पर पहुँचेगी और अमुक स्टेशन पर चार बजे। यह निश्चित होता है कि ट्रेन उससे पूर्व वहां नहीं पहुँचती लेकिन चोर का समय यों निर्धारित नहीं होता कि वह अमुक समय अमुक घर में घुसेगा। चोर तो अवसर की ताक में रहता है। जब घर के सब लोग सोए हों, वही समय उसके लिए उपयुक्त होता है। इसलिए जो प्रतिक्षण जागरूक है, वही चोरों से सुरक्षा कर सकता है। इसी प्रकार जो साधक क्षण-क्षण अप्रमत्त होता है, वही राग, द्वेष, मद, मोह आदि से बच सकता है। महावीर कहते हैं "न वीससे" वह पण्डित विश्वास नहीं करता। यहां एक शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। "आसुपन्ने"—आशुप्रज्ञः—प्रत्युत्पन्न-प्रज्ञायुक्त—तत्काल बौद्धिक स्फुरणा युक्त पुरुष ही जागृति की साधना कर सकता है।

एक बैंक में एक चौकीदार की आवश्यकता थी। आखिर जमालखां नामक एक व्यक्ति को बैंक के आगे चौकीदार नियुक्त किया गया। रात को उसकी पहरे की ड्यूटी लगाई गई। शाम का समय होता, बैंक के मैनेजर आदि अधिकारी, कर्मचारी बैंक के द्वार बन्द कर मजबूत ताला लगाते, ताले पर सील-मोहर लगाते। उस सील से तात्पर्य यह था कि ताला तो खोलकर वापस बन्द भी किया जा सकता है, पर सील टूटने के बाद वापस लग नही सकती। यानी कर्मचारियों में से भी किसी एक की नीयत खराव होने पर वह अकेले आकर न बैंक खोल सके और न कोई गड़बड़ कर सके। शाम को जाते समय वे कर्मचारी जमालखाँ को सावधान कर जाते कि खाँ साहव ! रात को सोना मत, पूरा ध्यान रखना, सील-मोहर पर बराबर नजर रखना।

खाँ साहव के सोने की तो वात ही कहाँ ! वहाँ तो उन्हें खड़े होकर घूमते रहना था। वे अपनी तरफ से पूरी सजगता से ड्यूटी लगाते तथा उनकी नजर सील पर बराबर टिकी रहती। आते-जाते उसे ही सँभालते रहते। वस्तुतः मिया साहब स्वभाव से कुछ भोले थे। वे अपने आपको वहुत जहीन समझते थे पर अक्लमन्दी उनसे कोसो दूर थी। चोरो ने कई दिन से उस बैंक पर आँख लगा रखी थी। उन्होने देखा कि जमालखाँ केवल बैंक के आगे-आगे घूमता रहता है तथा बार-बार सील लगे ताले को सम्हालता रहता है। चोरो ने मियाँ के भोलेपन का लाभ उठाया। एक रात उन्होने बंक के पिछले हिस्से में सेध लगाई और बड़ी चतुराई से दीवार तोड़कर रास्ता बना लिया। जब सेध की आवाज आई, मियाँ ने सील सम्हाली और निश्चिन्त हो गया कि ठीक है, सील बराबर लगी है, फिर चिन्ता की बात ही क्या है ? चोर बैंक के अन्दर घुसे तथा सेफ व लॉकर्स टूटने की आवाज आने लगी, पर मियाँ ने फिर वही सोचा कि सील सुरक्षित है तो सब कुछ सेफ है, चिन्ता क्या है ? चोरो को जो कुछ लेना था, लिया और रवाना हो गए। आराम से उनका काम हो गया।

सुबह हुई। लोगो ने देखा—बैंक की दीवार टूटी पड़ी है। जरूर कोई डकैती हुई है। सेकडों लोग एकत्रित हो गए। बैंक के मैनेजर, कर्मचारी, वाबू, चपरासी सब दौड़े आए। मैनेजर ने जमालखाँ से पूछा—मियाँ साहब ! यह क्या ? आपने क्या पहरा लगाया ? क्या आपको रात में नीद आ गई थी ? मिया ने कहा—जनाब ! माल का मुझे क्या पता ? सील-मोहर तो सलामत पडी है। इस सम्बन्ध में एक पद्य है—

माल का ना पता मुझको, लगी सील तो बराबर है ।
अजी ! आवाज खट्-खट् की मेरे कानों में आई थी ।
ध्यान से देख ली मैंने, लगी सील तो बराबर है ।।

मियाँ जमालखां ने बड़े भोले अन्दाज में कहा—अजी ! खट्-खट् की आवाज तो मेरे भी कानों में पड़ी थी, अन्दर कुछ तोड़ा जा रहा है, ऐसा महसूस भी हुआ था, पर आपने कह रखा था कि सील-मोहर का ध्यान रखना, इसलिए मैंने तो उसी पर ध्यान रखा। वह तो बराबर लगी हुई है। मैनेजर ने कहा—बेवकूफ ! रखवाली सील की थी या अन्दर वाले माल की ? तुम इसे सम्हालते रहे, चोर अन्दर से सब कुछ बटोर कर ले गए।

कहने का भाव यह है कि चौकीदार आशुप्रज्ञ होना चाहिए। अगर पहरेदार बेवकूफ है तो वह सही रखवाली नहीं कर पाएगा। उसमें यह समझ ही नही होती कि किस वस्तु की सुरक्षा करनी है ?

इसलिए अन्य सब लोगों के, साथियों के सोते हुए भी जो प्रबुद्धजीवी पण्डित होता है—जागने वाला होता है, उसे आशुप्रज्ञ विशेषण से विभूषित किया गया है।

भगवान् महावीर कहते हैं—घोरा मुहुत्ता—ये मुहूर्त्त घोर हैं। काल के क्षण मिलकर मुहूर्त्त बनाते हैं। मुहूर्त्तो से प्रहर और प्रहरों से अहोरात्र—रात-दिन बनते हैं। ये काल के मुहूर्त्त हमें काटे जा रहे हैं, खाये जा रहे हैं, छोटे बनाये जा रहे हैं। ये बड़े दारुण हैं और इनके बीतने के साथ-साथ शरीर अबल बनता जाता है, निर्बल होता जाता है।

जैनागमों में "ओज-आहार" का वर्णन आता है। जीव किसी भी योनि में उत्पन्न होने के प्रथम समय में जो आहार ग्रहण करता है, वह ओज आहार है। बहनें दाल के बड़े बनाती हैं। जैसे बड़े को तेल में छोड़ते ही वह छन्नाटे की आवाज के साथ तेल को आत्मसात् करता है, उसी भाँति उत्पत्ति के प्रथम समय में ग्रहण की गई शक्ति ओज आहार की संज्ञा से अभिहित होती है। इसी आहार के परिणामस्वरूप शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्तियाँ साकार होती हैं। जन्म के पहले क्षण में ग्रहण किया गया वह ओज आहार आयु बढ़ने के साथ-साथ प्रतिपल क्षीण होता चला जाता है, घटता जाता है। उसका पूर्णतः समाप्त होना मृत्यु कहा जाता है। इसलिए "घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं" विशेषण बहुत गहरे हैं, बड़े महत्वपूर्ण हैं।

हमारी देह का ओज प्रतिक्षण क्षीण होने से शरीर अबल-दुर्बल बना जा रहा है। इसलिए प्रभु संकेत देते है—"भारण्ड पक्खीव चरेऽप्पमत्तो" साधक को भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त विचरण करना चाहिए। वृद्ध मुनिजन हमें बताया करते थे कि भारण्ड पक्षी के शरीर एक और गर्दनें दो होती हैं। जैसे एक गर्दन पूर्व की ओर होगी तो दूसरी गर्दन पश्चिम की ओर रहेगी। बीच का शरीर एक ही होगा। भारण्ड पक्षी की एक अद्भुत विशेषता यह होती है कि वह जब एक गर्दन की ओर सोता है—नींद लेता है, तब दूसरी से चौकसी करता रहता है। एक क्षण भी ऐसा नही करता कि दोनों तरफ से निद्राधीन बन जाए। उपमा बड़ी मार्मिक है। भगवान् फरमाते है कि साधक को उस पखी की भाँति प्रतिपल जागरूक रहना चाहिए। तभी उसे साधना का क्रम स्वायत्त हो सकता है।

गौतम बुद्ध के लिए कहा जाता है कि जब वे सोते तो चार घण्टा, पाँच घण्टा एक ही करवट से सोए रहते। नीद में कभी करवट नही बदलते। उनके शिष्य आनन्द ने कई बार इस तथ्य को लक्षित किया। वह हैरान था कि हम तो नींद में अनेक बार करवट बदलते रहते है, तथागत कभी करवट नहीं बदलते। क्या पूरी रात जागते रहते है ? आखिर एक दिन उसने बुद्ध से पूछ ही लिया कि भन्ते ! क्या आपको पूरी रात निद्रा नही आती ? बुद्ध ने कहा—मैं तो बडी अच्छी नीद सोता हूँ। बड़ी गहरी नीद आती है मुझे। आनन्द ने पूछा—भगवन् ! यदि गहरी नीद आती है तो फिर आप करवट क्यों नही बदलते ? आप जिस करवट लेटते है, प्रायः पूरे समय उसी करवट लेटे रहते है, यह क्या है ?

इस पर बुद्ध ने एक गहन तथ्य का उद्घाटन करते हुए कहा—आनन्द ! जो दिन में पूर्णतया जागरित रहता है, वह निद्रावस्था में भी जागृति बनाए रख सकता है। उसकी जागरणा सतत हो जाती है। आम लोग दिन में जागरित दिखाई देते है, पर वास्तव में वे जागरित है ही नही, सो ही रहे हैं। जागना तो उनका है, जो सतत वर्तमान में रहते हैं, भूत-भविष्यत् में चक्कर न लगाकर जो वर्तमान क्षण का लाभ उठाने वाले है। ऐसे जागरित मनुष्य सोते हुए भी जागरित ही रहते हैं। कबीर ने कहा है—

जागन से सोना भला, जो कोई जाणै सोय।
पल-पल लय लागी रहे, क्षण-क्षण सुमिरन होय॥

वास्तव में जागता कौन है ? इसी प्रश्न को छूते हुए हमने एक गीत लिखा है—

सोयेड़ो संसार इण मे जागै जको कुण है ?

जागै जको कुण है, त्यागै जको कुण है ?

संसार सो रहा है। एक व्यक्ति, एक समाज, एक गाँव, एक नगर या एक राष्ट्र ही नहीं, पूरा संसार ही सो रहा है। ऐसे निद्रामग्न संसार में जागने वाला कौन है ? जागने वाला कौन है और त्यागने वाला कौन है ? क्योंकि जागने के बिना त्यागना कैसे संभव है ? नींद में मूर्च्छा या बेहोशी होती है। वहां त्याग की बात सम्भव ही नहीं है। इसलिए जो जागने वाला है, वही त्यागने वाला है।

नीद में तो मीठा-मीठा सपना ही आवै।

अखियां नै खोल रस्तै लागै जको कुण है।

सोयेड़ो संसार इण मे जागै जको कुण है।

नींद में आदमी को बड़े मीठे-मीठे, सुनहले, मनोज्ञ स्वप्न आते हैं। अचिन्तित, अप्रत्याशित कल्पनाएँ साकार हो उठती हैं। स्वप्न मे प्राप्त वस्तुओं को देखकर आदमी निहाल हो उठता है, पर ज्यों ही आँख खुलती है, सारा खेल समाप्त हो जाता है। ऐसी प्रगाढ़ निद्रा का परित्याग कर जो आगे बढ़ता है, वही वास्तव में आगे का रास्ता तय करता है। स्वप्न में तय किया हुआ रास्ता कोई महत्व नहीं रखता। जागृति में चलना ही चलना है। मीठे स्वप्नों की बड़ी रोचक कहानी है—

एक राजा के कोई संतान न थी। राजा और रानी इस बात को लेकर सदा चिन्तातुर रहते थे। उन्होंने पुत्र-प्राप्ति के लिए अनेक औषधियों का सेवन किया, अनेक देवी-देवताओं की मनौतियाँ मानीं, पीरों, फकीरों और औलियों की दुआएँ प्राप्त की, तन्त्र-तावीज भी करवाये पर उनकी इच्छा पूरी नहीं हुई। राजा तो पुरुष होने के कारण इस व्यथा का इतना प्रदर्शन नहीं करता था, परन्तु रानी प्रतिक्षण इसी चिन्ता में घुली रहती थी। कोई भी स्त्री रानी से मिलती तो वह उससे पहला प्रश्न यही पूछती कि तुम्हारे सन्तानें कितनी हैं ? कितने बेटे है, कितनी बेटियां हैं ? उस बहन के बताने पर रानी कहती—बहन ! तुम भाग्यशालिनी हो, तुम्हारे आँगन में किलकारियाँ गूँजती हैं, हर समय चहल-पहल रहती है। मैं बड़ी अभागिन हूँ, दैव ने मुझे एक पुत्र भी नही दिया। इस प्रकार हर घड़ी वह अपने भाग्य को कोसती रहती थी। इस असह्य व्यथावश उसका मस्तिष्क अर्धविक्षिप्त-सा हो गया था।

एक दिन रानी ने सोचा—प्रकृति का खेल विचित्र है। शायद मेरे भी कोई बच्चा हो जाये। इसलिए भावी सन्तान के लिए कुछ आवश्यक सामान पहले से ही एकत्र कर लेना चाहिए, जिससे मेरे बालक को जन्मते ही किसी प्रकार की असुविधा का सामना न करना पड़े। इस विचार से रानी ने बालोचित सामग्री जुटानी प्रारम्भ कर दी। एक नवजात शिशु को पहनाये जाने वाले झुग्गों, टोपियो से लेकर जब वह ६—७ साल का हो जाये, तब तक पहनाये जाने वाले वस्त्र रानी ने तैयार करवा लिये। हर अवस्था के लिए, अलग-अलग ऋतुओं के अनुसार रेशमी, ऊनी तथा सूती वस्त्र अनेक रंगो व डिजायनों मे तैयार करवाये गये। छोटे-छोटे आभूषण, वर्तन, पालने, हथगाड़ी तथा अवस्यानुरूप खेलने योग्य खिलौने तक एकत्रित कर डाले। महँगे विदेशी खिलौने तथा मनोरजन सामग्री अलग इकट्ठी की गई, जो बच्चे को कुछ समझ आने पर खेलने को दी जा सके। इस प्रकार रानी ने अनेक बडी-बडी अल्मारियाँ होने वाले बच्चे के सामान से भर ली, जबकि बच्चा पैदा होने के अभी कोई आसार ही नजर नहीं आते थे। रानी हैरान थी कि सारे ही देव-देवियाँ सो रहे है, मेरी पुकार कोई सुनता ही नही।

एक बार की बात है, गर्मी का मौसम था। भोजन के बाद महारानी अपनी सखियों, दासियो आदि के बीच बैठी थी। बच्चों के विषय में बाते चल रही थी। बाते करते-करते ही महारानी की आँख लग गई। थोड़ी सी नीद में रानी स्वप्न देखने लगी।

रानी को सपना आया कि वह गर्भवती है, शीघ्र ही उसके बच्चा होने वाला है। हर्ष का पार नहीं है, आखिर दीर्घकालीन इच्छा पूर्ण जो होने जा रही है।

सातवां माह है, साध पुराई जा रही है, नगर में विशाल उत्सव मनाया जा रहा है, नागरिक भी परम आनन्दित है कि उनकी रानी के बाल-गोपाल होने वाला है। रानी स्वप्न देखती जा रही है। सवा नौ महीने हुए, बालक का जन्म हो गया। नगर में गाजे-बाजे हो रहे है, मंगल-गीत गाये जा रहे है, राजा ने दान के लिए भण्डार खोल दिये है। स्वप्न में ही बालक का नामकरण-संस्कार हो रहा है। वेदपाठी ब्राह्मणों ने हवन किया, मन्त्रोच्चारणपूर्वक बालक का नाम रखा—सुरजीतसिंह कुमार ! रानी आनन्द में झूम रही है। उस द्वारा एकत्रित किया हुआ सामान कुमार

के काम आ रहा है। सुन्दर रेशमी वस्त्रों में सज्जित बालक नाना प्रकार के खिलौनों के साथ खेल रहा है।

सपने की बात आगे बढ़ते क्या देर लगती है? देखते ही देखते बालक सुरजीतसिंह छह-सात साल का हो गया। रानी कहती है, अजी! एक है तो क्या, मैं पुत्र को लाड़-प्यार से अशिक्षित नहीं रखूँगी। बच्चे को राज-गुरु के यहाँ गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करने हेतु भेज दिया गया। कुमार की बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी, इसलिए थोड़े ही समय में वह अनेक विद्याओं तथा कलाओं में पारंगत बन गया। बच्चा तेरह वर्ष का हो गया। अब तो स्थान-स्थान से राज-कन्याओं के विवाह प्रस्ताव उनके अभिभावकों की ओर से आने लगे। महारानी कहती है. मुझे शिक्षित, सुन्दर, विनयवती और लज्जावती कन्या चाहिए। मेरे घर में एक ही बहू आयेगी, इसलिए जो सर्वगुणसम्पन्न राजकन्या होगी, उसी की सगाई सुरजीतसिंह से करूँगी। अनेक आग्रह भरे प्रस्ताव रानी ने ठुकरा दिए। आखिर एक सुयोग्य कन्या के साथ कुमार का सम्बन्ध तय हुआ।

स्वप्न आगे बढ़ा। शुभ लग्न में सुरजीतसिंह दूल्हा बनकर सुसज्जित हाथी पर सवार होकर बरात व गाजों-बाजों के साथ ससुराल की ओर रवाना हुआ। आज राजमाता के हृदय की खुशी का पार न था। बरात कन्या पक्ष के नगर में पहुँची। बहुत ठाट-बाट से शादी हुई। सुरजीतसिंह नव-वधू को लेकर लौट रहा था। महारानी झरोखे में खड़ी प्रतीक्षा कर रही है कि कब वह बहू-बेटे की जोडी निहारे? बस, इतने में ही बरात आ गई। कुंवर और कुंवरानी ने आकर एक साथ माँ के पैर छूए। हर्षा-वेश में डूबी रानी कभी बेटे को निहार रही है, कभी बहू को। बहू क्या, मानो गुलाब का फूल ही हो. सुकोमल, सुन्दर तथा सुगठित। रानी बेटे और बहू को थुथकारा डालती है कि कहीं मेरी नजर न लग जाए। इसके बाद बहू को थापी लगाकर आशीर्वाद देती है—"शीली होइजे, सपूती होइजे, म्हां सरखा बेटा जणजे।"

इस प्रकार रानी स्वप्न-लोक में विचरण कर रही थी। इधर रानी की आँख लगी तो सखियों ने बातचीत बन्द कर दी कि कहीं आवाज से रानी की नींद न टूट जाये। गर्मी की दुपहरी, हवा के झौंके लगे तो चुपचाप बैठी सखियों और दासियों को भी नींद के झौंके आने लगे। तभी कहीं से तीन-चार मक्खियों ने आकर महारानी पर हमला कर दिया और महा-रानी चौंककर उठ बैठी। सामने बेटे-बहू को न देखकर रानी ने चिल्लाना

शुरू कर दिया कि मेरा बेटा कहाँ है, वहू कहाँ है ? मेरा सुरजीतसिंह और बहूरानी कहाँ हैं ? सब सखियाँ, दासियाँ हडवडा उठी, क्या बात है ? महारानी ने कहा—अभी-अभी मेरा बेटा, वहू लेकर आया था, मेरे सामने खडा था. कहाँ गया ? सखियों ने मुस्कराते हुए कहा—महारानी ! आप भी कैसी पागलपन की बातें करती है। अभी तो बाल-गोपाल हुआ ही नही, वहू कहाँ से आ गई ? रानी ने कहा—नही, अभी प्रत्यक्ष मेरे सामने खड़े थे। दासियों ने कहा—स्वामिनी ! आप अभी नीद में थी, सपना आया होगा।

सपना तो सपना ही होता है। वह चाहे कितना ही मीठा क्यों न हो, उसमें वास्तविकता नही होती। इसीलिए कहा गया—

"नीद में तो मीठा-मीठा सपना ही आवै" किन्तु इस स्वप्न को तोड़ कर जो सन्मार्गगामी वन जाता है, वही साधक मंजिल को पा सकता है।

तृष्णा री वेड़ी उणस्यू जकड्या संसारी।
वेड़ी नै तोड़ दूरो भागै जको कुण है ?
सोयेड़ो संसार इण में जागै जको कुण है।

ससारी तृष्णा की वेडी से जकड़े हुए है। इस बेड़ी को तो तोड़ने वाला कोई-कोई ही होता है। तृष्णा की वेडी बड़ी विचित्र है। सस्कृत के एक कवि ने कहा है—

आशानम मनुष्याणां, काचिदाश्चर्यश्रृखला।
यया वद्धा प्रधावन्ति, मुक्ता तिष्ठन्ति पगुवत् ॥

आशा मनुष्यों के लिये एक आश्चर्यजनक साकल है, बेडी है। सामान्य वेडी से बँधा मनुष्य दौड़ नही पाता और इसीलिए बेड़ी डाली जाती है कि अपराधी दौड़ न जाय। इस आशा की बेड़ी का उल्टा क्रम है। इससे बँधा हुआ आदमी निरन्तर दौड़ता ही रहता है। जो इस बेड़ी से मुक्त हो जाता है, आशा-तृष्णा से ऊपर उठ जाता है, वह पंगु की तरह स्थिर हो जाता है, ठहर जाता है।

हम वड़े-वड़े धनिकों को देखते हैं। वे दौड़ते ही रहते है, एक महीना कलकत्ता, एक महीना बम्बई, एक महीना बैंगलोर और एक महीना दिल्ली।

न खाने-पीने का अवसर, न आराम से सोने का अवकाश, केवल भागना ही भागना। हमने एक ऐसे व्यक्ति से पूछा कि तुम हमेशा इस प्रकार चक्कर लगाते हो, तुम्हें इसका सुख क्या है? इस सम्पत्ति का आनन्द क्या है? वह बोला—क्या बतलाऊँ, मुनिश्री! सुख और आनन्द क्या है, यह तो स्वयं मेरे भी समझ में नही आता, पर आये हुए पैसे को कहाँ रखा जाये, कोई न कोई नया व्यवसाय खड़ा करना ही पड़ता है।

अमेरिका के एक धन-कुबेर से एक पत्रकार ने पूछा कि आपके पास अपार सम्पत्ति है, भारी उद्योग आपके हाथ में है, हजारों आदमी आपके नीचे काम करते है, आपको तो अनुपम सुख का अनुभव होता होगा। आप कैसा अनुभव करते हैं?

उस अति धनाढ्य व्यक्ति ने कहा कि मैं आपको रहने को मकान दूँगा, अच्छे भोजन का प्रबन्ध होगा तथा वस्त्रादि भी मेरे यहाँ से मिलेगे। आप कुछ दिनों के लिए मेरा सारा व्यापार सम्हाल लें। पत्रकार ने कहा—क्यों? केवल रोटी और कपड़ों में मैं इतना बड़ा कारोबार सम्हालू, इतना बड़ा सिरदर्द मोल लू, इतना नादान तो मैं नही हूँ। धन कुबेर ने कहा—भाई साहब! रोटी, कपड़ों से अधिक मैं क्या लेता हूँ? दो-तीन समय का खाना, कुछ वस्त्र और सोने के लिए एक पलंग—बस इतना ही तो मेरे काम आता है। सुख-आनन्द क्या है, आप ही समझ लें।

तृष्णातुर जनों की स्थिति बड़ी विचित्र होती है। वे चैन से बैठ तक नहीं सकते। जो आशा के बन्धनों से मुक्त हैं, वही वास्तव में सुखी है। तृष्णा कभी पूरी नही होती। एक वस्तु मिलने पर दूसरी की कामना जाग उठती है। इसलिए जो सन्तोषी होता है—प्राप्त वस्तु में शान्ति का अनुभव करता है, वही सुखी होता है। कबीर साहब ने कहा—

साईं इतना दीजिए, जा में कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

पूज्य गुरुदेव फरमाया करते थे—

तन की तृष्णा तनिक है, तीन पाव के सेर।
मन की तृष्णा अनन्त है, गले मेर के मेर॥

गोस्वामी जी ने भी कहा—

राज करंते सेर भर, भीख मंगंते सेर।
'तुलसी' राम प्रताप से, कहीं सेर में फेर॥

चाहे राजा हो या भिखारी, राजा भी सेर से अधिक कितना खायेगा और सेर अन्न से भीख मांगने वाले का पेट भी भर जायेगा। पर तृष्णा की सीमा नही है। इसलिए कहा गया कि तृष्णा की बेडी से ससारी जीव जकड़ा हुआ है। वह ज्ञानी धन्य है, जो इस बेड़ी को तोड़कर अपने आप को वायुवत् अप्रतिवद्ध वना ले।

क्रोध है खूखार डाकू, सघलां ने लूटे।
क्षमा री बन्दूक उण पर दागे जको कुण है॥
सोयेड़ो ससार इण में जागे जको कुण है॥

क्रोध एक खूंख्वार डाकू है तथा विना भेद-भाव के सभी को लूटता रहता है। इस पर क्षमारूपी वन्दूक दागने वाला कौन है ?

क्रोध वास्तव में दैत्य की ज्यो भयानक है। वह इतना खूख्वार है कि उस पर विजय पाना अत्यन्त कठिन है। वह छोटे-बड़े, सबल-दुर्बल सभी को सताता रहता है। उस पर क्षमा की बन्दूक ही काम देती है। क्रोध एक प्रकार की आग है। उसे क्षमा का पानी ही शांत कर सकता है। आम लोगो का चिन्तन इससे विपरीत होता है। वे सोचते है कि हमें तो सेर पर सवा सेर वनना है। ईंट का जवाब पत्थर से देना है, पर वास्तव में यह प्रक्रिया सही नही है। यह तो आग में ईंधन डालने का काम है। यदि कोई आग बुझाने के लिए पानी डालने के बजाय किरोसिन का डिब्बा उस पर उँड़ेल दे तो आग बुझेगी कैसे ? वह तो और जोर से भड़केगी। भयकर रूप ले लेगी। आग को बुझाने में तो जल ही समर्थ हो सकता है। उत्तराध्ययन सूत्र की टीका में एक सुन्दर रूपक आता है।

कहते है, एक वार कुछ घोडों के सौदागर द्वारिका आये। उनके पास कई प्रकार के ऊँची नस्लों के घोड़े थे। सौदागरों ने श्रीकृष्ण महाराज की सभा में उपस्थित होकर घोडों की खरीद-फरोख्त की बात की, मोल-तोल किया। उस युग में राजाओं की चतुरगिणी सेना में घोड़ों का विशेष महत्व होता था तथा घुडसवारी भी विकसित कला के रूप में प्रचलित थी। कृष्ण महाराज ने कहा—हम पहले घाड़ों की चाल ढाल देखेंगे, बाद में खरीदेंगे। वात तय हुई। कृष्ण महाराज, ज्येष्ठ भ्राता श्री वलराम,

सात्यकि तथा सारथी दारुक—घोड़ों की परीक्षा के लिएसन्ध्या के समय चार घोड़ों पर सवार होकर निकल पड़े। घोड़े बहुत तेजस्वी एवं पवन वेग से चलने वाले थे। एड़ लगाते ही अश्व इतनी तेजी से दौड़े कि चारों को घने जंगल में ले गए। कई योजन मार्ग उन्होंने पार कर दिया। काफी अँधेरा घिर आया, जिससे बने जगल की भयंकरता और बढ गई। कृष्ण महाराज ने कहा—अब वापस न लौटकर रात भर यही विश्राम करना ठीक रहेगा, क्योंकि हम भी थक गये है, घोड़े भी थक गए हैं। आज रात जगल की हवायें ही खायें।

अच्छा स्वच्छ स्थान देखकर विश्राम के लिए वे ठहर गए। घोड़ों को एक तरफ बाँध दिया। चारों ही व्यक्ति थके हुए थे, इसलिए आराम से लेटने का इन्तजाम किया। श्रीकृष्ण महाराज ने कहा—यह जंगल बहुत भयंकर है। सिंह, बाघ, चीते आदि हिंसक जानवर यहाँ घूम रहे है। हम चार व्यक्ति हैं तथा रात के चार प्रहर हैं, यदि एक-एक व्यक्ति एक-एक प्रहर जागकर पहरा दे तो अन्य तीन आराम से सो सकेगे। व्यवस्था हुई कि प्रथम प्रहर में दारुक जागेगा, दूसरे प्रहर में सात्यकि पहरा देगा, तीसरे प्रहर में भाई बलराम तथा चौथे प्रहर में स्वयं जनार्दन।

श्रीकृष्ण के जीवन का उच्च आदर्श इसमें झलकता है कि द्वारकाधीश होते हुए भी साथियों के साथ कार्य-विभाजन में स्वय को अछूता नहीं रखा, समानता के आदर्श का अनुसरण किया। बड़ों का बड़प्पन ऐसी बातों से ही प्रतिध्वनित होता है।

व्यवस्था के अनुसार तीनों लेट गए तथा दारुक हाथ में शस्त्र लेकर सजगता से पहरा देने लगा। गहरी थकान एव जंगल की शुद्ध शीतल हवा के कारण शीघ्र ही तीनों को नीद आ गई। इतने में एक भयानक दैत्य वहाँ प्रकट हुआ। आँखे अँगारो की ज्यो लाल हो रही थी, होठ आवेश से फड़फड़ा रहे थे, ललाट पर त्रिवलि पड़ी थी। दारुक को ललकारते हुए दैत्य ने कहा—हट जा यहाँ से। तू मेरे सामने टिक नही सकता। मैं क्रोध नाम का दानव हूँ, मुझे कौन जीत सकता है ? घर-घर में मेरी विजय-पताका फहरा रही है, घट-घट में मेरा निवास है। आज मैं तेरे से लड़ने आया हूँ। या तो तू हार मानले या फिर मेरे साथ सग्राम कर। दारुक भी निर्बल-हृदय का नहीं था, वह भी श्रीकृष्ण का अनन्य सहयोगी था तथा उसे अपने बाहुबल पर भरोसा था। वह दैत्य की चुनौती स्वीकार करता हुआ उसके साथ भिड़ गया। ज्यों-ज्यों दारुक को तीव्र क्रोध आता गया, त्यों-त्यों दैत्य की शक्ति बढ़ती गई और दारुक की शक्ति क्षीण होती गई।

वह समझ नही पा रहा था कि यह क्या हो रहा है। आखिर लडते-लडते दारुक इतना दुर्बल हो गया कि मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। विजयी दैत्य वहाँ से चला गया।

प्रहर पूरा हुआ, सात्यकि उठा। देखा, दारुक बेहोश पड़ा था। सात्यकि ने सोचा, शायद थके हुए दारुक को नीद आ गई है। वह जागरुकता से पहरा लगाने लगा। इतने में वही दैत्य विकराल रूप धारण कर उसके सामने आ खड़ा हुआ। बोला—मैं क्रोध नाम का दानव हूँ। तुम मेरे साथ सग्राम कर विजय प्राप्त करो अन्यथा पराजय स्वीकार कर लो। सात्यकि भी उसे समझ नही पाया और युद्ध के लिए तैयार हो गया। दोनों गुत्थमगुत्था हो गये। ज्यो-ज्यों सात्यकि को क्रोध आता गया, त्यों-त्यों दैत्य शक्तिशाली बनता गया। आखिर दारुक की तरह सात्यकि भी बेहोश होकर गिर पडा। दैत्य विजयी बनकर चला गया।

तीसरे प्रहर भाई बलदेव की बारी आई। वे उठे तो देखा, सात्यकि और दारुक चित्त लेटे है, सोचा, थके हुए थे, नीद आ गई होगी। वे चौकसी के लिए इधर-उधर टहलने लगे। इतने में ही वह दैत्य सामने आ डटा, व्यंग्यपूर्वक बोला—आप श्रीकृष्ण महाराज के ज्येष्ठ भ्राता है, बलदेव हैं, भारी योद्धा हैं, यदि मेरे ऊपर विजय प्राप्त कर सकें तो आप वास्तव में विजयी सिद्ध होंगे। इस प्रकार भीषण वाक्प्रहार करते हुए उसने बलदेव को ललकारा। बलदेव भी इस दैत्य की वास्तविकता को नहीं भाँप सके और एकदम उत्तेजित होकर द्वन्द्वयुद्ध मे उतर गये। आखिर वे भी पूर्व योद्धाओ की तरह मार खा गए और मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

रात्रि का चौथा प्रहर आया। श्रीकृष्ण उठे। दैत्य भयंकर अट्टहास करता हुआ उनके सामने आ खडा हुआ। वह बड़े गर्व से कहने लगा—वासुदेव! आप बड़े पराक्रमी है, तीन सौ साठ सग्रामों के विजेता है, युद्धशूर हैं, पर यदि मुझ पर विजय प्राप्त करे तो मै आपको शूर-वीर मानूँ। श्री हरि ने धैर्यपूर्वक पूछा—तू कौन है ? उसने कहा—मै क्रोध नाम का दैत्य हूँ। घट-घट मे मेरा निवास है। सारा संसार मेरे सामने नतमस्तक हो जाता है। मैंने महारथियों को, दिग्गजों को पराजित किया है। आपके इन तीनों साथियों पर भी मैं विजय प्राप्त कर चुका हूँ। अब मैं आपको जीतने के लिए यहाँ आया हूँ। आप शस्त्र उठाइए और मेरे साथ युद्ध कीजिए। योगेश्वर कृष्ण उस क्रोध दैत्य की वास्तविकता ताड़ गये। उन्होने सोचा, यह दानव तो स्वयं क्रोध है। यदि मेरे भीतर क्रोध उत्पन्न हो गया तो

इसकी शक्ति बढ जायेगी। शत्रु को उसका भाई मिल जाए तो उसकी शक्ति द्विगुणित हो जाती है। इस पर विजय पाने के लिए क्रोध नहीं, क्षमा चाहिए, तितिक्षा चाहिए, सहिष्णुता चाहिए। तभी यह दुर्बल होगा अन्यथा तो यह मुझ पर हावी हो जायेगा।

ऐसा सोचकर वासुदेव मुस्कराने लगे। शान्ति के साथ कहा—दैत्य भाई ! तुम तो बड़े बलशाली हो, पराक्रमी हो, घर-घर में फूट डालने वाले तुम ही हो, पति-पत्नी के बीच दरार डालने में तुम ही समर्थ हो, गुरु-शिष्यों को तुम ही परस्पर भिड़ा देते हो। तुम पर विजय प्राप्त करना कोई सामान्य बात नहीं है। लो, हम तो तुम्हारे सामने पहले ही हार मान लेते हैं, हमें तुम्हारे साथ संघर्ष नहीं छेड़ना है।

श्रीकृष्ण की सहिष्णुता से क्रोध की शक्ति क्षीण होने लगी। वह बार बार उनको उत्तेजित करने का प्रयत्न करता, किन्तु वे उत्तेजित नही होते। शान्तिपूर्ण उत्तर देते। इस प्रकार क्षमा के प्रयोग के कारण दैत्य निःसत्त्व होने लगा। आखिर वह मूर्च्छित होकर धराशायी हो गया।

सूर्य उदित हुआ। वासुदेव ने क्षत-विक्षत पड़े तीनों साथियों को सहलाया, जगाया। कुछ उपचार से वे होश में आए। जागरित होकर अपनी स्थिति बतलाते हुए उन्होंने कहा—माधव ! रात तो क्रोध दानव ने हम लोगों को वड़ा परेशान किया। भारी संघर्ष के बावजूद हम उस पर विजय नहीं पा सके। वासुदेव ने कहा—देखो, सामने वह दानव मूर्च्छित पड़ा है। तीनों के आश्चर्य का पार नहीं रहा। उन्होने पूछा—आपने इस दुष्ट पर कैसे विजय प्राप्त की ? कौन सा शस्त्र इस पर प्रयुक्त किया ? श्रीकृष्ण ने उपदेश की भाषा में कहा—

क्रोध से क्रोध दानव को, दबाया जा नहीं सकता।
बिना उपशान्त वृत्ति के, हटाया जा नहीं सकता ॥
क्रोध को मारना गर हो, तो क्षमा खड्ग लो कर में।
बिना घनघोर दावानल, बुझाया जा नहीं सकता ॥

वास्तविकता यह है कि क्रोध दैत्य सामने था और वही दैत्य आपके घट में भी आ बैठा तो वह दुगुना शक्तिशाली बन गया। आपके क्रोध ने उसको विशेष शक्ति प्रदान की। वह क्षीण-बल कैसे होता ? उसको भाई का सहारा मिल गया। समानधर्मा वस्तुएँ साथ मिलेंगी तो उनका बल

बढेगा। कोई विधर्मी वस्तु ही उसे क्षीण-बल कर पाएगी। अग्नि में घृत-तेल आदि डालने पर वह और भडकेगी। उसे बुझाने में तो जल ही समर्थ होगा। इसी प्रकार क्षमा के द्वारा, शान्ति के द्वारा ही क्रोध पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसीलिए कहा गया—

क्रोध है खूंखार डाकू सघलां नै लूटै।
क्षमा री वन्दूक उण पर दागै जको कुण है॥

क्षमा के विषय में ज्ञातासूत्र में एक द्वीप का उदाहरण देकर उसके चार भेद किए गए है, जैसे–

द्वीप पर कुछ ऐसे वृक्ष होते है, जो अपने द्वीप की हवा को तो सहन कर लेते है, लेकिन समुद्री तूफानों की हवा को सहन नही कर पाते। कुछ वृक्ष ऐसे होते हैं, जो समुद्री तूफानों को तो सह लेते है, पर अपने द्वीप की हवा को नही सहते। कुछ वृक्ष ऐसे होते है, जो द्वीप की हवाओं को भी सह लेते हैं और समुद्री हवाओं को भी सह लेते है। कुछ वृक्ष ऐसे होते है, जो द्वीप की हवा भी नही सह सकते और समुद्री हवा भी नही सह पाते। इस चौभंगी को साधकों पर उतारते हुए आगमकार कहते है—कुछ साधक ऐसे होते है, जो स्वपक्ष द्वारा कृत निन्दा-आलोचना तो सह लेते है पर परपक्ष को नही सह सकते। कुछ साधक परपक्ष द्वारा की गई निन्दा-आलोचना सह लेते है पर स्वपक्ष की नही सह सकते। कुछ साधक स्वपक्ष की भी सहते है, परपक्ष की भी। कुछ साधक ऐसे होते है जो न स्वपक्ष की सह पाते है और न परपक्ष की।

इसी का विवेचन करते हुए आगे कहा गया है कि जो साधक स्व-पक्ष की सह लेता है, परपक्ष की नही सहता, वह "देश-विराधक" होता है। यानी उसकी आराधना अधिक है, विराधना कम। जो स्वपक्ष द्वारा कृत निन्दा नही सहता, परपक्ष की सह लेता है, वह "देश-आराधक" होता है यानी उसकी आराधना कम होती है, विराधना अधिक। स्वपक्ष और परपक्ष—दोनों की सहने वाला सर्व आराधक—सम्पूर्ण आराधना करने वाला होता है, लेकिन जो दोनों ही पक्षों की आलोचना नही सहता, वह सर्वविराधक होता है। वह आराधना से सर्वथा विमुख बन जाता है।

तात्पर्य यह है कि परपक्ष द्वारा की गई आलोचना, आक्षेप-प्रक्षेप सहन करना सरल है, पर स्वपक्ष का वही व्यवहार असह्य हो जाता है।

गाँव वालों द्वारा की गई आलोचना सहन हो जाती है, पर घरवालों द्वारा की गई आलोचना सहन करना अत्यन्त कठिन है। साधक यहीं परीक्षा की कसौटी पर आता है। अपने समीप रहने वाले, साथ जुड़े हुए सहगामी भी यदि कोई निन्द्य, आलोच्य बात कहें, वह समता के साथ उसे सह ले, सहज भाव से उसे भुला दे, यह बहुत ऊँची साधना है, क्षमाशीलता की उत्कृष्ट स्थिति है।

महाराष्ट्र में सन्त तुकाराम हुए हैं। लोग आज भी उन्हें बहुत श्रद्धा एवं गौरव से स्मरण करते हैं। उनकी पत्नी बड़ी झगड़ालू, कर्कशा और कटुभाषिणी थी। जब तक सन्त घर मे रहते, वह कुछ न कुछ बकती रहती, आग उगलती रहती, पर सन्त तुकाराम कभी उत्तेजित नहीं होते, प्रत्युत उसकी बात को हँसकर टाल देते।

एक बार सन्त तुकाराम ने गन्नों की खेती की। गन्ने की फसल पूरे वर्ष में एक ही होती है। उसमें खूब पानी डालना पड़ता है। बहुत मेहनत करने के बाद कहीं फसल हाथ लगती है। फसल पककर तैयार हो गई। तुकाराम खेत पर गए हुए थे। आते समय गन्नों का एक गट्ठर सिर पर रखकर ले आए। रास्ते में जो भी मिलता, पूछता—तुकाराम महाराज ! आज क्या लाए हो ?

सन्त शरीर से लौकिक काम में संलग्न थे, पर मन तो उनका प्रभु में ही लगा हुआ था। वे बड़ी सहजता से जबाब देते—भाई गन्ने का "भारा" लाया हूँ। अच्छा, तो सन्त महाराज ! एक गन्ना हमें भी दो। बच्चे पीछे पड़ जाते। सीधे सन्त कहते—हाँ भाई ! तू भी उसी प्रभु का रूप है, तेरे घट में भी वही विराजमान है। ऐसे कहकर भारे में से एक गन्ना निकालकर बड़े प्रेम से उसे दे देते। फिर क्या था ? माँगने वालो की भीड़ सी लग गई। लोग माँगते गए और वे सबको प्रभु-स्वरूप मानकर गन्ने देते गए। जब तक घर पहुँचे, सारा भारा बँट चुका था, सिर्फ एक गन्ना सन्त के हाथ में बचा था।

घर पहुँचते ही घरवाली चण्डिका ने गरजकर पूछा—इतनी देर कहां गए थे ? तुकाराम ने कहा—खेत पर चला गया था। स्त्री ने उत्तेजित होकर कहा—खेत गए थे। क्या लाए वहाँ से ? शान्ति से तुकाराम बोले—गन्ने का भारा लाया था। सन्त के हाथ में सिर्फ एक गन्ना देखकर स्त्री ने पूछा—भारा कहाँ है ? तुकाराम ने सहज भाव से कहा—भारा तो मार्ग में प्रभु-भक्तों में वितरित हो गया। वे माँगते गए, मैं देता गया।

इतना सुनते ही तो स्त्री ने बड़ा रौद्र रूप धारण कर लिया। बुरी तरह बकने लगी कि तुम भी कोई आदमी हो ? तुम्हारी मति मारी गई है। घर में तो सब भूखे बैठे हैं, खाने को कुछ नही और तुम्हें सब जगह प्रभु ही प्रभु दिखाई देता है। वेसमझ कही के ! क्रोधावेश में उसने वह गन्ना उठाकर तुकाराम के सिर पर दे मारा। जोर के आघात से गन्ना बीचोबीच टूट गया। दो टुकड़े हो गए। मेरु की तरह अकम्प तुकाराम ने हँसते हुए कहा—देवी ! तुमने बहुत अच्छा किया, गन्ने के दो बराबर हिस्से कर डाले, लो एक तुम चूस लो, एक मैं चूस लेता हूँ। गन्ने का रस चूसने से तुम्हारा दिमाग भी कुछ ठण्डा हो जायेगा।

यह है क्षमा की पराकाष्ठा ! आदमी बाहर सौ बातें सुन लेता है, पर घरवाली यदि एक शब्द भी प्रतिकूल कह दे तो वातावरण क्षुब्ध हो जाता है। छोटी सी बात का बतगड बन जाता है, झगड़े पैदा हो जाते है। तुकाराम तो उलटा यह कहते कि मेरे पर प्रभु की असीम कृपा है कि मुझे ऐसी पत्नी दी, जो प्रतिदिन मुझे क्षमा का बोध-पाठ देती है। मेरी सहिष्णुता का कसौटी-परीक्षण होता रहता है।

यह होता है साधक का चिंतन। वही साधक वास्तव में साधना-क्षेत्र में सफल हो सकता है, जो क्रोध-रूप डाकू को क्षमा-रूप शस्त्र से पराजित कर देता है। गीत में आगे कहा गया है—

काम-वासना रै आगै बड़ा बड़ा हार्‌या।

काम नै पछाड़ आवै आगै जको कुण है ?

सोयेड़ो संसार इण मे जागै जको कुण है ?

बड़े-बड़े वीर, ज्ञानी, समझदार भी काम-वासना के आगे घुटने टेक देते हैं। यह अन्दर ही अन्दर सुलगने वाली आग है, जिसे समझना बहुत आवश्यक है। इस काम शत्रु को पछाडकर आगे आने वाला कौन है ?

पुराणो में वर्णन आता है कि ऋषि गौतम की पत्नी अहिल्या पर मोहित होकर स्वय देवराज इन्द्र ने माया द्वारा गौतम का रूप बनाकर उसके साथ वासना-पूर्ति की। इस विषय को परिगृहीत कर भर्तृहरि ने तीखा व्यंग करते हुए लिखा है—

किमु कुवलयनेत्राः सन्ति नो नाकनार्य-
स्त्रिदशपतिरहल्यां तापसीं यत् सिषेवे।
हृदय-तृण-कुटीरे दीप्यमाने स्मराग्नौ,
उचितमनुचितं वा वेत्ति कः पंडितोऽपि ॥

क्या कमल के सदृश विकसित नेत्र युक्त सुन्दर देवांगनायें, अप्सरायें नहीं थीं, जो त्रिदशपति—इन्द्र ने गौतम की तपस्विनी स्त्री अहिल्या का सेवन किया ? वस्तुस्थिति यह है, हृदय रूपी तृण-कुटीर में—घास की झौंपडी में जब कामाग्नि प्रज्वलित हो उठती है, तो पण्डित भी उचित-अनुचित का विवेक नही रख पाता।

इसी तरह "वैराग्यशतक" में एक बड़ा मार्मिक श्लोक आता है। एक कुत्ता कुतिया के पीछे दौड़ रहा है। उस कुत्ते की कैसी हालत है, शरीर की कैसी स्थिति है, इसका वर्णन करते हुए लिखा गया है—

कृशः काणः खंजः, श्रवणरहितः पुच्छविकलो,
व्रणी पूयक्लिन्नः, कृमिकुलशतैरावृततनुः।
क्षुधाक्षामो जीर्णः, पिठरककपालार्पितगलः,
शुनीमन्वेति श्वाहतमपि निहन्त्येष मदनः ॥

अर्थात् शरीर से कृश—दुर्वल, एक आँख से काना, पैर से लँगड़ा, कनकटा—जिसके कान सड़-सड़ कर गिर गये हैं, पूँछ रहित, देह पर जगह जगह घावयुक्त, टपकते मवाद के कारण आर्द्र, घावों पर किलबिलाते सैकड़ों कीड़ों से आवृत, आकुल, भूख से पीड़ित, जरा-जर्जरित, गले में फँसा हांडी का गलवा लिये—ऐसा दीन, हीन, क्षीण कुत्ता कामान्ध बना कुतिया के पीछे-पीछे भागा जा रहा है। कैसा है यह निर्घृण, नृशंस काम, जो मरे हुए को भी मारता है।

गीता में कहा गया—

जहि शत्रुं महाबाहो! कामरूपं दुरासदम्।

हे महाबाहु अर्जुन! तू इस काम-रूप शत्रु का नाश कर। यह शत्रु बड़ा दुरासद है, दुर्दम है। इसको मारना सहज नहीं है। इसके आगे बड़े-

वड़े वीर हार मान चुके हैं। राजा रावण जैसे महाबली भी इसके आगे परास्त हो गए। लोगो ने कहा—राम ने रावण को मार दिया, तभी मृत्यु-शय्या पर पड़े रावण ने कहा—यह मिथ्या है, असत्य है। राम ने रावण को नहीं मारा, "काम" ने रावण को मार दिया है। वास्तविकता भी यही है, यदि रावण सीता का हरण नही करता तो रावण को मारने वाला कौन था ? उसकी वासना ही उसकी मृत्यु का हेतु बनी। इस दुर्धर्ष काम को ध्वस्त कर आगे जाने वाले विरले ही वीर होते है। भर्तृहरि कहते है—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूरा,
केचित् प्रमत्तमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि वलिनां पुरतः प्रसह्य,
कन्दर्प-दर्प-दलने विरला मनुष्याः॥

इस जगत् में ऐसे भी अनेक प्रवल योद्धा है, जो मदोन्मत्त हाथियों के मस्तक चीर डालने में भी समर्थ हैं। ऐसे भी है, जो शक्ति और शौर्य के उन्माद से पागल सिंहों को भी मौत के घाट उतार सकते है। किन्तु मैं वलवानों, अति सामर्थ्यशील पुरुषों को चुनौती के स्वर में कहता हूँ कि काम के दर्प-दलन में—कामदेव के अहंकार को खण्डित करने में समर्थ—सक्षम काम-विजेता पुरुष जगत् में विरले ही हैं, नगण्य है, बहुत कम है।

भगवान महावीर ने कहा—

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जये जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥

दस लाख योद्धाओं पर विजय प्राप्त करने वाला, वासुदेव जैसा वीर कोई मिल सकता है, पर अपने आप पर—अपने मन पर विजय पाने वाला कोई-कोई ही परम वीर होता है। वास्तव में उसकी विजय ही महान् विजय है, जो अपनी आत्मा को जीत लेता है। वही उत्कृष्ट विजेता है, जो अपने मन और इन्द्रियों को शासित करता है। गीत का अन्तिम पद है—

वड़ वीर "चन्दन" वो ही सत्य जो पिछाणै।
अनादि अनन्त म्हारै सागै जको कुण है ?
सोयेड़ो संसार इण में जागै जको कुण है ?

वास्तव में वही प्रशंसा योग्य है. जो सत्य को पहचानता है। सत्य क्या है ? इसको पहचानना बहुत कठिन है। प्रत्यक्ष वस्तु को भी व्यक्ति पकड़ नहीं पाता। क्या कोई सोचता है कि "अनादि-अनन्त म्हारे सागै जको कुण है ? अनादि-अनन्त काल से जो हमारे साथ है, वह कौन है ? हम सबको जानते हैं लेकिन अपने अन्त.स्थित प्रभु को नहीं जानते। यही हमारी भयंकर भूल हो रही है। हमारा जानना भी एक प्रकार से अज्ञान रूप ही है क्योंकि जिसे जानना चाहिए, उसे हम जानते नहीं हैं। हम हर समय बाहर-बाहर की चीजे जानने को उत्सुक रहते है बाहर की चीजों को पाने के लिए लालायित भी रहते हैं पर "स्व" पर, उस अनादि-अनन्त विभु पर हमारी दृष्टि नहीं टिकती। एक क्षण के लिए भी हम अन्तर्मुख बन जाएँ तो उस परम प्रभु के दर्शन हो सकते है एक शायर ने कहा—

दिल के आइने में है तस्वीरे यार,
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।

प्रभु की तसवीर हृदय में विद्यमान है पर जिसका सिर ऊँचा है, दृष्टि बाहर की ओर लगी है यह भीतर नही झांक सकता। प्रभुदर्शन के लिए तो गर्दन झुकाकर झांकना होगा, यानी अहंकार का विसर्जन करके ही परम प्रभु को देखा जा सकता है। जब तक गर्दन अहंकार से अकड़ी रहेगी, तब तक कुछ भी प्राप्त होने का नहीं। प्राप्ति के लिए तो अन्तर्मुख बनना होगा, झुकना होगा। आ. हेमचंद्र लिखते हैं—

बाल्ये मातृमुखो जातः, तारुण्ये तरुणीमुखः।
पुत्र-पौत्रमुखोवार्ध्ये, मूर्खे नान्तर्मुखोऽभवत्॥

बाल्यकाल में बच्चा मातृमुख होता है। वह प्रत्येक क्रिया में मां की ओर देखता-दौड़ता है। युवावस्था आते ही वह "तरुणीमुख" बन जाता है। स्त्री के पीछे-पीछे फिरता रहता है और वृद्धावस्था में "पुत्र-पौत्रमुख" हो जाता है यानी बेटों-पोतों के मोह में फँसा रहता है। वह मूर्ख अज्ञानी प्राणी जीवन में कभी अन्तर्मुख नहीं बनता। अपने भीतर की ओर झाकने का प्रयत्न ही नही करता है।

सन्त कहते हैं, हमें अन्तर्मुख बनने का प्रयास करना चाहिए, तभी उस परम सत्य का साक्षात्कार समभव होगा।



२२

जीवन में शांति न जो लाता,
वह धर्म नही बस धोखा है ।।
जीवन में क्रांति न जो लाता,
वह धर्म नही वस धोखा है ।।ध्रुव।।

मंजिल की आशा से राही, पथ पर जब दौड़ा जाता है।
जो मार्ग न मंजिल को पाता, वह मार्ग नही बस धोखा है ।।१।।

लाखों की पूँजी लगा करके, है कारोबार किया भारी।
जो मूल रकम को खा जाता, व्यापार नही वह धोखा है ।।२।।

औषध खाने का लाभ तभी, जो हृष्ट-पुष्ट तन बनता हो।
जो दिन-दिन तन छीजा जाता, वह दवा नही बस धोखा है ।।३।।

बैठे हो खाना खाने को, भोजन भी नानाविध आए।
जो क्षुधा शांत नही कर पाता, वह भोजन नही बस धोखा है।।४।।

'चन्दन' है सन्त वही सच्चा, जो निःस्पृह जन कल्याण करे।
जो माया में फँसता जाता, वह सन्त नहीं बस धोखा है ।।५।।

तर्ज—जिसके दिल में हरि नाम बसे।

२२.

जीवन में शान्ति न जो लाता....

जीवन में शान्ति न जो लाता, वह धर्म नहीं बस धोखा है।
जीवन में क्रांति न जो लाता, वह धर्म नहीं बस धोखा है ॥

धर्म के दो परिणाम जीवन में आते हैं—शान्ति और क्रान्ति। धार्मिक का जीवन सहज शांत बन जाता है। वह किसी भी परिस्थिति में उद्वेलित, विचलित नहीं होता। प्रतिकूल स्थिति में भी अपना सन्तुलन नही खोता। भगवान् महावीर ने कहा है—

जे य बुद्धा अइक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगइ जहा ॥

जितने बुद्ध (तीर्थंकर) अतीत काल में हुए हैं, जितने तीर्थंकर भविष्य में होंगे, सभी का प्रतिष्ठान—आधारभूमि शांति ही है, जैसे भूतों का आधार पृथ्वी है।

धर्म द्वारा प्राप्तव्य क्या है? शान्ति! आत्म-शान्ति! भौतिक वस्तुओं द्वारा प्राप्त शांति वास्तविक शान्ति नही है। वह अन्य अनेक अशांतियों को जन्म देती है, यह सिद्ध है। कामनापूर्ति से कामनाएँ कभी प्रशांत नहीं होतीं। कहा भी है—

न जातुः कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्धते ॥

जिस प्रकार अग्नि घृत से बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार कामों के उपभोग से और अभिनव कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, बढ़ती जाती हैं। वहाँ वास्तविक शांति कैसे प्राप्त हो सकती है? शांति तो निःस्पृह व्यक्ति को

ही प्राप्त होती है। उस निःस्पृह वृत्ति का जागरित होना ही धर्म का परम फल है।

दूसरा प्राप्तव्य है क्रान्ति ! क्रान्ति से तात्पर्य है परिवर्तन (Revolution)। धार्मिक के जीवन में परिवर्तन आना अत्यन्त अपेक्षित है। जैसा पहले जीवन था, उसमें बदलाव आना ही चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि वृत्तियाँ जैसी पहले थी, वैसो ही यदि अब भी है, पहले से प्रबल होती जा रही हैं तो धर्म के आचरण का क्या प्रभाव हुआ ? वर्षों से की जा रही धार्मिक क्रियाओं का परिणाम जीवन के परिवर्तन में ही परिलक्षित होता है। यदि धर्म शान्ति और क्रान्ति दोनों ही उत्पन्न करने मे सक्षम नही होता तो वह वस्तुतः धर्म नही, धोखा है। हम धर्म के नाम पर धोखा ही खा रहे हैं।

मंजिल की आशा से राही, पथ पर जब दौड़ा जाता है।
जो मार्ग न मंजिल को पाता, वह मार्ग नहीं बस धोखा है।
जीवन में शांति न.........॥

राहगीर जब चलता है, किसी मजिल का लक्ष्य लेकर रवाना होता है। निरन्तर चलने के बाद भी यदि मंजिल प्राप्त न हो, जहाँ से चला था, वही वापस पहुँच जाए तो वह मार्ग सही नही है—धोखा ही हुआ है।

एक बार कुछ यात्री मनाली जाने के लिए कार से रवाना हुए। पूरे दिन कार दौडती रही और शाम को वहीं पहुँच गए, जिस स्थान से रवाना हुए थे। पूछताछ करने पर पता चला कि जिस सड़क से वे रवाना हुए थे, वह तो उसी शहर का चक्कर लगाकर आ गई, मनाली की सड़क उन्होंने पकड़ी ही नहीं। उनका दौड़ना व्यर्थ गया, सारा परिश्रम बेकार गया। धर्म भी एक मार्ग है। कहा गया है—

सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।

—तत्त्वार्थ सूत्र १/१

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का सम्मिलित रूप ही मोक्ष मार्ग है। यहाँ "सम्यक्" शब्द एक गहरा आशय लिये हुए है। दर्शन, दर्शन नहीं है, सम्यग्-दर्शन, दर्शन है। ज्ञान, ज्ञान नही है, सम्यग्-ज्ञान ज्ञान है। चारित्र, चारित्र नही है, सम्यक्-चारित्र चारित्र है। यदि ये सम्यक् नही, तो हमें सही मोक्षमार्ग मिला ही नही है। अज्ञानियों के

यही भूल होती है। सम्यक् तत्त्व के अवबोध के बिना ज्ञान, क्रिया का अभ्यास करते हुए भी वे सही परिणाम नहीं ला सकते, अत: वह मार्ग धोखा देने वाला सिद्ध होता है।

लाखों की पूँजी लगाकर के, है कारोबार किया भारी।
जो मूल रकम को खा जाता, व्यापार नहीं वह धोखा है ॥
जीवन में शान्ति······ ॥

कोई व्यक्ति विशिष्ट लाभ हेतु, विपुल अर्थार्जन हेतु व्यापार करने की सोचता है। अपनी पूर्व-अर्जित लाखों रुपयों की पूँजी उसमें नियोजित करता है। यदि उस व्यापार में मूल पूंजी ही समाप्त हो जाए, तो वह व्यापार नहीं धोखा ही साबित होता है। धर्म भी साधक के लिए एक प्रकार का आध्यात्मिक व्यापार है। उत्तराध्ययन सूत्र में एक रूपक आता है—

जहा य तिण्णि वणिआ, मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहइ लाहं, एगो मूलेण आगओ ॥
एगो मूलंपि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह ॥

एक वणिक् के तीन पुत्र थे। वणिक् ने पुत्रों की व्यापारिक पटुता की परीक्षा के लिए एक प्रयोग किया। अपने तीनों पुत्रों को ५-५ हजार रुपये तथा पाँच वर्ष का समय दिया और कहा कि पांच वर्षों के बाद मैं तुमसे यह रकम माँगूंगा। तीनों अलग-अलग रहकर इस रकम का जो चाहो, उपयोग करो। तीनों भाई पाँच-पाँच हजार रुपयों के साथ वहाँ से विदा हुए। थोड़ी दूर जाकर तीनों तीन रास्तों पर चल पड़े। सबसे बड़े भाई ने सोचा, इतनी सी रकम से क्या होगा ? पाँच हजार मे तो कोई छोटा-मोटा व्यापार हो सकता है। मैं इतने बड़े सेठ का पुत्र, कोई छोटी दुकान लगाकर बैठूं, बडा लज्जाजनक होगा। पहले इस पूंजी को बढाऊँ। उसने सट्टा लगाकर पूंजी बढ़ानी चाही, पर दुर्भाग्य से मूल रकम ही हार गया। कुछ ही घण्टों में भिखारी बन गया। पाँच वर्ष का समय सामने पड़ा है। इस बीच घर जाना नही, फूटी कौडी पास में नहीं। कभी मजदूरी कर, कभी भीख माँगकर गुजारा चलाने लगा।

दूसरे पुत्र ने सोचा, पाँच हजार को व्यापार में लगाऊँ तो मालूम नहीं नफा हो या नुकसान हो ? भाग-दौड़ करनी पड़ेगी। तनावग्रस्त रहूँगा।

उसने रुपये व्याज पर लगा दिये। मूल रकम जमा पड़ी है, व्याज से जो पैसा आता, उससे ही अपनी जीविका चलाने लगा।

तीसरा पुत्र वहुत वुद्धिमान् था। उसने सारी पूजी व्यापार में लगा दी। अपने व्यावसायिक, व्यावहारिक कौशल का उपयोग कर वह ऊपर उठने लगा। रकम दिन दूनी रात चौगुनी वढने लगी। अनेक भवन बनवा लिये। धन के अम्बार लग गए। पांच वर्ष का समय पलक झपकते निकल गया।

जव नियत समय पर तीनों पुत्र पिता के पास पहुँचे, तो छोटे पुत्र की वुद्धिमत्ता को देखकर पिता हर्ष से गद्गद हो गया।

ठीक यही स्थिति ससारी प्राणियों की है। मूल पूजी के रूप में हमें मनुष्य-भव की प्राप्ति हुई है। जो इसे दुर्व्यसनों में खो देता है, वह मूल पूजी को ही हार जाता है। जो सद्‌गुणों से युक्त सहज-शांत जीवन जीता है, वह मूल पूंजी तो स्थिर रख लेता है, पर उसमें वृद्धि नही कर पाता। जो प्राप्त है, उसी पूजी को खाता रहता है। पूर्व पुण्यों के सयोग से मनुष्य जीवन प्राप्त हो गया, अव आगे की चिन्ता नही। एक व्यक्ति ऐसा होता है, जो प्राप्त समय का पूरा-पूरा उपयोग करता है, इस शरार को मोक्ष-मार्ग की साधना में प्रवृत्त करता है। नाशवान शरीर से शाश्वत धर्म की आराधना करता है। वह मूल पूजी को शतगुणित, सहस्रगुणित कर लेता है।

इसी उपनय को सन्त कबीर ने भी अपनी भाषा में गाया है—

ए संसार हाट वनिए की, सव जग सौदे आया।
चातुर माल चौगुना कीन्हा, मूरख मूल गमाया।
तेने हीरा सा जन्म गमाया, भजन बिना वावरे!

मनुष्य-भव से फिर मनुष्य-भव को प्राप्त करना मूल पूजी को स्थिर रखने के समान है। मनुष्य-भव से वैमानिक आदि देवगतियों की प्राप्ति करना विशेष लाभ है। मनुष्य-भव को गंवाकर तिर्यच, नरक आदि योनियों में जाना मूल को ही हारना है। अतः हमें इस बात पर विशेष ध्यान देना है कि हम जहाँ हैं, वही खड़े है या पीछे हटे हैं। अथवा आगे वढे है? कुशल व्यापारी वही कहलाता है, जो मूल पूजी को कायम रख कर विशेष लाभ हासिल करता है, अन्यथा तो धोखा ही धोखा है।

औषध खाने का लाभ तभी, जो हृष्ट-पुष्ट तन वनता हो।
जो दिन-दिन तन छीजा जाता, वह दवा नहीं वस धोखा है।
जीवन में शान्ति""॥

धर्म एक उपचार है, भवरोगों की औषधि है। उसके सेवन से निश्चय ही आनन्द की प्राप्ति होनी चाहिए। यदि औषधि लेते हुए भी शरीर दिन-दिन क्षीण होता जाता है, तो वस्तुतः वह औषधि नही प्रवंचना है। कहा जाता है, लुकमान हकीम जड़ी-बूटियों के वड़े ज्ञाता थे। उन्होंने अपने जीवन काल में एक लाख वनौषधियों का अनुसन्धान किया। ये जड़ियाँ कहाँ उत्पन्न होती है? इनके गुण, धर्म क्या है? इत्यादि विषयों में विशद विवेचन किया।

एक वार उनके मन में विचार आया, देखें संसार में मेरे सदृश जड़ी-बूटियों का विज्ञाता अन्य कोई है या नही? वहुत वर्षो पहले उन्होंने सुना था कि भारतवर्ष इस क्षेत्र में वहुत आगे वढ़ा हुआ है। वहाँ उच्च कोटि के आयुर्वेदज्ञ, चिकित्साविशेषज्ञ, तन्त्रज्ञ आदि हैं। उन्होंने कश्मीर के एक वैद्य का नाम सुन रखा था। उनकी इच्छा हुई, परीक्षा की जाए।

लुकमान ने एक व्यक्ति को बुलाया और कहा कि तुम्हें हिन्दुस्तान जाना है। वहाँ कश्मीर के अमुक वैद्य से मुलाकात करनी है। उस व्यक्ति ने पूछा – वहाँ जाकर मैं क्या कहूँ? हकीम ने कहा—कहना कुछ नही है।

उसने फिर पूछा—क्या कोई खत, पत्र पहुँचाना है?

हकीम वोला—नही, कोई लिखित सन्देश नही है।

तो क्या करूँ, क्या कहूँ, वहाँ जाकर? उस आदमी ने फिर कहा।

हकीम ने उत्तर दिया—मैंने पहले ही तुमको कहा था कि वहाँ जाकर न कुछ करना है, न कुछ कहना है। सिर्फ एक वात का अवश्य ध्यान रखना कि दिन भर चलने के वाद रात को जव तुम विश्राम करो तो कीकर (ववूल) के वृक्ष के नीचे सोना। चाहे कुछ भी हो जाये, अन्य किसी वृक्ष की छाया में वैठना ही नही।

वह व्यक्ति चल पडा। दिन भर चलता और रात को कीकर के नीचे सोता। परिणामस्वरूप उसका शरीर सूखने लगा। भूख वन्द हो गई। तवीयत गिरने लगी। कश्मीर पहुँचा, तव तक वह मात्र अस्थि-कंकाल सा रह गया। ज्यों-त्यों कर स्वनामधन्य वैद्यराज के सम्मुख उपस्थित हुआ।

वडे प्रेम से वैद्यवर्य ने आने का कारण पूछा। उसने सारी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा—मैं यूनान से आया हूँ। मुझे लुकमान हकीम ने आपके पास भेजा है।

कश्मीरी वैद्य लुकमान के नाम से परिचित था। कुशल-क्षेम पूछने के वाद यहां आने का कारण जानना चाहा—कोई संदेश कहलवाया होगा ? पत्र दिया होगा ?

उस व्यक्ति ने कहा—न कुछ कहा, न पत्र दिया। सिर्फ आपके पास आने के लिए कहा है।

वैद्य ने कहा—अरे ! कुछ न कुछ तो कहा ही होगा, तुम याद करो। उस व्यक्ति ने कहा—एक वात मुझे अवश्य कही थी कि रात्रि-विश्राम कीकर के नीचे करना, और कुछ नहीं कहा।

वस इतना सुनते ही वैद्य सारी स्थिति को ताड़ गया। आकृति तो उसके सामने थी ही, केवल अस्थिपंजर शेष था। वह समझ गया कि हमारे औषध-विज्ञान की परीक्षा के लिये ही ऐसा किया गया है। तुरन्त वैद्यवर ने कहा—तुम वापस चले जाओ।

आगन्तुक—क्या कोई सन्देश है आपका ?

वैद्य—नही।

आगन्तुक—कोई पत्रादि देना चाहेंगे ?

वैद्य—नही।

आगन्तुक—कुछ तो कहेंगे ?

वैद्य—सिर्फ इतना ही कि रात्रि-विश्राम नीम के वृक्ष के नीचे करना।

यात्री वहाँ से अपने देश की ओर चल पड़ा। रात को नीम के नीचे विश्राम करता, प्रातः पुन. आगे बढ जाता। परिणाम यह हुआ कि उसका शरीर परिपुष्ट होने लगा। सातो धातुएँ सबल होने लगी। वापस यूनान पहुँचा, तव तक तो एकदम तैयार हो गया। लुकमान के सामने उपस्थित हुआ।

लुकमान—भारत घूम आया ? वैद्यवर्य से मिल आया ?

वह व्यक्ति—जी हाँ ! आपने तो मुझे मरवा ही दिया था। हिन्दुस्तान के दयालु वैद्य ने ही मुझे नया जीवन प्रदान किया है।

हँसते हुए लुकमान ने पूछा—क्या कहा उन्होंने ?

वह व्यक्ति—सिर्फ इतना ही कहा कि नीम की छाया में सोते हुए अपने देश लौटना। जाते समय तो मैं कीकर की शूल की तरह क्षीण हो गया। पर आते हुए नीम के वृक्ष के नीचे पुनः हृष्ट-पुष्ट बन गया।

लुकमान ने अपने कान पकड़ लिए और मन ही मन स्वीकार किया कि हिन्दुस्तान में भी औषधियों के बड़े-बड़े जानकर मौजूद हैं। वे दवा से नहीं, हवा में भी रोग निवारण करने में समर्थ हैं।

धर्म भी परम-औषधि है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भीषण आमय हैं, रोग हैं। ये इतनी गहराई से अन्दर पैठ चुके हैं कि इनको निकालना कोई सरल कार्य नहीं है। धर्म एक ऐसा महारसायन है कि इसके सेवन से ये रोग समूल नष्ट हो जाते हैं। जिसे वास्तविक धर्म की प्राप्ति हो जाए, उसी आत्मा का सही औषधोपचार, चिकित्सोपयोग हो सकता है। वैद्य स्वयं ही रोगी हो तो औरों का उपचार कैसे कर सकता है ? आज धर्म के वैद्यराजों की यही स्थिति है। एक गुजराती भजन में कहा गया है—

वैद्य होय जेनो रोगी, केम ए बणे अरोगी ?
रोग एज मोटो, तू थी पनारा पड्या।
अधूरा औसरिया तारा अवखे पड्या।
रोग थी वधारे अमने उपायो जड्या॥

एक नेत्र रोगी, जिसे हर चीज दो दिखाई देती थीं, एक नेत्र चिकित्सक के पास गया और उसने चिकित्सक से कहा—डाक्टर साहब ! मुझे प्रत्येक चीज दो दिखाई देती हैं। वृद्ध नेत्र-चिकित्सक ने अपना चश्मा उतारकर साफ करते हुए पूछा—क्या तुम तीनों को एक ही बीमारी है ? रोगी हैरान होकर इधर-उधर देखने लगा कि मैं तो एक हूँ, ये महाशय "तीनों को" किसको बोल रहे हैं। अगले ही क्षण वह समझ गया कि डॉक्टर साहब तो मुझसे भी एक कदम आगे हैं। मैं एक चीज को दो देखता हूँ, ये तीन देखते हैं। हो गया इलाज।

जो डॉक्टर स्वयं बीमार हो, औषध क्या देगा। वहाँ तो धोखा ही होता है।

वैठे हो खाना खाने को, भोजन भी नानाविध आए,
जो क्षुधा शान्त नहीं कर पाता, वह भोजन नहीं बस धोखा है।
जीवन में शान्ति न जो लाता……॥

विविध भोजन-सामग्री के प्राप्त होने पर भी यदि तृप्ति नही होती, क्षुधा शान्त नहीं होती तो वह भोजन नही, धोखा है।

धर्म एक खुराक है। भूख लगते ही खुराक लेने में जितनी रुचि होती है, धर्म के लिए भी वैसी ही रुचि उत्पन्न होनी चाहिए। "रुचि" शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। लोग अक्सर कहते है, आज खाने की रुचि नहीं है यानी भूख नही है। बिना रुचि किया गया भोजन आरोग्यवर्द्धक नहीं होता। कहा जाता है कि 'रुचै,पचै,जचै' भोजन के प्रति रुचि होनी चाहिए, शरीर में पचना भी चाहिए तथा मन को जचना भी चाहिए। तभी भोजन का सच्चा आनन्द है। यही बात धर्म के लिए है। आजकल धर्म का एक रूढि के रूप में पालन किया जाता है। उसके लिए अन्दर की भूख पैदा नहीं होती। उसके बिना वह सुपरिणाम कैसे ला सकता है ?

राजा श्रेणिक के राज्य में लोहखुरा नामक दुर्दम चोर रहता था। उसने अंजनी विद्या साध ली। आंखो में ऐसा अंजन डाल लेता, जिसके द्वारा वह अदृश्य हो जाता। उसे सब कुछ दिखाई देता, पर वह किसी को दृष्टिगोचर नही होता। चोर के हाथ में ऐसी विद्या का आ जाना बड़ी खतरनाक बात है। अब उसे मध्य निशा में या अधियारी रात में जाने की अपेक्षा नही थी। दिन में लोगों के घर-द्वार-दुकानें खुली होती, वह तुरन्त अन्दर घुस जाता। अदृश्य होने के कारण कोई बाधा नही आती और वह मनचाहा माल उठाकर ले जाता। न दीवार फूटती, न ताला टूटता। प्रतिदिन नगर में ऐसी घटनाएँ होने लगी। परन्तु चोर की कही छाया भी नही दीखती। सर्वत्र आतंक फैल गया। नगर-प्रमुख राजा श्रेणिक के पास पहुँचे तथा चोरी की स्थिति स्पष्ट की। माल प्रतिदिन गुम हो जाता है, पर चोर कहीं नजर नही आता।

राजा श्रेणिक सारा घटनावृत्त सुनकर चकित रह गये। महामात्य अभयकुमार को बुलाकर सारी घटना सुनाई तथा शीघ्रातिशीघ्र चोर को पकड़ने की आज्ञा दे दी। अभयकुमार ने प्रतिज्ञा की कि एक सप्ताह के भीतर चोर को आपके सम्मुख उपस्थित कर दूँगा। इधर चोर को अपनी शिकायत का पता चला। उसने सोचा, आज राजमहल मे ही जाऊंगा। राजा और महामात्य को ही अपनी कला दिखाऊँगा। उसे रोकने वाला था भी कौन ? जब राजद्वार खुले थे, उसने आंखों मे अजन डाला और

अदृश्य रूप में अन्दर घुस गया। अवसर ऐसा मिला कि राजा श्रेणिक भोजन पर बैठने वाले थे।

नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोजन, रुचिपूर्ण व्यंजन, शाक, विविध प्रकार के मेवे, मिष्टान्न आदि भोजन के लिए रखे गये थे। भोजन-सामग्री देखकर चोर का मन ललचा गया। उसने सोचा, आज तो राजा के साथ ही भोजन करूँ। रोकने वाला कौन था? वह राजा के साथ खाना खाने बैठ गया। राजा एक ग्रास लेता इतने में वह लोलुप चोर तीन ग्रास उठा लेता। लाया हुआ भोजन लुप्त हो जाता।

राजा ने दुबारा-तिबारा भोजन मंगाया पर फिर भी भूख शान्त होने नहीं जा रही थी। राजा परेशान हो गया। पर अंजनिये चोर को आज भोजन का आनन्द आ गया। उसने प्रतिदिन का यह क्रम बना लिया। रोजाना सुवह-शाम राजा के साथ उसका भोजन होने लगा। राजा थाल में बड़ी मात्रा में भोजन परोसा जाता पर राजा का पेट भरता ही नहीं। दो दिन में ही राजा दुःखी हो गया। आखिर राजा ने सारी स्थिति की चर्चा महामन्त्री अभयकुमार के सामने की। बुद्धिनिधान अभयकुमार सुनते ही झट ताड़ गया कि हो न हो सिद्धअंजन का प्रयोक्ता वह चोर ही महाराज के साथ भोजन करने बैठता है। उसे सब कुछ दिखाई पड़ता है पर उसे कोई नही देख पाता।

दूसरे दिन अभयकुमार ने राजद्वार से लेकर राजमहल के भोजनालय के द्वार तक सूखे पत्ते बिछवा दिए और स्वयं चौकसी के लिए वहीं छिप गया। इतने में अज्ञानी चोर राजमहल में घुसा और दब-दब करता चलने लगा। अभयकुमार भांप गया कि कोई व्यक्ति अन्दर जा रहा है। क्योंकि जहाँ-जहाँ उसके अदृश्य पाव टिकते, वहां सूखे पत्ते चरमरा उठते। ज्योंही चोर भोजनालय में पहुँचा, बाहर के दरवाजे बन्द करवा दिये गये। सारे रास्ते बन्द करके भोजनकक्ष में गीली लकड़ियों का ढेर रखकर उसमें आग लगा दी गई। कमरा खारे धुएँ की कड़वाहट से भर गया। कक्ष के अन्दर बैठे लोगों की आँखों से भी पानी के पनाले चलने लगे। अजनिया चोर भी इसका अपवाद न रहा। उसकी आँखों से पानी वहने लगा। अश्रु-जल के साथ अजन बहने लगा। अंजन के निकलते ही उसकी अदृश्यता नष्ट हो गई।

अभयकुमार की पैनी दृष्टि उस अजनवी व्यक्ति पर पड़ी। तुरन्त उसे पकड़ लिया गया। पूछा—तू कौन है? चोर ने भी सोच लिया

कि अब मेरी घूर्तता चलने की नही। आखिर उसने अपनी भूल स्वीकार कर ली

कहानी आगे चलती है, पर यहाँ तात्पर्य इतना ही है कि भोजन लेते हुए भी यदि भूख नही मिटती तो कोई न कोई अजनिया पीछे लगा हुआ है। कोई न कोई धोखाधड़ी हो रही है। धर्म करते हुए भी यदि जीवन में शान्ति नही, कोई परिवर्तन नही, तो कही न कही अवश्य धोखा है। अन्त का पद्य है—

"चन्दन" है सन्त वही सच्चा, जो निःस्पृह जन कल्याण करे।
जो माया में फसता जाता, वह सन्त नहीं बस धोखा है।।
जीवन में शान्ति न जो ···।।

सन्त वही सच्चा होता है, जो निःस्पृह भावना से जगत् का कल्याण करे। सन्त होकर भी जो माया-मोह में फंस जाता है, वह सन्त नही सरासर धोखा है। वह न तो स्वयं शान्त रह सकता है, न औरों को शान्ति प्रदान कर सकता है। शान्ति कौन प्राप्त करता है? इसी विषय को लेकर योगेश्वर श्री कृष्ण अर्जुन को कहते है—

विहाय कामान् यः सर्वान्, पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः, स शान्तिमधिगच्छति ।।
—गीता ३/७१

सारी कामनाओं को छोडकर जो निःस्पृह भावना से विहरण करता है, अपने को निर्मम और निरहकार बनाता है अर्थात् अभिमान और कर्तृत्व भाव का त्याग करता है, वह शान्ति प्राप्त कर सकता है।

अस्तु, शान्ति और क्रान्ति प्राप्त कराने वाला ही सच्चा धर्म है। उसी का पूर्ण श्रद्धा, भावना एवं भक्ति के साथ पालन करना चाहिए।



२३

जीवन अखण्ड बनाना होगा, एक ही तान में लाना होगा।
तब ही प्रभु का पाना होगा, जीवन अखंड बनाना होगा ।।ध्रुव।।

तन है इधर को तो मन है उधर को,
दोनों को साथ मिलाना होगा ।।१।।

तन है गमन में तो मन है भवन में,
दोनों का बीच मिटाना होगा ।।२।।

तन है भजन में तो मन भोजन में,
जागृति - दीप जलाना होगा ।।३।।

वाणी में कुछ, व्यवहार में कुछ है,
धोखे से खुद को बचाना होगा ।।४।।

आगे से कुछ और पीछे से कुछ है,
खोटा मुखौटा हटाना होगा ।।५।।

दो यानों पर चढ़ न सकोगे,
एक को ही अपनाना होगा ।।६।।

खण्डित जीवन दण्डित होता,
पण्डित बन समझाना होगा ।।७।।

'चन्दन' ज्ञानी को बन्धन कैसा,
समता का स्रोत बहाना होगा ।।८।।

तर्ज—गुरु दर्शन को जाना होगा।

२३.

जीवन अखण्ड बनाना होगा

जीवन अखण्ड बनाना होगा, एक ही तान में लाना होगा।
तब ही प्रभु को पाना होगा, जीवन अखण्ड बनाना होगा ॥ध्रुव॥

जीवन की समग्रता—अखण्डता साधक के लिए अत्यावश्यक है। खंडित जीवन किसी भी क्षेत्र में सफल नही हो सकता। खण्डित अखण्डित की व्याख्या क्या है ? यह एक ज्वलन्त प्रश्न है। इसका समाधान ज्ञानियों ने वहुत संक्षेप में दिया है।

महात्मा कौन है और दुरात्मा कौन है ? कहा है—

मनस्येकं वचस्येकं, कर्मण्येक महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद्, कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ॥

जिनके मन, वचन तथा कर्म मे एकत्व है, समानता है, वे महात्मा हैं अर्थात् जिनके मन, वचन, कर्म एक है, वे सम्पूर्ण जीवन, अखण्ड जीवन जीने वाले हैं। जिनके मन में कुछ और, वाणी में कुछ और, आचरण में कुछ और होता है, वे दुरात्मा है। एक उर्दू शायर कहता है—

नजर उनकी, जुबां उनकी तयज्जुब है कि ताहम भी।
नजर कुछ और कहती है, जुबां कुछ और कहती है ॥

यह दुरात्माओं की स्थिति है। अखण्ड जीवन का यहा तात्पर्य यह है कि हम मन, वाणी और कर्म से एक बने तभी प्रभु की प्राप्ति हो सकती है। वीणा के तीन तार जब एक लय उत्पन्न करते है, तभी संगीत का माधुर्य प्रस्फुटित होता है। मन, वाणी तथा कर्म की समन्विति, सगति या संगीति ही जीवन की अखण्डता का प्रतीक है। हमारा जीवन किस प्रकार खण्डित है—

तन है इधर को तो मन है उधर को।
दोनों को साथ मिलाना होगा।
जीवन अखण्ड बनाना होगा॥

देखिए, हमारे तन और मन में किस प्रकार दुविधा विद्यमान है। तन इधर जा रहा है और मन उधर जा रहा है। जैसे हम कही बैठे, हमारे सामने से कोई गुजरा। कुछ ही क्षण बाद किसी ने हमसे पूछा कि अमुक व्यक्ति इधर से गुजरा, आपने देखा क्या? हम उत्तर देते हैं, हमें ध्यान नही। हमें पता नहीं, कौन आया, कौन गया, हमने गौर नहीं किया। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि हमारी आँखें खुली थीं, व्यक्ति हमारे सामने से गुजरा, हमें पता नहीं चला क्योंकि हमारा मन, तन के साथ नहीं था। केवल तन वहाँ था, मन कहीं और था। यह है हमारे खण्डित जीवन की निशानी। वरना जिस स्थान पर हम रहें, वही हमारा ध्यान केन्द्रित रहना चाहिए। तभी हम अखण्ड जीवन की झांकी पा सकते है। वैसे ही—

तन है गमन में तो मन है भवन में,
दोनों का बीच मिटाना होगा।
जीवन अखण्ड बनाना होगा॥

आवश्यक कार्य से आप कहीं जा रहे है। वाहन में बैठे है, मुँह से कहते हैं, जाने की इच्छा नहीं थी, पर मजबूरी है, जाना पड़ रहा है। अनेक ऐसे सांसारिक व्यवहार है, बिना इच्छा के भी उनका निर्वाह करना होता है। सैकड़ों मीलों से किसी शादी के लिए, किसी गमी के लिए, किसी मित्र का मन रखने के लिए पहुँचना पड़ता है, पर अन्तर्मन उस यात्रा को स्वीकारता नहीं है, यह जीवन का द्वैध है। हम लोग किसी शहर या गाँव से विहार करते है। कई बार श्रद्धालु लोग सेवा-उपासना के लिए साथ हो जाते हैं, रात्रि में भी हमारे साथ वहाँ रह जाते हैं। सुवह कहते हैं—महाराजश्री! सारी रात नींद नही आई, अपरिचित स्थान था। इस तरह भाई! हम साधु-सन्तों को नीद न आए तो? हमें तो सदा नये-नये स्थान मिलते हैं। वास्तव में नीद न आने का कारण दूसरा है, मन घर में, वाल-बच्चों में उलझा है, तन से यहाँ लेटे हैं तो चैन कैसे मिलेगा? यह मन और तन का अन्तर जब तक नही मिटता, तब तक जीवन अखण्ड नही वन सकता।

तन है भजन में तो मन भोजन मे,
जागृति दीप जलाना होगा।
जीवन अखण्ड बनाना होगा ।।

सुबह-सुबह भजन करने बैठते हैं। मन टिका रहता है चाय में, नाश्ते मे। किसी सन्त ने नियम करवा दिया, बिना माला फेरे चाय नही पीनी है। चाय तो बन चुकी है, माला अभी तक फिरी नही है। जल्दी-जल्दी माला के मनके खिसकाये जा रहा है। अरे भाई! माला राम-राम की फेर रहा है या चाय-चाय की। यह स्थिति है। भजन में मन बड़ी कठिनाई से टिकता है। लोग सवाल पूछते है कि भजन में, जप में मन नही लगता, कोई ऐसा उपाय बताइये कि मन जप मे स्थिर रह सके, अविचल रह सके, हिले नही। हमने कहा—भाई! माला जपते हो, तब मन नही ठहरता, पर नोट गिनते हो तब ? तब तो मन बिल्कुल स्थिर हो जाता है। यदि नोट गिनने में जरा सी असावधानी हो जाए तो सारी रोकड़ ही अस्त-व्यस्त हो जाय। इसलिये मन नही टिकता, यह बात नही है। मन तो कहीं न कही टिकता ही है। जिस कार्य में हमारी तल्लीनता होती है, वहाँ टिक जाता है। नोटों में तल्लीनता है, पर भजन में नही है। भगवान महावीर ने तीन शब्दों का प्रयोग किया है—"सद्दहामि, पत्तयामि, रोएमि।"

प्रथम जिस क्रिया को करते है उसके प्रति पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए। अश्रद्धा से किया हुआ कोई भी कार्य फल वान् नही बनता। श्रीमद्भगवत्-गीता में कहा है —

अश्रद्धया हुतं दत्तं, तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ, न च तत्प्रेत्य नो इह ।।

—गीता १७/२८

इसलिए सबसे पहले श्रद्धा होनी चाहिए। दूसरा स्थान प्रतीति का है। प्रतीति का अर्थ है, वास्तविकता का प्रतीत होना, अधिगत होना, अनुभूत होना। अनुभूति उसमें रस उत्पन्न कर देती है। जब तक प्रतीति नही होती, तब तक क्रिया अन्धानुकरण मात्र है।

तीसरा स्थान रुचि का है। प्रतीति के बाद रुचि उत्पन्न होती है। रुचि का अर्थ है भूख। जैसे भूखा व्यक्ति खाद्य पदार्थ को देखते ही खाने के लिये आतुर, व्याकुल हो उठता है; उसी भाँति रुचि जागरित होने पर

विधेय कार्य को करने के लिए व्यक्ति व्यग्र हो उठता है। यदि ऐसा है तो उस कार्य में मन स्वतः स्थिर हो जाता है, टिक जाता है। जब तक केवल ऊपर-ऊपर का व्यवहार चलता रहेगा, तब तक हम अखण्ड जीवन के स्वाद से वंचित रहेंगे।

वाणी में कुछ व्यवहार मे कुछ है,
धोखे से खुद को बचाना होगा।
जीवन अखण्ड बनाना होगा ॥

हमारी वाणी और व्यवहार में एकरूपता नही है। वाणी तो कहती है—

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे सांच है, ताके हिरदे आप ॥

परन्तु जब दुकान या ऑफिस में बैठते हैं, तब यही पद्य उलटा रूप ले लेता है—"झूठ बराबर तप नहीं, सांच बराबर पाप"।

एक सेठ प्रतिदिन किसी कथावाचक के पास कथा सुनने जाया करता था। उसके इस नियम में एक दिन भी व्यवधान नहीं पड़ता था। वह बड़े भक्तजी के नाम से प्रसिद्ध था। कथा में भी बड़ा रस लेता था। एक दिन अत्यावश्यक कार्यवश उसे किसी दूसरे गाँव जाना था। सेठ के मन में बड़ा अफसोस था कि मेरा कथा सुनने का क्रम टूट जायेगा।

आखिर सोच-विचार कर सेठ ने एक रास्ता निकाला। अपने पुत्र से कहा—बेटा ! मैं आवश्यक कार्यवश बाहर जा रहा हूँ, पर अपना कथा का क्रम नहीं टूटना चाहिए। इसलिए तुझे वहाँ जाकर मेरे स्थान की पूर्ति करनी होगी, मेरा आसन ग्रहण करना होगा। पुत्र ने कहा—अच्छा, पिता जी ! मैं चला जाऊँगा। पिता अपने कार्य हेतु चला गया और पुत्र कथा सुनने के लिए कथावाचक के यहाँ उपस्थित हो गया। वह बेचारा पहली बार ही धर्म-कथा में शामिल हो रहा था। उस दिन प्रसंग यह आया कि गौ माता के समान है, उसकी रक्षा करनी चाहिए। उसके साथ दुर्व्यवहार करना माता के साथ दुर्व्यवहार करने के सदृश है। कथा को हृदयंगम कर वह अपने घर गया। दूसरे दिन पिता वापस लौट आए। पिता-पुत्र दोनों दुकान पर बैठे थे। दुकान के आगे अनाज का ढेर लगा था। इतने में एक भटकती हुई गाय उधर आ निकली और उसने अनाज के ढेर में मुंह लगा

दिया। पुत्र चुपचाप देखता रहा, गाय धान खाती रही। पुत्र ने उसे नही ललकारा, नही हटाया। पिता यह दृश्य देखकर हैरान रह गया। पुत्र को फटकारते हुए कहा—मूर्ख ! देख क्या रहा है? गाय अनाज खा रही है, इसे हांकता क्यों नही ? अगर इस तरह खड़ा-खड़ा नुकसान करवाएगा तो दुकानदारी क्या खाक करेगा ?

पुत्र ने कहा—पिताजी ! कल ही मैंने कथा में सुना था कि गौ माता है। यह तो हमारा सौभाग्य है कि हमें अनायास ही गौ माता की सेवा का लाभ मिल रहा है। पिता ने झुझलाकर कहा—-बेवकूफ ! ये बाते सुनने की होती है। अगर तू इन पर चलना शुरू कर दे तो कमाना बन्द हो जाए।

यह कथनी-करनी का भेद वडा भयानक है। जो दूसरों को धोखा देना चाहता है, वह स्वय को धोखा देता है। हम एक बार बम्बई में थे। सुबह-सुबह नरीमन-प्वाइट पर घूमने जाते थे। एक दिन हम जा रहे थे, सामने से एक पागल व्यक्ति चिल्लाता हुआ आ रहा था "दो खाते रखो, दो ! एक सरकार को धोखा देने के लिए, एक खुद को धोखा देने के लिए।" हमें उसके शब्दों मे कुछ सच्चाई प्रतीत हुई। जो सरकार को धोखा देना चाहता है, वह खुद को धोखा देना चाहता है। जिसे अखण्ड जीवन जीना है, उसे खुद को धोखे से वचाना होगा।

आगे से कुछ और पीछे से कुछ और है,
खोटा मुखौटा हटाना होगा।
जीवन अखण्ड बनाना होगा॥

जव कोई मनुष्य सामने मिलता है तो बड़े प्रेम से उससे गले मिलते हैं, कहते हैं—आपके ही दिए दिन है, हम तो आपकी ही रोटी खा रहे हैं। वह व्यक्ति आगे वढा, पीछे से कहते है—साला बेईमान है, जानता हूँ इसे। ऐसा है आदमी का जीवन ! चेहरे पर अनेक मुखौटे लगे है। उसका असली रूप क्या है, इसका तो स्वयं उसे भी पता नही है। जैसा अवसर हो, जैसी परिस्थिति हो, आदमी वैसा ही मुखौटा पहन लेता है, कही देव का, कही दानव का। घर मे पत्नी से वात करते हुए दूसरा मुखरौटा होता है। इतने में कोई मेहमान आ जाए, फौरन मुखौटा बदल जाता है। कोई राज-नेता या मन्त्री आ जाए तो कोई अलग ही मुखौटा लग जाता है।

पश्चिम में एक मंच-अभिनेता हुआ है। उसका अभिनय अत्यन्त सफल एव चामत्कारिक था। वह अभिनय के प्रवाह में जन-परिषद् को

बहा ले जाता। दर्शक तद्रूप बन जाते। उसने अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में कहा कि मेरा असली रूप क्या है, अब मुझे इसका पता नहीं। मैं अपने पात्रों में (जिन रूपों का प्रदर्शन किया) घुल-मिल गया हूँ। आज प्रायः सभी की यही हालत है।

एक दामाद ससुराल जा रहा था। शादी हुए थोड़े ही दिन हुए थे। वह पहली बार जा रहा था इसलिए खूब सज-संवरकर चला। ससुराल के पास आते-आते उसे याद आया कि कान में इत्र का फाहा तो डाला ही नहीं। गजब हो गया, दामाद के रूप में पहली बार ससुराल जा रहा हूँ, कान में इत्र के फाहे नहीं। वह इसका उपाय ढूंढ़ने लगा। उसे रास्ते में गिरी हुई रुई मिल गई। उसने उसी रुई के फाहे बनाकर कान में लगा लिए। सोचा, ससुराल के लोग तो यही जानेंगे कि जँवाई ने इत्र के फाहे टांग रखे हैं।

यह एक व्यक्ति की नहीं, सभी की स्थिति है। हम अपने असली रूप को तो छिपाने की कोशिश करते है और मुखौटे लगाकर जनता के सामने अपने को उपस्थापित करते हैं।

बालक इसीलिए प्रिय लगते हैं कि उनको मुखौटा लगाना नहीं आता। वे तो जिस रूप में हैं, उसी रूप में सबके सामने आ जाते हैं। एक बार शिवाजी के गुरु समर्थ स्वामी रामदास बच्चों के साथ खेलने लग गये। इतने में भक्त लोग वहां आ पहुँचे। गुरु को इस प्रकार बालकों के बीच क्रीड़ारत देखकर वे हैरान रह गये। समर्थ रामदास ने कहा—ये बच्चे बहुत निर्दोष एवं विशुद्ध हैं। मैं इनके जैसी अवस्था प्राप्त करना चाहता हूँ। जितने ही बच्चे, उतने ही अच्छे; जितने मोटे, उतने खोटे। कारण एक ही है, बच्चों के हृदय में दुहरापन नहीं होता। कोई द्वैध नहीं है। उनका आगा-पीछा एक है। वे कुछ कहते समय इधर-उधर नहीं झांकते। अपने आपको समझदार मानने वाले बात को इधर-उधर घुमाते हैं, उसमें पेंच डाल देते हैं और इसे अपनी विशेषता समझते हैं।

दो यानों पर चढ़ न सकोगे,
एक को ही अपनाना होगा।
जीवन अखण्ड बनाना होगा॥

एक ही समय में दो घोड़ों की सवारी कैसे हो सकती है? आखिर एक को ही अपनाना पड़ता है। सम्पूर्ण जीवन जीने का यही रहस्यमय

सूत्र है कि वह निःशंकभाव से अपने को एक प्रभु की ओर, सत्य की ओर या आत्मा की ओर ढाल ले। क्योंकि "दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम" यह उक्ति बडी महत्त्वपूर्ण है। चोर हो तो चोर के रूप में सामने आए, कोई नुकसान नही; पर भीतर से चोर, ऊपर से साहूकार—यह स्थिति खतरनाक है। पाच सौ चोरों का सरदार प्रभव जम्बूकुमार के सामने चोर के रूप मे आया, वह आखिर महान सन्त बन गया।

खण्डित जीवन दण्डित होता,
पण्डित बन समझाना होगा।
जीवन अखण्ड बनाना होगा॥

खडित जीवन वाले को दण्डित होना पडता है। भगवान महावीर ने तीन प्रकार के दण्ड बतलाए है—मन-दण्ड, वचन-दण्ड और काय-दण्ड।

हम व्यर्थ सकल्प-विकल्पो के अम्बार लगाते रहते है, आसमानी किले बनाते रहते है। होना क्या है ? यह तो हमारे वश की बात नही, पर मन से तो दण्डित हो ही जाते है। जहा मन भटका, वहा दण्डित हुए। इसी प्रकार लोग वाणी से दण्डित हो जाते है। चोरी, व्यभिचार आदि द्वारा शरीर से दण्डित हो जाते है। जहां जीवन खंडों में बँटा, वहां दण्ड तैयार है। वहा मौलिक गुण नष्ट हो जाते है। अखंड वस्तु की ही महत्ता होती है। इसी प्रसंग में नन्दीसूत्र में एक भेरी का दृष्टान्त आता है।

शक्रेन्द्र सुधर्मा सभा में देवों में परिवृत बैठे थे। प्रसंगवश उन्होंने कहा—द्वारकाधीश श्रीकृष्ण वासुदेव बड़े ही गुणग्राही एवं उत्तम संग्राम के पक्षपाती हैं। वे कभी नीति-विरुद्ध सग्राम लडना पसन्द नही करते, चाहे उन्हे हार ही स्वीकार करनी पडे। इन्द्र की बात पर अश्रद्धा करता हुआ सुपर्व नामक एक देव उनकी परीक्षा के लिए तैयार हो गया।

उसी दिन श्रीकृष्ण वासुदेव की द्वारका में सवारी निकल रही थी। विशाल जुलूस के रूप मे उनकी वह यात्रा एक रास्ते के बाद दूसरा रास्ता पार करता जा रही थी। देव ने उनकी गुणग्राहिता की परीक्षा के लिए एक मृत काले कुत्ते का रूप धारण किया और सडक के किनारे खुले मुँह गिर गया। जो भी व्यक्ति उसके पास से गुजरते, उसकी सडान पर नाक-भौ सिकोड़ते, कुछ अपशब्द कहते और आगे बढ जाते। जुलूस में आगे-आगे चलने वाले लोग भी इसके अपवाद नही थे। श्रीकृष्ण महाराज का घोड़ा भी उस कुत्ते के पास पहुँचा। वासुदेव की दृष्टि भी उस कुत्ते के

शव पर पड़ी। उन्होंने मुस्कराकर साथ चल रहे अश्वारूढ बलदेव से कहा, देखिये, इस कुत्ते के दाँत कितने सुन्दर है, मानो पद्मराग (माणिक) में मोती जड दिए गये हों। बात करते-करते आगे वढ गए। देवता उन्हें परीक्षा में पूर्णतः उत्तीर्ण पाकर सन्तुष्ट हुआ।

अव दूसरी परीक्षा की बारी आई। उस देव ने मनुष्य का रूप वनाया और वासुदेव का विशिष्ट अश्व, जो उनकी सवारी के काम आता था, घुड़साल से खोलकर ले गया। सुभट पीछे दौड़े पर वह किसी के हाथ नही आया। आखिर स्वयं श्रीकृष्ण को उस चोर का पीछा करना पड़ा। उन्होंने चोर को उच्च स्वर में ललकारा। वह आमने-सामने हो गया और बोला, मुझे जीतकर ही आप अपना घोड़ा प्राप्त कर सकते है। वासुदेव ने कहा, मुझे स्वीकार है, वोल तू कौन सा संग्राम करना चाहता है ? देव ने कहा—आप ही बतलाइये। उन्होंने दण्ड-युद्ध, खड्ग-युद्ध, बाण-युद्ध आदि अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों के सग्रामों के नाम लिये, पर वह इनकार करता गया। आखिर उन्होंने दृष्टि-युद्ध, मुष्टि-युद्ध, वाहु-युद्ध आदि के लिए प्रस्ताव रखे। उन्हें भी देव ने अस्वीकार कर दिया। श्रीकृष्ण ने कहा—अब तू ही बतला, तू कौन सा संग्राम चाहता है ? हँसते हुए देव ने कहा—मैं पृष्ठयुद्ध करना चाहता हूँ। आप भी औंधे खड़े हो जाइए मैं भी औंधा खडा हो जाऊँगा। पीठ से पीठ पर चोट की जायेगी। जो जीतेगा, वह घोड़ा ले लेगा। तिरस्कारपूर्वक महाबली वासुदेव ने कहा—मैं क्षत्रिय हूँ। आमने-सामने युद्ध करना मेरा कर्तव्य है, धर्म है। यह पृष्ठ संग्राम तो नीच वृत्ति का परिचायक है। मैं ऐसा नहीं कर सकता। देव ने कहा, यदि आप संग्राम नहीं करते तो मैं सवको कहूँगा कि आप मुझसे हार गए। घोडा भी आपको नहीं मिलेगा। कृष्ण महाराज ने कहा, चाहे तू मुझे हारा हुआ मान ले, अश्व मत दे, मैं यह कायरोचित युद्ध कभी नही करूँगा।

देवता उनकी पुरुषोत्तमता पर बहुत प्रसन्न हुआ। दोनों परीक्षाओं में समुत्तीर्ण देखकर उसने अपना मूल रूप धारण किया और कहने लगा—मैं देव हूँ। इन्द्रलोक में हुई आपकी प्रशंसा को सुनकर मै परीक्षार्थ उपस्थित हुआ। आप सचमुच पुरुषोत्तम है। आपकी गुणग्राहिता और वीरोचित संग्राम कुशलता निश्चय ही प्रशंसनीय है। मैं सन्तुष्ट हूँ और आपको कुछ न कुछ देना चाहता हूँ। श्रीकृष्ण महाराज ने कहा, हमें सव कुछ प्राप्त है, और किसी वस्तु की माँग नही है। सुपर्व ने कहा—"अमोघ देवदर्शनम्" इसलिए कुछ तो स्वीकारना होगा। चिन्तनपूर्वक वासुदेव ने कहा, यदि

देना ही चाहते है तो एक ही माँग है कि हमारी प्रजा अनामय रहे—पूर्ण नीरोग रहे। द्वारका के परिसर में कही बीमारी का प्रकोप न हो।

देवता ने उनकी माँग को शिरोधार्य करते हुए एक दिव्य भेरी भेट की तथा उसका महत्त्व समझाते हुए कहा, इस भेरी को छह महीनों से एक बार बजवाया जाए। इसकी आवाज आपकी राजधानी की पूरी सीमा में फैलेगी तथा जो व्यक्ति इस आवाज को सुन लेगा, वह छह महीने तक किसी प्रकार के रोग से त्रस्त, पीडित नही होगा। वर्ष में दो बार सावधानीपूर्वक इसे बजवा दीजिए।

भेरी देकर देवता अन्तर्धान हो गया। वासुदेव ने भेरी की व्यवस्था के लिए एक पृथक् भवन बनवाया। उसमें भेरी को सुरक्षित रखा तथा सारी बात यथावत् समझाकर एक बुद्धिमान व्यक्ति को भेरी-पालक के पद पर नियुक्त कर दिया। वर्ष में दो बार नियत तिथियो पर भेरी बजाने का कार्य भी उसे ही सौंपा गया।

समय गुजरता गया। छठे महीने भेरी की आवाज पूरे द्वारका के परिसर में गूँज उठती। प्रजा मे अमन-चैन हो गया। चिकित्सक, वैद्य, हकीम—सब खाली हो गए। कोई बीमार ही नहीं होता तो दवा के लिए कौन आए। प्रजा पूर्ण सुखी हो गई। इस विशेष घटना की चर्चा धीरे-धीरे द्वारका के आस-पास के नगरों और गाँवो में फैलने लगी। जो भी सुनता, अनामय—नीरोग, स्वस्थ होने के लिए लालायित हो उठता। रोगी कहाँ नही होते? विशेषतः पैसे वाले, सत्ताधीश तो अधिक बीमार होते है। भेरी का शब्द सुनने के लिए हजारो लोग पडौस से द्वारका की सीमा में नियत तिथि पर पहुँचने की कोशिश करते। बहुत लोग पहुँच भी जाते पर कई विशेष स्थितिवश चूक जाते। मार्ग मे एकाध दिन का समय अधिक लग जाता या और कोई कठिनाई हो जाती। वे घोष सुने बिना रह जाते। बड़ी परेशानी होती कि इतनी दूर से आये और थोड़ा सा अन्तराल पड गया कि लाभ न उठा सके। नियमानुसार छह महीनो तक वापस भेरी बज नही सकती।

कुछ लोग भेरीपालक से व्यक्तिगत रूप से मिलकर ऐसा प्रयत्न करते कि उनके लिए भेरी एक बार फिर बजा दी जाए। अनेक प्रलोभनों के बावजूद भेरीपालक के लिए यह कार्य सम्भव नही था, क्योंकि उसकी आवाज अड़तालीस कोस तक सुनाई देती थी।

किसी अक्लमन्द ने अपनी अक्ल दौड़ाई कि जिस भेरी की आवाज से रोग समाप्त होते हैं, वह काष्ठ की बनी है। वह काष्ठ विशेष गुणकारी होना चाहिए, क्योंकि आवाज तो उसमें से ही उठती है। सारी शक्ति तो काष्ठ में ही सन्निहित है। उस व्यक्ति ने भेरीपालक से एकान्त में भेंट की तथा बड़ा प्रलोभन देकर भेरी के एक छोटे से खण्ड को प्राप्त करने की कोशिश की। लोभ सभी पापों का मूल है। धन देखकर भेरीपालक का मन हिल गया। उसने एक छोटा सा खण्ड भेरी में से काटकर उसे दे दिया तथा उसके स्थान पर दूसरा सामान्य काष्ठ खण्ड लगा दिया।

उस व्यक्ति ने उस भेरी खण्ड का पानी में घिसकर औषध रूप में प्रयोग किया। भेरी तो दिव्य काष्ठ से बनी हुई थी। उसने अपना प्रभाव दिखलाया और उस व्यक्ति के सारे रोग शान्त हो गए। बस, धीरे-धीरे यह सिलसिला चालू हो गया। अनेकों धनकुबेर दूर-दूर से आते और गुप-चुप भेरीपालक से सम्पर्क साधते। प्रचुर धन देकर वे भेरी खंड प्राप्त करने में सफल हो जाते। मूढ़ भेरीपालक रोज मूल भेरी के खड काटता और उसमें सामान्य काष्ठ खंड जोड़ देता। परिणाम यह हुआ कि छह महीनों में ही भेरी का मूल रूप विलुप्त हो गया तथा वह सिर्फ सामान्य काष्ठखण्डों से बनी भेरी रह गई।

षण्मासानन्तर घोष करने का दिन आया। भेरीपालक ने भेरी बजाने की कोशिश की, पर आवाज निकले तो कैसे? अचानक पूरे नगर पर रोगों का भारी आक्रमण हो गया। दैवी शक्ति से अवरुद्ध रोग एका-एक अवसर पाकर मानो नगर पर टूट पड़े। घर-घर में लोग शय्याशायी हो गए। लोगो ने वासुदेव से शिकायत की कि भेरी नियत समय पर बजी नहीं, लोगों पर विपदा आ पड़ी है। प्रजा त्राहि-त्राहि कर रही है। चिन्तातुर द्वारकाधीश ने उसी समय भेरीपालक को बुलाकर भेरी न वजाने का कारण पूछा। कुटिल भेरीपालक ने कहा—महाराज! मैंने तो हमेशा की तरह ही भेरी बजाई थी, पर उसका प्रभाव क्यों नही हुआ? पता नहीं।

श्रीकृष्ण ने कहा—ऐसा नहीं हो सकता, वह सामान्य भेरी नहीं है। जाओ, इसी समय भेरी मेरे सामने प्रस्तुत करो। कपट कहाँ तक छिप सकता है? वह घबराया हुआ भेरी लेकर वासुदेव के सामने आया। खंडों में विशृंखल भेरी को देखकर श्रीकृष्ण आश्चर्यचकित रह गये। यह तो पूरी

एक ही काष्ठ की बनी थी। इसमें ये खंड कहाँ से जुड गये? सच बता, वात क्या है, वर्ना अभी यमराज का अतिथि बना दिया जायेगा।

भेरीपालक भय से कांपने लगा। बताए तो क्या बताये? कैसे बताये? आखिर भेरीपालक ने सारी बात सच-सच बतला दी। उसकी नीचता को सुनकर श्रीकृष्ण प्रकुपित हो गये। दुष्ट! तूने ऐसा करके पूरे जनपद के साथ धोखा किया है। यह भारी अपराध है। एक विशिष्ट आरोग्यदायिनी शक्ति को तूने लोभान्ध होकर नष्ट कर दिया। वास्तव में तो तू जीवित रहने के योग्य ही नही है। तू विश्वासघाती है। फिर भी तूने यथार्थ स्थिति बतला दी, इसलिए मै तेरी सारी सम्पत्ति जब्त करके तुझे अपने देश से निकल जाने का आदेश देता हूँ। बड़े अपमान के साथ उसका निष्कासन कर दिया गया।

कहने का तात्पर्य यह है कि खण्ड-खण्ड होते ही वस्तु की गुणवत्ता नष्ट हो जाती है। इसी तरह जो खडित जीवन जीते है, वे जीवन का पूरा रस नही पा सकते। इसलिए अपने आप को पडित बनकर समझाना होगा। "पंडित" शब्द भी अपने आप मे अद्‌भुत है। "पडा" उस बुद्धि का नाम है जो तत्त्वानुगामिनी है।

आ. हेमचन्द्र लिखते है—'पण्डा तत्त्वानुगा, पण्डा जाता अस्य इति पण्डितः" तत्त्वानुगामिनी बुद्धि जिसमें हो, वह पडित है। केवल "शास्त्री" या "आचार्य" की परीक्षा उत्तीर्ण करने से वास्तव मे पडित नहीं बनते। मनीषियों ने कहा है—

मातृवत् परदारेषु, पर-द्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु, य. पश्यति स पण्डित ॥

यही पडित शब्द की सही व्याख्या है। जो परस्त्री को मातृ-तुल्य, पर-धन को मिट्टी-तुल्य और समस्त प्राणियो को आत्मतुल्य समझता है, वही पडित है।

"चन्दन" ज्ञानी को बन्धन कैसा?
समता का स्रोत बहाना होगा।
जीवन अखण्ड बनाना होगा ॥

सारे बन्धन अज्ञान के है। अज्ञानी, मकड़ी की तरह अपने लिए बन्धन का जाल बुनता जाता है, स्वयं उसमें फँसता जाता है। ज्ञानी प्रत्येक स्थिति में बन्धन को काटता हुआ चलता है। उसकी आत्मा में समता का स्रोत बहता रहता है, इसलिए वह बन्धन में नहीं पड़ता। उसके मन, वचन और शरीर एक ही लय में बँधे रहते हैं, जुड़े रहते है। इसलिए ज्ञानी वायुवत् उन्मुक्त रहता है।

सारांश यह है कि हमें सम्पूर्ण जीवन जीने का अभ्यास करना है। यदि जीवन में पूर्णता आई तो साधना में पूर्णता आयेगी और हम कृतकृत्य हो जायेंगे।



२४

काया काई काम की रे, (जो) धर्म कियो नहि जाय ?
माया काई काम की रे, भजन कियो नहि जाय ?
मिसरी रा हीरा तणी रे भाई, उपमा रहि रे बताय ॥ध्रुव॥

हाड मांस री पूतली रे, शुद्ध कहो किम थाय ?
भजन विना तो बावला ! तू, चाहे जितरो न्हाय ॥ काया० १ ॥

रोजीनां गो खर्च है, पण नहीं पैसे री आय।
खाली होसी अन्त मे, मत इण में शंका ल्याय ॥ काया० २ ॥

छोटे मोटे काम मे रे, तू लै औरां री राय।
काढ आतमा आपणी, इण घर में लागी लाय ॥ काया० ३ ॥

सुख सीरी ससार है रे, दुःख में धर्म सहाय।
करणी आपो आप री रे भाई, जीव अकेलो जाय ॥ काया० ४ ॥

ओ झबकारो बीज रो रे, झट जासी बिललाय।
"चन्दन" औघड मत बणो, द्यो आलस ने छिटकाय ॥ काया० ५ ॥

तर्ज—हरि गुण गायलै रे

२४.

काया कांई काम की रे !

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है—

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं ।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम ! मा पमायए ।।

—उत्तरा. १०/४

सुविनीत शिष्य गौतम को अप्रमत्तता की ओर अग्रसर करते हुए श्रमण भगवान् महावीर कहते हैं—मनुष्य-भव दुर्लभ है । सभी प्राणियों को यह चिरकाल पर्यन्त—लम्बे समय तक सहज रूप में प्राप्त नहीं है । कर्मों की गति बडी विचित्र है । प्राचीन वर्णन मिलता है कि नौ घाटियों को पार करने के बाद मनुष्य-भव की प्राप्ति होती है । राहगीर को एक दुर्गम घाटी पार करना दुष्कर लगता है । वहाँ ऐसी भीषण नौ-नौ घाटियाँ पार करना कितना दुरूह है, जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती । पाँच घाटियाँ पाँच स्थावर काय की, तीन घाटियाँ विकलेन्द्रिय की और एक घाटी तिर्यंच पंचेन्द्रिय की—इनसे पार होता हुआ प्राणी कहीं शुभ संयोग से मनुष्य-भव पाता है । मनुष्य-भव पाने पर भी आर्यदेश, उत्तम कुल तथा धर्म-श्रवण का अवसर बहुत दुर्लभ है । इन सारे संयोगों को, अनुकूल स्थितियों को पाकर भी मनुष्य धर्म नहीं करता, अपना मन साधना में नहीं जोडता, तब करुणा के पद्मद्रह, दिव्यस्रोत सन्त जनों के मन में बड़ी दया उमड़ती है । वे प्रेरित करते हैं—

काया कांई काम की रे, (जो) धर्म कियो नहिं जाय ।
माया कांई काम की रे, (जो) भजन कियो नहिं जाय ।।

मनुष्य-शरीर पाकर भी यदि इससे धर्म नहीं किया गया, तो इसका क्या उपयोग है ? यदि प्रभु भजन में मन नही लगता तो इस धन, सम्पत्ति, इस माया की प्राप्ति का क्या लाभ है ? जिस कार्य-हेतु इस देह में आये है, यदि वह लक्ष्य गौण हो गया तो इससे वडी अज्ञता, नादानी और क्या होगी ? गोस्वामी जी कहते है—

भजन करण में आलसी, भोजन में हुशियार।
तुलसी ऐसे जनन को, वार-वार धिक्कार ॥

भजन और भोजन के अक्षरों में ज्यादा अन्तर नही है। केवल ओकार की मात्रा का ही फर्क है। पर लोग भोजन के लिए हर समय तैयार रहते है। भजन करने के समय वडी सुस्ती आती है, आलस्य आता है, प्रमाद आता है। शुद्ध मन से प्रभु के नाम की एक माला भी नहीं फेरी जाती। एक भाई ने कहा, मैं दिन में सत्ताईस वार चाय ले लेता हूँ। हमने कहा, तेरा पेट है या कुआ है ? आश्चर्य है कि सत्ताईस बार भगवान का नाम नहीं लिया जा सकता।

मियाँ साहव से कहा—आओ मियाँजी खाना खाओ।

(मियाँ साहव)—करो बिस्मिल्ला हाथ धुलाओ।

खाने का आमन्त्रण मिलते ही मियाँ जी एकदम तैयार हो गये, बोले —विस्मिल्लाह—रहीमाने-रहीम, अच्छा, हाथ धुलवा दीजिए, अभी भोजन के लिए वैठना हूँ। मियाँजी ने जमकर खाना खाया। खाना खाने के बाद मकान का छप्पर उठाना था। इसलिए मियाँजी को भी कह दिया—

आओ मियाँजी, छप्पर उठाओ।

(मियाँजी) हम वूढे, नौजवान बुलाओ।

मियाँजी ने तपाक से कह दिया, भाई ! हम तो बूढ़े हैं, छप्पर उठाने के लिए तो किसी नौजवान को बुलवाओ। खाना खाते समय मियाँजी को बुढापा याद नही आया, पर छप्पर उठाने के वक्त फौरन बुढापा याद आ गया। प्रमादियों की यही स्थिति है। इसलिए गोस्वामी जी कहते है—

तुलसी रसना तो भली, जो सुमिरे हरिनाम।
नहींतर काट निकास दे, मुंह मे भली न चाम ॥

रसना का—जीभ का सही उपयोग यही है कि उसके द्वारा भगवान् का भजन किया जाय। भक्त तुलसीदास जी कहते है, अन्यथा उसे निकाल कर बाहर फेंक दो, क्योंकि मुँह में अपवित्र चाम—चमड़ा भरकर रखने में कोई समझदारी नहीं है। इसलिए कहा गया—

काया कांई काम की रे, जो धर्म कियो नही जाय।
माया कांई काम की रे, जो भजन कियो नहीं जाय।
मिसरी रा होरा तणी रे भाई, उपमा रही रे बताय॥

शरीर की नश्वरता पर मिश्री के हीरे की उपमा बतलाई गई है। बुजुर्ग सन्त एक बड़ा प्रेरक रूपक सुनाया करते थे।

दिल्ली के बादशाह लाल किले में सो रहे थे। सावन का महीना था। चारों ओर भारी वर्षा के कारण यमुना में बाढ़ आ रही थी। यमुना का पानी बडी आवाज के साथ उछाले मारता हुआ बह रहा था। उस समय यमुना लाल किले के एकदम पास से बहती थी। नदी के पूर की तीव्र आवाज के कारण अचानक आधी रात को बादशाह की आंख खुल गई। बादशाह बिछौने पर बैठे थे कि मन में प्रश्न उठा—

सारा शहर सो रहा है, यह यमुना क्यों रो रही है?

कहावत है—बालक और बादशाह, इनके चित्त में कुछ अजीब-अजीब सवाल पैदा होते हैं। यद्यपि इस प्रश्न में कोई विशेष तथ्य नहीं था, पर बादशाह ने फौरन शयनकक्ष के बाहर खड़े प्रहरी को आवाज दी। वह हाजिर हुआ। बादशाह ने वही प्रश्न पूछा—"सारा शहर सो रहा है, यमुना क्यों रो रही है?" जो मात्र सात रुपये महीना पाने वाला नौकर, वह क्या जाने, ऐसे प्रश्नों का क्या जबाव होता है? उसने कहा—गरीब नवाज! मैं इस विषय में कुछ नहीं जानता।

बादशाह ने कहा—बस, कुछ नहीं जानते? जाओ, बीरबल को बुलाकर लाओ। पहरेदार सलाम करके बाहर निकला और बीरबल के निवास पर पहुँचा। गहरी निद्रा में सोए बीरबल को जगाकर कहा, आपको बादशाह सलामत याद फरमा रहे हैं। चौंककर बीरबल ने कहा—इस समय आधी रात को ऐसा क्या काम है? पहरेदार ने कहा, यह तो मुझे पता नही, पर आपको याद किया है। एक कहावत है कि—

चाकर है तो नाचा कर।
ना नाचा तो ना-चाकर॥

बीरबल फौरन कपड़े बदलकर तैयार हो गया, क्योंकि चाकर को तो स्वामी के इशारों पर नाचना पडता है। महल में हाजिर हुआ, जहाँपनाह ! हुक्म फरमाइए। बादशाह ने वही प्रश्न रखा। सारा शहर सो रहा है, यमुना क्यो रो रही है ? बादशाह के इस नादानी भरे सवाल और उत्तर पाने की व्यग्रता को देखकर बीरबल हैरान रह गया, लेकिन बीरबल अपनी हाजिर जवाबी के लिए सारे मुल्क मे मशहूर था। उसमे यह अद्‌भुत विशेषता थी कि चाहे कैसा ही प्रश्न हो, उसे उत्तर देने में समय नही लगता था। मुस्कराकर बीरबल ने कहा, बादशाह सलामत ! आपको हिन्दुस्तान के रस्मो-रिवाज का पता नही है। आप गैर मुल्क के ठहरे। यहाँ की विचित्र रीतियो प्रथाओं को आप कैसे समझ सकते है ?

बोला वजीर जमुना, ससुरालय जा रही है।
ससुरालय जा रही है, ताते चिल्ला रही है ॥
बाला पीहर से जाती, आँखों से नीर बहाती।
भारत में ऐसी रीति, पहले से आ रही है ॥
पुत्री यह हिम गिरिवर की, पत्नी यह है सागर की।
पिय पै जाती है ताते, इतनी अरडा रही है ॥
बोला वजीर जमुना, ससुरालय जा रही है ॥

जहाँपनाह ! यमुना अपने पति के घर, अपनी ससुराल जा रही है। हमारे हिन्दुस्तान का रिवाज है कि पुत्री जब ससुराल जाती है तो रोती है। उस समय पुत्री का रोना शुभ माना जाता है। उस रोने में सहजता होती है, कृत्रिमता नही। जिन माता-पिता की, पारिवारिकजनो की गोद मे पली-पुसी, जिनका प्यार-दुलार पाया, उनको छोडकर, अपनी सखी-सहेलियों को छोडकर, जब वह विदा लेती है, तो बडा करुण दृश्य बन जाता है। यमुना भी हिमालय की पुत्री है, सागर से इसका विवाह हुआ है। यह सागर के यहाँ जा रही है, इसलिए रो रही है। बीरबल का युक्तियुक्त उत्तर सुनकर बादशाह का मन प्रसन्न हो गया।

वहाँ से छुट्टी लेकर बीरबल अपने घर जा रहा था ! लगभग एक बजे का समय था। तभी किसी वृद्ध के रुदन का करुण स्वर सुनाई दिया। बीरबल बहुत दयालु था। उसने सोचा, मै वजीरे आला हूँ। मेरे सरक्षण में कोई व्यथित इस प्रकार रोए, यह मेरे लिए शर्मनाक बात है। मुझे इस पीडित व्यक्ति की पीडा का पता लगाना चाहिये। आवाज के

सहारे बीरबल उस मकान के पास पहुँच गया, जिसमें से यह क्रन्दन का स्वर आ रहा था। वहाँ जाकर बीरबल ने देखा, एक वृद्ध आदमी फूट-फूटकर रो रहा है। सान्त्वना देते हुए बीरबल ने पूछा, बाबा! क्या बात है? इस प्रकार आधी रात को क्यों रुदन कर रहे हो? अपनी तकलीफ बताओ। आखिर तुम्हें क्या ऐसा कष्ट है?

अपने सामने बीरबल को देखकर वृद्ध कुछ सचेत हुआ, सम्हला। आंसू पोछकर अपनी व्यथा सुनाने लगा। दीवान साहब! क्या कहूँ? अघटित घट गया है। मैं बड़ा भाग्यहीन हूँ। मेरे घर का दीपक बुझ गया। मेरा पुत्र, जो बडा कुशल, योग्य तथा घर का सारा कारोबार सम्हालने वाला था, मैं तो निवृत्ति का जीवन जी रहा था, सिर्फ तीन दिन की बीमारी में मौत के मुँह में चला गया। मेरा तो सहारा ही छूट गया। अब मैं बिलकुल असहाय हूँ, व्यथित हूँ, दुःखित हूँ। जब मैं जवान था, हाथ का बड़ा कारीगर था। मेरा हाथ इतना सधा हुआ था कि चाहे जैसी वस्तु को मैं कुछ ही क्षणों में नया रूप आकार दे देता था। बड़ी कमाई थी, पर उस समय मैंने एक पैसे का भी संग्रह नही किया। जितना कमाता, खा-पीकर मौज-मस्ती में उडा देता। मैं सोचता था कि अभी मै कमा रहा हूँ, फिर लडका कमाने लगेगा, इकट्ठा करने की क्या जरूरत है। मेरा पुत्र भी ऐसा सुयोग्य निकला कि उसने मेरा सारा बोझ सम्हाल लिया। पर दीवान साहब! नियति से मेरा सुख सहन नहीं हुआ। मेरा पुत्र मुझे इस प्रकार बेसहारा छोड़कर चला गया। अब मेरे खाने के लाले पड़ने लगे हैं। कहाँ जाऊँ? किससे सहायता मागूँ?

उसकी करुण कहानी सुनकर बीरबल का दिल पिघल गया। बीरबल ने कहा—पिताजी! आप धैर्य से काम लें। काल के आगे किसी का वश नहीं चलता। यहाँ आते सारे के सारे बेचारे हो जाते हैं। यहाँ तो धैर्य से ही काम लेना पडता है, बीती बात को भूलना ही पड़ता है। आप मुझे अपना पुत्र मान लीजिए, आप बेसहारा नहीं है।

ऐसा कहकर बीरबल ने जेब में से कुछ सिक्के निकाले और वृद्ध से कहा, अभी तो आप इनसे काम चलाइये, बाद में मैं सारी व्यवस्था कर दूँगा। वह वृद्ध भी कुछ नियम-धर्म वाला था। उसने कहा, दीवान साहब मुझे दान नही चाहिए। मैं अपनी मेहनत की कमाई खाना चाहता हूँ। मुफ्त का अन्न खाना पाप है। मैं हाथ का उस्ताद हूँ, कुछ काम दीजिए। उस काम के ऐवज में जो मिलेगा, वह मुझे सहर्ष मंजूर होगा।

यह बहुत अच्छी वृत्ति है कि लोग मुफ्त का अन्न न ले, पर आज-कल तो मुफ्तखोरो की जमात खडी हो गई है। एक भोजनालय में लिखा था, एक आने की एक रोटी और दाल मुफ्त।

एक मुफ्तखोर वहाँ आकर खाना खाने बैठा। भोजनालय के मालिक ने पूछा—कितनी रोटियाँ लाऊँ ? उसने कहा, क्या लगता है ? मालिक ने कहा, एक-एक आने की एक-एक रोटी और दाल मुफ्त। आगन्तुक ने कहा, बस दाल ही ला दीजिए। मैं उसी से काम चला लूँगा, फुल्कों की जरूरत नही।

परन्तु वह वृद्ध ऐसा नही था। उसने कोई काम देने का आग्रह किया। कुछ सोचकर दीवान ने कहा, आप मिश्री का एक ऐसा हीरा बनाइये जो देखने वालों को सचमुच हीरे जैसा ही लगे। मैं आपको उसका इनाम दिलवाऊँगा। वृद्ध ने कहा, धन्यवाद ! मैं हीरा बनाकर आपकी सेवा में उपस्थित करूँगा।

बीरबल अपने स्थान पर आ गया। वृद्ध ने मिश्री का हीरा बनाने का प्रयास शुरू कर दिया। उसने चमकीले पासो वाली मिश्री का टुकडा लिया और हीरे की तरह ही उसके कोने तराशने आरम्भ कर दिए। कटिंग के बाद उस पर पॉलिश करके बखूबी हीरा तैयार कर लिया। देखने मे वह हूबहू हीरा ही मालूम पड़ता था। वृद्ध ने उसे रेशमी वस्त्र मे लपेटकर एक मखमली डिबिया में रखा। स्वय जयपुर के जौहरी का वेश बनाया। लम्बी अचकन और चूडीदार पायजामे मे सजकर, हीरे की डिबिया साथ ली और बीरबल के पास आ पहुँचा। बीरबल उसकी कारीगरी को देखकर दग रह गया। उसे देखने वाला उसकी असलियत मे सन्देह कर ही नही सकता था। बिल्कुल सच्चा हीरा लगता था, कृत्रिमता की कही कोई झलक भी नही थी।

आजकल भी कही-कही ऐसी स्थिति बन जाती है। एकबार इन्दौर में एक ऐसा ठग आया कि मिश्री का हीरा दिखलाकर उसने बड़े-बड़े जौहरियों को व्यामूढ कर दिया। एक जगह तो उसकी कीमत भी तय होने लगी, सौदा होने लगा। सामने वाली पार्टी उसे खरीदने को तैयार भी हो गई। लेकिन अचानक एक उड़ती हुई मक्खी कहीं से आई और उस हीरे पर बैठ गई। जौहरी के पिता भी जौहरी थे और वे कुछ ही दूर एक ऊँचे स्थान पर बैठे थे। उन्होंने मक्खी को मँडराते और हीरे पर बैठे देखा तो माथा ठनक गया। जवाहरात के काम में मक्खी का उपस्थित होना उन्हे अखर गया।

उन्होंने वहीं से आवाज लगाई कि बेटा ! मक्खी कैसे बैठी, गौर करना। इतना सुनते ही ठग चौका कि कहीं उसकी ठगी का भेद खुल न जाए। उसने तत्काल हीरे की डिबिया को वन्द कर दिया और कहा—मुझे तो एक बार अभी जाना होगा, वहुत जरूरी काम याद आ गया। यों वह तो वहाँ से नौ दो ग्यारह हो गया। बाद में यह बात सारे शहर में फैल गई।

अस्तु, वीरवल ने कहा—मैं अभी दीवाने-आम में जा रहा हूँ। तुम इस हीरे को लेकर वही पहुँच जाओ। वहाँ जो कुछ होगा, देख लेगे। वीरवल दरबार में चला गया। पीछे से वह वृद्ध जौहरी भी दरवार मे पहुँच गया। उसने दरवान से कहा—मै जयपुर का जौहरी हूँ, वादशाह सलामत के दर्शन चाहता हूँ। दरबान ने अर्जी अन्दर पेश की। दरवार में हाजिर होने की मजूरी मिल गई। जौहरी अन्दर आया। वादशाह ने प्रेम से पूछा, कहाँ से आए हो ? क्या लाए हो ?

जौहरी ने वडी नम्रता से कहा—जौहरी हूँ, जहापनाह ! जयपुर से से आया हूँ। आप की आशा लिए आया हूँ। एक कीमती हीरा सेवा में हाजिर है। अगर हुजूर को पसन्द आ जाए तो मेरा आना सफल हो जाए। वादशाह ने कहा—दिखलाओ। उसने वड़ी अदब से डिविया खोलकर बादशाह के सामने रख दी। वादशाह ने कहा-- हीरा बहुत वड़ा है, चमक-दमक भी अच्छी है।

वीरबल पास ही बैठा था। वादशाह ने हीरा वीरवल के आगे किया। वह वड़ा समझदार था। वड़ी सफाई से उसने कहा—अन्न-दाता ! चमक तो अच्छी है। और कैसा है, यह निर्णय तो कुशल जौहरियों मे करवायेंगे। यदि आपकी मर्जी हो तो एक वार वेगम साहिवा को दिखला दे। अगर उन्हें हीरा पसन्द आ जाए तो जौहरियों को दिखला-कर मूल्य करवा लेगे। यह वात वादशाह को जंच गई। उन्होंने हीरे को अंटी में रख लिया।

थोड़ी देर में दरवार सम्पन्न हुआ। वादशाह महल में पधारे। वादशाह का दैनिक क्रम था कि दरवार से आकर पहले स्नान करते, फिर भोजन और वाद में विश्राम। महल में आते ही वादशाह सीधे स्नानागार में चले गये। वहुत वड़ा हौज शीतल-सुगन्धित जल से भरा था। वादशाह जाकर उसमें बैठ गये। काफी समय तक वादशाह का स्नान चलता रहा। नौकर-चाकर पास खड़े थे। स्नान के साथ ही वह हीरा पानी में घुल गया। जव निवृत्त होकर वादशाह वस्त्र वदलने लगे तो धोती की अंटी से हीरा

गायव था। वादशाह चौंके, अभी नीचे से आया, तब हीरा मेरे पास था, इतनी देर में कहाँ गया। जितने नौकर चाकर वहाँ थे, उन सब की तलाशी ली गई। हीरे का कही पता नही चला। बादशाह हैरान थे। तुरन्त बीरवल को बुलाया गया। बादशाह ने कहा—बीरवल ! हीरा तो गुम हो गया। पता नही कहाँ गया, मिल नही रहा है। बीरवल को तो कोई आश्चर्य नही हुआ; पर अन्तर्भाव छिपाकर वह कुछ उदास सा हो गया और बोला हजूर ! यह आप क्या फरमाते हैं ? अभी कीमत चुकाई नही, पराई चीज का यों गायव हो जाना हमारे लिए शोभा की बात नही होगी। जौहरी को हम क्या जवाब देंगे ? उसने तो कितने विश्वास के साथ आपको हीरा सौंप दिया था ? अब उसे कहें, हीरा गुम हो गया, तो वह समझेगा अपनी नीयत ठीक नही। क्या किया जाए।

बादशाह ने कहा—बीरवल ! तेरा सोचना ठीक है। हीरा गुम होने की बात कहना हमारे लिए बहुत अपमानजनक होगा। जो एक हीरे को नही सम्हाल सकता, वह बादशाह दीन-दुनिया को क्या सम्हालेगा। अब तू ही कोई रास्ता निकाल। उ: जौहरी को क्या जवाब दें ? अवसर के जानकार बीरवल ने कहा, गरीबनवाज ! अब तो जौहरी को यही कहना ठीक होगा कि हीरा बेगम साहिबा को पसन्द आ गया है और उन्होंने रख लिया है। अब उस हीरे की जो कीमत तुम करते हो, बोल दो, मिल जायेगी। यह बात बादशाह की समझ में आ गई। भोजन विश्रामादि से निवृत्त होकर बादशाह दरबार में आये। जौहरी को बुलाया गया। बादशाह ने पूछा—जौहरी ! तेरे हीरे की कीमत क्या है ? वह हमें पसन्द आ गया, हम उसे रखेंगे, दाम तुम अपने मुह से कह दो।

जौहरी—साहब ! सच कहता हूँ, मेरा हीरा सवालाख का है।

सवालाख में इस हीरे की, कइयों ने की चाह।
पर मैं जान उदार आपको, आया यहाँ चलाय ॥
अब इच्छा हो जितना दीजे, नही होता इन्कार।
बादशाह ने दिए रुपये, एक लख तीस हजार ॥

जहाँपनाह ! सवा लाख रुपये तो इस हीरे के लिए मुझे कई दे रहे थे, पर मैं आपकी आशा में यहाँ आया हूँ। अब आपकी जो मर्जी हो, वही सिरमाथे है। मालिक के साथ दरमुलाई करना नही चाहता।

बादशाह ने सोचा—बेचारा मेरी आशा मे कहाँ से कहाँ आया है। अपने एक सचिव को हुक्म दिया कि राजकोष से एक लाख तीस हजार

रुपये इसे दे दिये जायँ। वृद्ध जौहरी तो बाग-बाग हो गया। बीरबल की सूझ-बूझ से वृद्ध को जीवन निर्वाह हेतु पर्याप्त राशि मिल गई।

इस दृष्टान्त को हम इस रूप में ले सकते हैं—

हीरा मिसरी का, है नरतन सुविशाल।
दो प्रभु चरणां गाल, करके सुगुरु दलाल॥
प्रभु भक्ति में जो यह गलेगा,
तो मुंह मांगा मोल मिलेगा,
बनोगे मालामाल॥ हीरा मिसरी का ...॥

उपमा बड़ी यथार्थ है। मिश्री के हीरे का क्या मोल होता है? लेकिन बीरबल जैसे दलाल मिल गए, इसलिए वह भारी मूल्यवान् सिद्ध हो गया। मूल्य पाने का मूल हेतु बादशाह के स्नान के पानी में घुल-मिल जाना था। यदि वहाँ यह तन्मय नहीं बनता तो कुछ भी मूल्य उठने वाला नहीं था। यह शरीर भी क्षणभंगुर है, विनश्वर है। यदि इसे प्रभु-भक्ति रूप जल में तन्मय, तद्रूप बना दिया जाए तो इसका भी मूल्य बढ़ जाता है। जिस प्रकार बीरबल जैसे दलाल मिलने से भारी मूल्य प्राप्त होता है, उसी प्रकार सद्गुरु-रूप दलाल ही वह युक्ति बतला सकते हैं, जो परमात्म-साक्षात्कार कराए, अन्यथा सन्मार्ग का, भक्तिमार्ग का पाना सरल नहीं है। यह मार्ग प्राप्त हो जाए तो इस नाशमान् शरीर से बहुत बड़ा लाभ उठाया जा सकता है। आगे कहा गया है—

हाड़ मांस की पूतली रे, शुद्ध कहो किम थाय?
भजन बिना तो बावला! तू चाहे जितरो न्हाय॥
काया कांई काम की रे॥

यह हाड़-मांस की पुतली कैसे शुद्ध हो सकती है? इसे शुद्ध करने का तो सिर्फ एक ही उपाय है—प्रभु का भजन, स्मरण, कीर्तन। उपाध्याय विनयविजयजी शान्त सुधारस में बड़े सुन्दर शब्दों में कहते हैं—

तेषां कर्मक्षयोत्थैरतनुगुणनिर्मलाऽऽत्मस्वभावैः,
"गायं गायं पुनीमः स्तवनपरिणतैरष्टवर्णास्पदानि"
—शां० सु० भा० १४/२

व्याकरण के अनुसार वर्ण-उच्चारण के आठ स्थान माने गए है। कहा गया है—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च, नासिकौष्ठौ च तालु च ॥

वर्णों का—अक्षरों का उच्चारण इन आठ स्थानो से होता है। यह संस्कृत भाषा की अनुपम विशेषता है कि किस वर्ण का उच्चारण किस स्थान से हो, इस सम्बन्ध में इसमें बडा वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। कुछ वर्ण कण्ठ से, कुछ तालु से, कुछ दाँतो से उच्चारित होते है, जैसे-अकुहविसर्गाः कण्ठ्याः, इचुयशास्तालव्याः, ऋटुरसा मूर्धन्याः इत्यादि। किन्तु विचारणीय वात यह है कि वर्ण के उच्चारण मात्र से इन स्थानों की शुद्धि नही होती। शुद्धि तो भगवान के भजन से, तन्मयता से किए गए स्मरण से होती है। नाम स्मरण पूरी देहयष्टि को पावन बनाने वाला है।

रोजीना रो खर्च है, पण नही पैसे री आय।
खाली होसी अन्त में, मत इण में शंका ल्याय ॥
काया काई काम की रे ॥

एक ऐसी थैली है, जिसमें सौ सिक्के डाले गए है प्रतिदिन एक-एक सिक्का निकाला जाय और नया न डाला जाय तो उसके खाली होने में क्या सन्देह है। निःसन्देह वह खाली होने वाली है। जितने श्वासोच्छ्वास हम लेकर आए, प्रतिदिन उनका व्यय होता जा रहा है। आखिर वह दिन भी दूर नही, जब यह श्वासोच्छ्वास की थैली खाली हो जाएगी, यह देह निष्प्राण हो जायेगी। आश्चर्य तो इस बात का है कि अज्ञानी दिन-दिन अपने को वड़ा होता हुआ मानता है। मनुष्य कहता है, मैं ग्यारह वर्ष का हो गया, इक्कीस वर्ष का हो गया, यह नही सोचता कि जीवन-थैली के इक्कीस सिक्के तो गए, खर्च हो गए। आजकल जन्म-दिन मनाने का बड़ा रिवाज चल पड़ा है। छोटे-छोटे बच्चे जन्म-दिन मनाते है, बड़े-बूढ़े षष्टिपूर्ति मनाते है। यह निरा अज्ञान है। जो प्रतिक्षण क्षीण हो रहा है, उसका क्या महोत्सव। जो समय, जो दिन शेष है, उनको कैसे सफल बनाया जाए, यह चिन्तन परम आवश्यक है। आद्य शंकराचार्य लिखते है—

नलिनीदलगतजलमतितरलं, तद्वज्जीवन-मतिशयचपलम्।
विद्धि व्याधिव्यालग्रस्तं, लोकं शोकहतं च समस्तम् ॥

—मोहमुद्गरस्तोत्र, श्लोक १२

अंजलि में लिए हुए जल की भांति जीवन प्रतिक्षण क्षीण हो रहा है। दोनों हाथों को मिलाने से जो मुद्रा बनती है, उसे अंजलि कहा जाता है। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं— "तौ युतौ पुनरंजलिः'। उस अंजलि में लिया हुआ पानी प्रतिक्षण बूंद-बूंद कर नीचे गिरता ही जाता है। उसी भांति जीवन अतिशय चपल है, चंचल है, प्रतिक्षण मिटता जा रहा है। इसलिए हमें सम्हलकर प्राप्त समय का प्रमाद रहित होकर सुन्दर उपयोग करना चाहिए।

छोटे-मोटे काम में तू लै औरां री राय।
काढ़ आतमा आपणी इण घर में लागी लाय ।।
काया कांई काम की रे ।।

संसार की रीति है कि आदमी कोई भी काम करने से पहले, नौकरी, व्यापार आदि करने से पहले अपने बड़े-बूढ़ों से, समझदार साथियों से राय लेता है। सन्त कहते हैं, तेरे घर में लाय लगी हुई है, तू आग की लपेट में आने वाला है, क्या इस विषय में तूने कभी नही सोचा ? किसी हितैषी से राय नही ली ? इस आग से बचने का उपाय सोचना आवश्यक है। उत्तराध्ययन सूत्र में मृगापुत्र और मृगारानी का संवाद बड़ा मार्मिक है। माँ को ज्ञान देता हुआ मृगापुत्र कहता है—

जहा गेहे पलित्तम्मि, तस्स गेहस्स जो पहू ।
सारभण्डाइं नीणेइ, असारं अवउज्झइ ।।

—उत्तरा-१९/२३

घर के प्रदीप्त हो जाने पर—घर में आग लग जाने पर घर का स्वामी सार-सार वस्तुओं को बाहर निकाल लेता है और असार वस्तुओं को उपेक्षित कर देता है। यदि "हांडों-कूंडों" को निकालने में बहुमूल्य वस्तुओं की उपेक्षा हो जाए तो भयंकर भूल हो जाती है। उसके लिए जीवन भर पछताना पड़ता है।

एक नगर में एक धनाढ्य सेठ रहता था। अपार सम्पत्ति पास होते हुए भी वह मन से बड़ा कृपण था। उसको देना अच्छा नही लगता था। भर्तृहरि ने कहा है—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुंक्ते, तस्य तृतीयागतिर्भवति ।।

धन की तीन गतियाँ होती है—दान, भोग और नाश। यदि प्रचुर धन पास में हो तो परोपकार के लिए दान दिया जाय। दूसरे, अपने उपयोग में आए। जो कृपण न देता है और न भोगता है, उसकी फिर तीसरी गति होती है। तीसरी गति यानी नाश। आखिर नाश तो होता ही है। जो न देने के काम आए, न भोग में आए, वह फिर किसी न किसी बहाने नष्ट तो होता ही है। संस्कृत में एक सुभाषित आता है—

कृपणेन समो दाता न भूतो न भविष्यति।

अस्पृशन्नेव वित्तानि यः परेभ्यः प्रयच्छति ॥

—प्रसंग रत्नावलि

कृपण के समान दाता-दानी न हुआ है, न होगा। जो धन का स्पर्श किये विना ही दूसरों को ज्यों का त्यों सौप देता है। जाते वक्त सारा धन यों ही छोड़ जाता है और वह धन औरों के ही हाथ लगता है।

अस्तु, हमारा मूल-प्रसंग चल रहा था कि एक वैभव सम्पन्न सेठ था। एक दिन अचानक सेठ के घर में आग भडक उठी। सात मजिली हवेली, नीचे का भूगर्भ-तलघर—सब के सब आग की अपेट मे आ गए। आग भड़कते ही सैकडों लोग आग बुझाने के लिए एकत्रित हो गए। आग एक ऐसा प्रसंग है कि जहाँ अपने पराये का भेद समाप्त हो जाता है। एक कहावत है कि घर में बच्चे का जन्म होता है तो कुछ खास सम्बन्धी ही उत्सव में सम्मिलित होते हैं। विवाह का प्रसग हो तो परिचित, मित्र, सम्बन्धी आदि कुछ अधिक लोग सम्मिलित होते है। मृत्यु का प्रसंग हो तो अपनी जाति के लोग श्मशान भूमि तक साथ जाते है। पर आग का प्रसंग ऐसा है कि उसमें जात-पॉत का भेद नही रहता। हर कौम का आदमी उसे बुझाने में यथाशक्ति सहयोग करता है। अगर उसे शान्त न किया जाय तो वह बिना भेदभाव पूरी बस्ती को अपने में समेट लेती है। गाँव के गाँव उसमें भस्म हो जाते है।

लोग सेठ की हवेली की आग बुझाने को दौड़े। आग अभी तक दर-वाजे तक नही पहुँची थी। लोगों ने कहा—सेठजी ! अभी कुछ मिनटों का समय हाथ में है जो विशिष्ट, बहुमूल्य सामान है, उसे बाहर निकालने का प्रयत्न करे। जल्दी बताइये कि कीमती सामान कहाँ-कहाँ है ? लोभी सेठ ने सवसे पहले भारी-भरकम तिजौरियाँ वाहर निकलवायी। फिर आभूपणों की पेटियाँ और सन्दूके बाहर निकलवायीं। सोने-चाँदी की शिलाएँ निकाली

गई। सेठ और सेठानी इगित कर-करके सामान निकलवा रहे थे और लोग तत्परता से निकाल रहे थे। फर्नीचर, कालीन आदि भी निकाल लिए गए इतनी देर में आग काफी जोर पकड़ चुकी थी। लोगों ने कहा—सेठजी! सिर्फ दो मिनट का समय है, आप ध्यान कीजिए, कोई विशिष्ट महत्वपूर्ण वस्तु अन्दर न रह जाए। कृपण सेठ ने काफी दिमाग दौड़ाया। प्रायः सभी कीमती वस्तुएँ निकाली जा चुकी थीं। यों तो बहुत सारा सामान अन्दर रह ही गया पर विशेष सामान बाहर आ चुका था। पूरी हवेली आग की लपटों से घिर गई। एक ऐसी भयानक भूल हुई कि—

सब कुछ काढ़ लिया है, पर एक लाल को भूल गए।
वैभव पर ध्यान दिया है, पर एक बाल को भूल गए॥

दो क्षण बाद ही सेठ को अपने छह माह के नन्हे-मुन्ने का ध्यान आया। सेठ ने सेठानी से पूछा—सेठानी ने नौकर-चाकरों से। पता चला कि वह तो हवेली की चौथी मंजिल पर पालने में सोया था। आग लगने पर सब सामान और अपनी जान बचाने में लग गए, उस बालक को एक-दम ही भूल गये।

पर एकाकी नन्द पालने में जो झूल रहा था।
भूल गया श्रेष्ठी उसको धन पर जो फूल रहा था॥
कुछ टाइम के बाद सेठ को स्मरण हुआ नन्दन का।
हा! हा! सुत को भूल गया मुख शब्द उठा क्रन्दन का॥

सेठ ने रोते हुए उस बालक को खिलाने वाले नौकर से कहा—अरे रामा! मुन्ने को क्यों नही सम्भाला? नौकर ने कहा—सेठजी! आपने साँस ही नही लेने दिया कि यह निकाल, वह निकाल। और फिर ऐसे समय में आपको भी अपना पुत्र याद नही आया, तो मुझे कैसे याद आता? सेठ बुरी तरह विलाप करने लगा। लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई। क्या बात हुई? सेठ की क्या महत्वपूर्ण वस्तु अन्दर रह गई? सेठ ने कहा—बन्धुओ! मेरा तो सब कुछ लुट गया, स्वाहा हो गया। मेरा इकलौता मुन्ना अग्नि की आहुति बन गया। यह सुनते ही लोगों ने उसे धिक्कारना शुरू किया—अरे! नीच, कृपण सेठ! जैसा तू है, वैसा ही तेरे साथ घटित हुआ। लोगों ने एक बड़ी मार्मिक बात कही—

भोग्य वस्तु पर मूर्च्छित, भोगन वाले को भूले हो।
देते है धिक्कार सभी क्या वैभव पर फूले हो ?

सुना जाता है कि यह घटना जापान की है। स्वामी रामतीर्थ उस समय वहाँ गये हुए थे और उन्होंने अपनी डायरी मे इस मार्मिक घटना को लिखा है।

लोगों ने सेठ को फटकारते हुए कहा—भोग्य वस्तुओं—स्वर्ण-रत्न, आभूषण आदि पर मूर्च्छित होकर तुम भोगने वाले को भूल गए। जिस पुत्र पर सारी आशाएँ थी, सारी सामग्री जिसके उपयोग हेतु थी, भोग्य वस्तुओं पर मोहित होकर उसे आग में से निकालना ही बिसार गए।

यह भूल उस सेठ की ही नही, सभी अज्ञानी जीवों की हो रही है। सारा संसार भोग्य के पीछे दौड़ रहा है, पर भोक्ता—आत्मा की ओर किसी का ध्यान नहीं, चिन्तन नहीं। सभी दृश्य वस्तुओं पर लुभा रहे है, पर द्रष्टा का कोई खयाल नही है। ज्ञानी-अज्ञानी के देखने-सुनने मे यही अन्तर रहता है। श्रव्य पर हम अच्छा-बुरा आरोपण कर लेते है पर श्रोता कौन है, इसका चिन्तन नही होता। जो भोग्य, श्रव्य, दृश्य आदि भौतिक पदार्थों को गौण बनाकर ज्ञाता-द्रष्टा आत्मा का ध्यान करता है, वही ज्ञानी है। वही इस भव-दावानल से अपने को बचा पाता है। अन्यथा भगवान् महावीर के शब्दों मे—

अलित्तेणं भन्ते ! लोए,
पलित्तेणं भन्ते ! लोए।

ससार आदीप्त-प्रदीप्त हो रहा है, इस जन्म-मरण की अग्नि से जल रहा है। इससे जो अपनी आत्मा को बचा ले, वही बुद्धिमान है, विवेकी है, ज्ञानी है और समयज्ञ है। कबीर का एक बडा मार्मिक भजन है—

काया ! थारी नगरी मे बोलै जको कुण है ?
बोलै जको कुण है ? देखै जको कुण है ?
काया ! थारी नगरी में बोलै जको कुण है ?
तुम ही तो तालो रामा, तुम ही तो चाबी।
जड्या पछै तालै नैं खोलै जको कुण है ?
खोलै जको कुण है, जडै जको कुण है ?

काया ! थांरी नगरी में बोलै जको कुण है ॥१॥
तुम ही तो सूत्या रामा, तुम ही तो जागो।
सोयां पछै सपनै में डोलै जको कुण है ?
डोलै जको कुण है, बोलै जको कुण है ?
काया ! थांरी नगरी में............... ....॥२॥
तुम ही तो बाग रामा, तुम ही तो माली।
काची-काची कलियाँ नै तोड़ै जको कुण है ?
तोड़ै जको कुण है, बीणै जको कुण है ?
काया ! थांरी नगरी में........ ....॥३॥
कहत "कबीर" सुणो रे भाई साधो।
बाट तराजू बिना तोलै जको कुण है ?
तोलै जको कुण है, मापै जको कुण है ?
काया ! थांरी नगरी में बोलै जको कुण है ॥४॥

इसलिए हम बोलने वाले को, जानने वाले को जानने का प्रयास करें।

सुखसीरी संसार है रे, दुःख में धर्म सहाय।
करणी आपो आपरी रे भाई जीव अकेलो जाय।
काया कांई काम की रे ॥

सारा संसार सुख का साझीदार-साथी है। दुःख में साथ कोई नही देता। बहन-बेटी, जवांई-भाई, अड़ौसी-पड़ौसी—सुख में सभी नजदीक आ जाते हैं। पर दुःख में केवल धर्म ही सहायक बनता है। जब दूसरे सारे सहारे टूट जाते हैं, तब धर्म का सहारा काम आता है।

किसी गाँव में एक हलवाई रहता था। हलवाई का हाथ बड़ा सधा हुआ था। उसकी मिठाइयाँ दूर-दूर तक प्रसिद्ध थीं। किसी-किसी का नाम होता ही है, जैसे लुधियाना में खुशीराम हलवाई की मिठाइयाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। वैसे ही उस हलवाई की प्रसिद्धि थी। कोई भी उत्सव आदि का प्रसंग होता, लोग उसी के यहाँ मिठाई का ऑर्डर बुक कराते। हल-

वाई वड़ा ईमानदार था। इसलिए उसे काम भी पर्याप्त मिलता था। गाँव के ठाकुर भी उसी से मिठाई बनवाया करते थे। एक दिन ठाकुर साहब के कुछ मुँह-लगे आदमी पास बैठे थे। चर्चा चल पड़ी हलवाई की ईमानदारी पर। एक आदमी ने कहा—इतना ईमानदार कोई आदमी नहीं होता। जरूर वह वीच में कुछ न कुछ खाता ही होगा। ठाकुर साहब ने कहा—एक दिन परीक्षा कर ली जाए। स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। दो दिन वाद ही ठाकुर साहव के यहाँ घेवर वनवाने का प्रसंग आया। अब से पूर्व जो मिठाई वनवानी होती, बिना तोले हलवाई को सामान दे दिया जाता था पर आज तो हलवाई की परीक्षा की दृष्टि से घेवर ़नवाने का सारा सामान तोलकर दिया गया। हलवाई ने घेवर वनाये। ऐसी चाशनी बैठी कि घेवर देखकर ही सामने वाले का मन ललचा जाए। उस दिन स्वयं हलवाई का भो मन हिल गया। उसने सोचा अगर आज थोडा सा चख लूँ तो क्या फर्क पड़ता है। इस बहाने घर वालो का भी मुँह मीठा हो जायेगा। घर में चार प्राणी थे—वह स्वयं, उसकी पत्नी, लड़का और बहू। हलवाई ने चार घेवर लडके के हाथों घर भिजवा दिये और कहा कि तुम लोग अपने हिस्से के खा लेना और मेरे हिस्से का रख देना। मैं रावले में सामान पहुँचाकर आ रहा हूँ, आकर भोजन करूँगा।

हलवाई का लड़का घेवर लेकर घर पहुँचा। सयोगवश उस दिन हलवाई का जवाँई आ पहुँचा। सास ने हलवाई के हिस्से के घेवर से जँवाई की खातिर कर दी।

इधर हलवाई सारा सामान लेकर रावले में पहुँचा। सामान रखा, त्यों ही अधिकारी तराजू-बाट लेकर उपस्थित हो गया। हलवाई घबरा गया। ठाकुर साहब के सामने ही घेवर तुलने लगे। हलवाई पसीना-पसीना हो गया। काँपने लगा। तोलने वाले ने कहा—तोल में दो सेर मिठाई कम उतरी है। आधा-आधा सेर के चार घेवर चुराये गये थे। ठाकुर साहव कुपित हो गये। रावले के सामान में भी तुम चोरी करते हो, तुम्हें शर्म आनी चाहिए। हलवाई ने गिड़गिड़ाते हुए कहा—ठाकुर साहव ! आज मैंने पहली बार ही चोरी की है। आज घेवरों की सुगन्ध से मेरा मन ललचा गया, वश में नही रहा। ठाकुर साहब ने आदेश दिया कि इसने चार घेवर चुराये है। प्रत्येक घेवर के बदले इसे इक्कीस-इक्कीस कौड़े लगाये जाये। हलवाई भयभ्रांत हो गया। उसने कहा—ठाकुर साहव ! मैंने तो घेवर अभी चखा ही नही है। उन घेवरों में तो मेरे पूरे परिवार का

हिस्सा है। ठाकुर साहब ने कहा—जाओ! इसके परिवार के सदस्यों को इसी समय यहाँ लेकर आओ। ठाकुर के कर्मचारी गए और जँवाई सहित परिवार के सदस्यों को पकड़ लाये। ठाकुर ने कहा—जिन-जिन ने घेवर खाये हैं, उनके इक्कीस-इक्कीस कौड़े लगेंगे। यह सुनते ही कौड़े खाने के भय से सब के सब बोले कि हमें क्या पता था कि यह माल चोरी का है। हम तो चोर नहीं है। चोरी जिसने की है, वह चोर है और सजा उसे मिलनी चाहिये। बेचारे हलवाई ने घेवर चखा भी नहीं था, पर सारी मार उसे सहनी पड़ी। इस विषय में उक्ति है—

घेवर जंवाई जीमियो, बेटा-बहू सब कोई।
काम पड्यो दरबार में, कूटाणो कन्दोई॥

इसलिए कहा गया—

सुखसीरी संसार है रे दुःख में धर्म सहाय।
करणी आपो आपरी भाई! जीव अकेलो जाय॥

भगवान महावीर ने फरमाया कि अपनी-अपनी करणी—क्रिया, पुण्य-पाप का बन्ध प्रत्येक का अलग-अलग होता है। सभी के भाव समान नहीं होते, सभी की दृष्टि समान नही होती, फिर पुण्य-पाप का बन्ध समान कैसे होगा? बन्ध के अनुसार आगे होने वाली गति एक समान कैसे होगी?

बम्बई में हमारा दूसरा चातुर्मास मणिलालभाई की चाल, घाटकोपर में हुआ। बहुत से नये-नये व्यक्ति सम्पर्क में आये। जैनेतर लोग भी बड़ी संख्या में सत्संग का लाभ लेते थे। एक बहन प्रतिदिन नियमित रूप से सत्सग में आती थी। बीच में वह कई दिन नही आई। बाद में आई तो हमने पूछ लिया कि बहन! इतने दिनो बाद कैसे आना हुआ? उसने कहा—महाराज! मैं इन दिनों एक विशेष व्रत साधना कर रही हूँ। हमने पूछा—क्या साधना चल रही है? बहन ने कहा—मैं कुछ ऐसी साधना कर रही हूँ, ऐसा क्रिया-अनुष्ठान निष्पन्न कर रही हूँ जिनसे हम पति-पत्नी दोनों हमेशा साथ-साथ रहें। हम चाहे जिस योनि मे जाएँ, पर हमारी जोडी खण्डित नहीं हो। उसकी अज्ञानपूर्ण बात सुनकर बड़ी हैरानी हुई। हमने पूछा—बहन! यह कैसे सम्भव है? क्या तुम्हारे पति की भावनाएँ भी तुम्हारे जैसी ही है? क्या वे भी जप-पाठ, क्रियाएँ करते हैं?

बहन ने कहा—नही महाराज ! वे तो धर्म-कर्म बिल्कुल मानते ही नही, पूरे नास्तिक हैं। यह तो मैं ही अपनी ओर से साधना कर रही हूँ। हमने कहा—जब उनकी और तुम्हारी भावनाएँ मेल नही खाती तो जन्म-जन्म का साथ कैसे सम्भव है ? यह तो कपोल-कल्पना है। भगवान महावीर कहते है—"**कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं**" कर्म तो कर्ता का ही अनुगमन करते हैं।

ओ झबकारो बीज रो रे, झट जासी बिललाय।
'चन्दन' औघड़ मत बनो, द्यो आलस नै छिटकाय।
काया कांई काम की रे॥

मृगापुत्र अपनी मां को बोध देता हुआ कहता है—

जीवियं चेव रूवं च बिज्जु-संपाय-चचलं ।

जीवन और रूप सौन्दर्य बिजली की कौंध के समान चंचल है। यह उपमा हमें अत्यन्त अप्रमत्तभाव से धर्म की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा देती है। बिजली का चमकना और अगले ही क्षण अदृश्य हो जाना, उसके बीच में कुछ करना कितना सावधानी का काम है।

बिजली के उस क्षणिक प्रकाश मे मोती पिरो लेना कोई सरल काम नही है। वह तो कोई अत्यधिक जागरूक हो, हाथ में मोती व धागा लिए सन्नद्ध खड़ा हो, तभी सम्भव है और कोई विरला व्यक्ति ही इसमें सफल हो सकता है। यह प्रकाश तो तत्काल अन्धकार में परिणत हो जाता है। इसलिए भगवान महावीर फरमाते है—"**समयं गोयग ! मा पमायए**"। यह बड़ी गहरी सूचना है। जैनागमो के अनुसार पलक के उन्मेष में, एक निमेष में असंख्यात समय लग जाते हैं। उन असंख्यात समयों में एक भी समय प्रमत्तता में न जाने पाए। यह बिजली के झपकने से भी सूक्ष्म समय है। साधक को तो हर समय जागरूक रहना पडता है। औघडशकर जैसा सुस्त, आलसी और बातूनी आदमी समय का सही उपयोग नही कर सकता। औघडशकर की कथा भी बड़ी मननीय है। यह सौराष्ट्र का रहने वाला था। सौराष्ट्र में ऐसे-ऐसे नाम होते है।

ब्राह्मण औघड़शंकर और उसकी पत्नी एक कुटिया में रहते थे। पूर्णिमा की रात थी। बच्चे सो चुके थे, औघडशकर सोने की तैयारी में था, पर पत्नी को नीद नहीं आ रही थी। वह बहुत चिन्तित थी। दु:खित

ब्राह्मणी ने औघड़ को कहा—आप पति कहलाने योग्य ही नहीं है। भर्ता वही कहला सकता है जो कम से कम घर के बाल-बच्चों का पेट भर सके। सारे बच्चे सुबह खाने का समय होते ही मेरा पल्ला खींचते हैं, खाने को माँगते हैं। बेचारे बच्चों को एक भी दिन भरपेट भोजन नहीं मिलता। आपको कोई चिन्ता ही नहीं है। पूरे दिन इधर-उधर बेकार घूमते रहते हैं, जहाँ कहीं बैठ जाते हैं, और इधर-उधर की व्यर्थ बातों में समय गँवा देते हैं। आपको थोड़ा खयाल करना चाहिए। कुछ कमाने की चेष्टा करनी चाहिए।

बेचारी दुखिया औरत ने पति को बहुत कुछ सुनाया पर वह तो औघड़शंकर ही ठहरा। उसको बिलकुल जोश नहीं आया। हँसते हुए बोला—आज तो तुम बहुत गर्म हो गई हो। बोलो, जो तुम कहोगी, सिर पर चढा लूँगा। मेरा काम गाँव में घूम-घूम कर आटा माँगना है। वह तो प्रतिदिन करता ही हूँ और इससे अधिक मेरे से क्या हो सकता है।

स्त्री ने कहा—अब सिर्फ आटा माँगने से काम नहीं चलेगा। परिवार काफी बढ गया है। अब आपको कोई और रास्ता खोजना होगा। कल यहाँ के राजा की स्वर्ण-जयन्ती है। बड़ा उत्सव मनाया जायेगा। सुबह-सुबह हर एक ब्राह्मण को सोने का दान दिया जाएगा। अगर समय पर वहाँ पहुँच जाएँ तो कुछ सोना आपको भी मिल सकता है।

औघडशंकर ने कहा—यह युक्ति ठीक है। मैं कल अवश्य राजमहल में जाऊँगा पर अभी तू मुझे चैन से सोने दे। यह तेरी बड़ी खराब आदत है कि मुझे सोने के समय तंग करती है। ऐसा कहकर औघड़शंकर मुँह ढककर सो गया और खुर्राटे मारने लगा। बेचारी औरत बड़ी गमगीन थी, पर क्या करती ? सूर्योदय से पूर्व औरत ने सोचा—इनको अभी जगा दूँगी तो ठीक रहेगा। ये महाआलसी आदमी वहाँ पहुँचते-पहुँचते ही बारह बजा देंगे। उसने मुँह अँधेरे ही औघड़ को जगाना शुरू किया—

झट जागो पियाजी ! पंथ लागो, लाखीणी पल मत खोवो।
मत खोवो खोली नै आँख [illegible] ...णी पल [illegible]
मत खोवो उठी नै मुख [illegible] पल [illegible]
बात चितारो रात [illegible] बीत्यो
उदयाचल नी [illegible] ओ तो [illegible]

लेकिन सुस्त औघड़शंकर ऐसे मीठे आदेश से कहाँ हिलने वाला था। लेटे-लेटे ही ऊँहूँ-ऊँहूँ करके करवटें बदलता रहा।

ऊँहूँ-ऊँहूँ करी रह्यो, पण नही मूकै सेज।
ताण्यो ताम पछेवड़ो, डाही वैरी ये थई ने सतेज रे।

औघड़ ने जब शय्या नही छोड़ी तो औरत को क्रोध आ गया। उसने ऊपर ओढ़ी हुई चादर को एकदम से खीच दिया। सूर्योदय होने वाला है, राजा के यहाँ तो दान कार्य शुरू हो गया होगा। आप हैं कि उठने का नाम भी नही ले रहे है। स्त्री की डाँट सुनकर आँख मलते हुए औघड़शकर उठा—तुम कैसी औरत हो, सारी रात मुझे नीद नही लेने दी सूर्योदय होने से क्या होता है, मैं ऐसे राजा के यहाँ थोड़ा ही चला जाऊँगा अभी तो अपना नित्यकर्म, स्नान, मजन, पूजा पाठ आदि करूँगा। फिर दान लेने जाऊँगा। स्त्री ने कहा– ये सारे काम तो होते रहेंगे। आप समय बरबाद मत कीजिए। समय पर चले जायेगे तो कुछ हाथ अवश्य लग जायेगा। औघड़ को कोई चिन्ता नही थी। वह तो सदा की तरह सुस्ती से अपने काम निपटा रहा था। बेचारी औरत बीच-बीच में टोकती रही, पर उसने कुछ नही सुना। मुश्किल से तिलक छापा लगाकर तैयार हुआ। तब तक दो घण्टे से अधिक दिन चढ चुका था। औघड़शकर घर से निकला और ढीली चाल चलते हुए जैसे-तैसे राजा की दानशाला में पहुँचा।

दानशाला में दान का समय समाप्त हो चुका था। अन्य ब्राह्मण, याचक दान-दक्षिणा ले लेकर लौट रहे थे। यद्यपि दान का कार्य सम्पन्न हो चुका था, पर राजा अभी वहीं दीवानखाने में विद्यमान था। औघड सीधे वहीं पहुँचा। अधिकारियों ने कहा—औघडशंकर ! इतने लेट कैसे हो गये ? आज तो अन्नदाता ने याचकों को बहुत कुछ दिया पर तुम लेट पहुँचे हो, अब क्या हो सकता है ? औघड़ की आँखों से आँसुओं की झडी लग गई। राजा की ओर दृष्टि कर गिडगिडाने लगा—बडी आशा लेकर आया हूँ, कुछ न कुछ तो मिलना चाहिए। मैंने अपनी तरफ से बडी जल्दी की, फिर भी कुछ देर हो गई, महाराज ! बडा दुःखी हूँ।

राजा औघडशंकर को पहचानता था। उसकी दर्द भरी याचना सुनकर उसे दया आ गई। आज हमारी स्वर्ण जयन्ती का दिन है। इतनी आशा लेकर आये हुए ब्राह्मण को खाली हाथ नहीं लौटाना चाहिए। कृपालु राजा ने कहा—ब्राह्मण ! हमारा निश्चित समय सम्पन्न हो चुका

है, फिर भी आज के दिन हम किसी को निराश लौटाना नही चाहते। तुम बड़ी आशा लेकर आये हो तो आज तुम्हें निहाल कर देगे। राजा ने अपने हाथ से एक रुक्का लिखकर कोषाध्यक्ष को आदेश दिया कि सूर्यास्त से पहले-पहले औघड़शंकर भण्डार से जो कुछ भी लेना चाहे, जितना द्रव्य लेना चाहे, ले सकता है। इसे रोका-टोका न जाय।

वहां उपस्थित अधिकारियों ने खूब बधाई दी—औघड़! तुम्हारा तो देर से आना भी वरदान सिद्ध हो गया। आज तो निहाल हो गये हो। आज तो भण्डार से जीवन भर का इन्तजाम कर लो।

औघड़शंकर तो वरदान पाकर बांसों उछलने लगा। मन में सोचा—मेरी स्त्री कितनी मूढ है। कब से जल्दी मचा रही थी। उसे पता नहीं कि देर से आने का क्या मजा है। अगर पहले आता तो यह अवसर कहा हाथ लगने वाला था। औघड़शंकर उस आज्ञा-पत्र को लेकर राज भण्डार में तो नहीं गया, सीधा अपने घर आया। घर आते ही स्त्री को आदेश दिया—

म्हांरी आज्ञा नै माथे चढा, शीरा पूरी वनाव।
वंशी आनन्द नी तू बजा, सीरा पूरी वनाव॥
साथ थोड़ा क तलना तली नाखजे।
करकरा गर्म भजिया तली नाखजे।
म्हांरा उपड्या छै खावा ना भाव, सीरा पूरी वनाव॥

ब्राह्मणी! आज से तुम्हारा भाग्य खुल गया। तुम आनन्द की वंशी वजाना। आज मेरे लिए गर्म-गर्म हलवा और पूरी वनाओ। साथ में थोड़ी गर्म पकौडियां भी वना डालो। आज मेरा हलवा खाने का वड़ा मन हो रहा है। औरत मन ही मन हैरान थी कि वह पागलों जैसी बातें कैसे करने लगे? घर में पाव भर आटा नहीं, रोटी का हिसाब नही और ये कहते है, हलवा पूरी वना। कहां से वनेगा? औघड़ ने शेखी वघारते हुए कहा—

अरी प्यारी! मने आजे, मल्यूं वरदान राजा नूं।
न कर चिन्ता नकामी तू, मल्यूं वरदान राजा नूं॥

पगली! आज मुझे राजा का वरदान मिल गया है। शाम तक मैं घर में धन का अम्बार लगा दूंगा। तू निष्कारण चिन्ता कर रही है। अब हमारे दारिद्र्य के दिन चले गये। देख, राजा का आदेश-पत्र।

राजा द्वारा प्रदत्त आदेश-पत्र देखकर स्त्री ने कहा—आप बड़े भाग्यशाली हैं, इसमें संशय नही, लेकिन पहले जाइये और इसका उपयोग कीजिए। जो कुछ लाना है ले आइये। किन्तु—

औघड़ बैठा अडी ॥
समझाया समझे नही, कहे सीरा विन न जवाय ॥
हजू अग्यार थया नथी, पट वागे सूरज जाय रे ॥
मीठू ए मंगलीक छे, तमे गाडी न समझै काय रे ॥

औघड़शंकर अड़कर बैठ गया, समझाये समझता ही नही। कहने लगा—अभी तो ग्यारह भी नही बजे। सूर्य ६ बजे अस्त होता है। सारा दिन पड़ा है। कुछ मांगलिक मिष्टान्न का भोजन कर भण्डार से धन लेने जाऊँगा। बेचारी ब्राह्मणी क्या करे। उसने सोचा—ऐसे बेसमझ आदमी के साथ बहस कर समय गँवाना ठीक नही है। आज तो इनकी हाँ में हाँ मिलाने में ही लाभ है। घर में मिष्टान्न-हलवा-पूरी बनाने की सामग्री नही थी। अवसरज्ञा ब्राह्मणी पड़ौसियों के पास जाकर घी, आटा, चीनी आदि उधार मांगकर लाई। उनको आश्वासन दिया कि शाम तक उनके पैसे या सामग्री वापस लौटा दूँगी। हलवा बनना प्रारम्भ हुआ। औघड़शंकर पैर पर पैर टिकाकर बैठ गया। घर में पकवान बनते देखकर बच्चे बड़े खुश हो रहे थे। किलकारियां मार रहे थे। स्त्री ने भोजन बनाने मे बड़ी शीघ्रता की। फिर भी इतने प्रकार की चीजे बनाने में कुछ समय तो लग ही गया। भोजन तैयार हो गया तो स्त्री ने कहा—अब आप शीघ्रता से भोजन करके धन लाने के लिए जाइये।

औघड़ ने कहा—भोजन में शीघ्रता नही करनी चाहिए। भोजन तो कम से कम शान्ति से होना चाहिए। वह एक-एक ग्रास बड़ा रस ले लेकर, चटखारे लगा-लगा कर ले रहा है, साथ-साथ बाते किए जा रहा है। आज तक जीवन में कभी ऐसा भोजन किया नही है। अब रोज-रोज ऐसा ही भोजन मिला करेगा। आखिर झुझलाकर स्त्री ने कहा—आप बाते वापस आकर करना, अभी विलम्ब करना ठीक नहीं। ढाई बजने वाले है और मूल कार्य तो अभी हुआ ही नही। भण्डार जाना है, वहा से सम्पत्ति प्राप्त करनी है, जरा शीघ्रता कीजिए। औघड ने कहा—भोजनोपरान्त कुछ आराम करना चाहिए। खाना खाते ही दौडना तो मौत को निमन्त्रण देना है। अभी धूप भी बहुत तेज है। ऐसे में बाहर निकलना बड़ा कठिन है।

ऐसा कहकर औघड़शंकर लेट गया। भारी शरीर था, गरिष्ठभोजन किया था। लेटते ही नींद ने घेरा डाल लिया। स्त्री का दिल छोटा हो रहा है, पर करे क्या। औघड़ तो निश्चिन्त भाव से सोया है, बेचारी स्त्री बार-बार उसे जगाती है पर वह तो उठने का नाम ही नहीं लेता। आखिर चार बज गये।

चार वाग्या, चार वाग्या, चार वाग्या जी।
खींचातानी करतां औघड़ भाई जाग्या जी।
मोढूं धोई, कागल लइ नै थया रवाना जी।
आवी नै बाजार में, औघड़ रोकाणा जी।
खेमाशाह नी हाटे जइ नै, कहवा लाग्या जी।

बड़ी कठिनाई से उठकर औघड़ ने मुँह धोया। आदेश-पत्र लेकर घर से रवाना हुआ। मार्ग में बाजार पड़ता था। खेमाशाह की गल्ले की दूकान थी। औघड़शंकर सीधे दूकान पर आ बैठा और आदेश दिया—खेमचन्द सेठ! हमारे घर इतना सामान पहुँचा देना, हम तुम्हें सूची लिखवा देते हैं—खंडवे के बढ़िया गेहूँ की दस बोरियां, जम्बूसरी चना की चार बोरियां, देहरादूनी चावलों की बारह बोरियां, तुअर की दाल की एक बोरी, दस मन चीनी और जाफराबादी घी के दस पीपे। सामान सीधा घर पहुँचा देना, पैसे का विचार मत करना, दाम तुरन्त मिल जायेंगे। खेमचन्द सेठ औघड़शंकर की बातों पर हँसने लगा। आज बात क्या है? ब्राह्मण देवता उल्लास से छलके पड़ते है। एक साथ इतनी चीजों का ऑर्डर दे रहे हैं, क्या कहीं से धन बरस गया है? औघड़शंकर ने कहा—क्या तुम्हें अब तक पता ही नहीं चला? आज मुझे राजा का भारी वरदान मिला है, मेरे तो तकदीर खुल गये हैं। रुक्का देखकर खेमचन्द सेठ ने कहा—पौने पांच बजने वाले हैं और आप अभी तक यहीं बैठे हैं। पहले भण्डार से जो कुछ पाना हो, प्राप्त कर लीजिए। फिर आप जैसा चाहेंगे, वैसा माल मैं आपके वहाँ भिजवा दूंगा।

महाराज! तमे वातां मां, मत वक्त विताओ जी।
वाग्या छै पौणा पांच, रखे सर्वस्व गुमावो जी।
खेमा भाई ना कहवा थी, औघड़ जी उपड्या,
मल्या मोती कापड़िया, पूछ्युं क्यां जाओ जी?

खेमचन्द सेठ से प्रेरणा पाकर औघड़ वहां से कुछ आगे बढ़ा। संयोग से मोतीचन्द बजाज मार्ग में मिल गया। सेठ मोतीचन्द ने पूछ लिया—आज तो बड़े खुश दिखाई देते हैं ब्राह्मण देवता ! क्या बात है ? बस पूछने की देर थी, औघड़ उसके साथ उसकी दूकान पर जा बैठा। बताने लगा कि आज राजा का वरदान मिला है, इसलिए मुझे कुछ कपड़ों की खरीद करनी है। आप नोट कर लीजिए और इतना कपड़ा घर पर किसी के हाथ भिजवा दीजिए। सामान का ब्यौरा बताने लगा—सौ बढ़िया धोती जोड़े, मलमल के थान ९, नैनक्लाथ के थान ९, नए फैशन की साडियां ९१, आगे जैसी जरूरत होगी, खरीदते रहेंगे। सेठ मोतीचन्द ने मुस्कराकर पूछा—दाम कहां हैं ? औघड ने आदेश पत्र दिखलाया और कहा—शाम तक मैं मालामाल हो जाऊँगा। थोड़ी देर बाद मेरे पास दाम ही दाम होंगे। बस, अभी लेने ही जा रहा हूँ। सेठ मोतीचन्द ने शिक्षा देते हुए कहा—

ओ भाई तमे कापड़नी बात पड़ी मूको।
कापड़ लेवासे पछी पैसा लइ आवो पहला।
वाग्या छै पांच हवै दौड़ीनै जावो वहला।
हाथे आवेलो चांस रखे चूको॥

पांच बज चुके हैं। हाथ में पैसा आ गया तो कपड़ा तो फिर खूब मिल जाएगा, इसलिए इस अवसर को मत चूको। सेठ से प्रेरणा पाकर औघड़ कुछ आगे बढ़ा। विधिवश सुन्दर भाई सर्राफ सामने मिल गया। औघड़शंकर ने सोने के भारी-भारी आभूषणों की मांग कर डाली। सुन्दर भाई ने कहा—साढ़े पांच बज गए हैं। जल्दी भण्डार में पहुँचो, फिर जो चाहो हम से ले लेना। औघड़शंकर कुछ आगे बढा। खुदा-न-खास्ता जीवन भाई जवेरी सामने मिल गया। वहा भी उसने हीरों के हार, मोतियों व पन्नों के कण्ठों की मांग की। जीवनभाई ने कहा—अब समय कहां है ? सूर्यास्त तो होने वाला है, पहले वरदान को सार्थक बनाओ। औघड़ वहां से चला और माधवजी मोची मिल गया। औघड़ ने कई प्रकार के जूतों व चप्पलों की फरमाइश की।

इस प्रकार भटकते, जूतियां घिसते, ढीली चाल से चलते औघडशंकर राजा के भण्डारगृह में पहुँचा। देखा तो भण्डार के दरवाजे बन्द हो चुके थे। नियमानुसार सूर्यास्त होते ही भण्डारगृह बन्द हो जाता था। कोषाध्यक्ष

चले जाते थे। भण्डार के कर्मचारी ताले लगाकर नीचे उतर रहे थे कि दौड़ता-हांफता औघड़ वहां पहुँचा और राजा द्वारा लिखित आदेश पत्र दिखलाया।

कर्मचारी हँसने लगे। इतनी देर आप कहां थे ? इसमें जितना समय लिखा था, वह पूर्ण हो चुका है और अव हम कुछ भी देने में असमर्थ हैं। औघड़शंकर ने वड़े हाथ-पांव जोड़े, आजिजी, मिन्नतें कीं पर वे तो टस से मस नहीं हुए। उन्होंने कहा—ब्राह्मण ! समय की वात समय पर ही होनी चाहिए। अव यह पर्चा फलप्रद नहीं है। आखिर आंसू वहाता औघड़शंकर खाली हाथ घर लौट आया।

इधर स्त्री उसकी प्रतीक्षा कर रही थी कि आज तो पता नहीं कितना कीमती सामान वहुमूल्य जेवर, मुहरें, सिक्के आदि लेकर आयेगे। दूर से उदास औघड को अकेले आते देखकर वह परेशान हो उठी कि खाली हाथ ही लौट आये, आखिर जैसी आशंका थी, वैसा ही हुआ, समय हाथ में आया और निकल गया। रोनी सूरत वनाकर औघड़शंकर ने कहा—क्या करूँ, मैं थोड़े से विलम्व से पहुँचा। सूर्यास्त होते ही भण्डार वन्द हो गया। मुझे कुछ भी प्राप्त न हो सका।

यह है औघड़शंकर का उदाहरण। इसका रहस्य है कि गुरुदेव ने कृपा कर धर्म के खजाने खोल दिये है। मृत्यु से पहले-पहले हम चाहे जितना लाभ ले सकते हैं। क्षमा, दया, प्रेम, शील, परोपकार आदि द्वारा अनेक उत्तम कार्य साधे जा सकते हैं, किन्तु संसार की माया में फँसे अज्ञानी जीव वड़ी-वड़ी आशाओं के महल वनाने में लगे रहते है और अन्त में काल-कवलित हो जाते हैं।

जो धर्म का खुला खजाना पड़ा है, उसका जरा भी लाभ नहीं उठा पाते। फिर चार गतियों में चक्कर काटने के लिए चल पड़ते हैं। इसलिए कहा गया—

"चन्दन" औघड़ मत वणो, द्यो आलस नै छिटकाय।



☐ सन्तो के प्रवचन में एक असाधारण प्रभावकता होती है। वह अनेक गुणित हो जाती है यदि उसमें सगीत का समन्वय हो जाय।

विद्वद्वर श्री चन्दन मुनि के अन्तर हृदय में उच्छ्वसित भाव, सहज-स्फुरितवाणी में सगीत के स्वरो के साथ जब थिरकते है तो एक ऐसी अद्भुत तन्मयता छा जाती है, जहाँ बहिर्जगत् लगभग विस्मृत हो जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक में मुनिश्री के ऐसे ही प्रवचनो का एक सकलन है, जिसमें धर्म, सदाचार, नीति, सन्तोष, सत्य, सद्व्यवहार, शील, सौजन्य, करुणा प्रेम, सौहार्द, मैत्री, विश्व वात्सल्य, सहयोग, सेवा जैसे जीवन-स्पर्शी विषयो का सरल सुगम हृदयग्राही शब्दों द्वारा विवेचन–विश्लेषण है। सगीत की लयात्मक लहरो पर थिरकते भावो का निनाद श्रोताओं के कर्ण-कुहरों द्वारा उनके अन्तर्मानस को सहसा झकझोर डालता है, भाव-विभोर हो जाते है।